महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)
Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya
(A Central University Established by Parliament by Act No. 3 of 1997)
नैक द्वारा 'A' ग्रेड प्राप्त / Accredited with 'A' Grade by NAAC

हिन्दी नाटक एवं रंगमंच

एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
द्वितीय सेमेस्टर
द्वितीय पाठ्यचर्या (अनिवार्य)
पाठ्यचर्या कोड : MAHD – 08

दूर शिक्षा निदेशालय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट – हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा – 442001 (महाराष्ट्र)

2

हिन्दी नाटक एवं रंगमंच

प्रधान सम्पादक

प्रो० गिरीश्वर मिश्र
कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक

प्रो० अरबिन्द कुमार झा
निदेशक, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास
अनुसंधान अधिकारीएवं पाठ्यक्रम संयोजक– एम. ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
दूर शिक्षानिदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक मण्डल

प्रो० आनन्द वर्धन शर्मा
प्रतिकुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो० कृष्ण कुमार सिंह
विभागाध्यक्ष, हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग एवंअधिष्ठाता, साहित्य विद्यापीठ
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो० अरुण कुमार त्रिपाठी
प्रोफेसर एडजंक्ट, जनसंचार विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास

प्रकाशक

कुलसचिव, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा, महाराष्ट्र, पिन कोड : 442001

© महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रथम संस्करण : सितंबर 2017

पाठ-रचना

डॉ॰ मीनेश जैन
असिस्टेंट प्रोफेसर
संस्कृत विभाग, सनराइज़ विश्वविद्यालय, अलवर, राजस्थान

खण्ड – 1 : इकाई – 1, 2 एवं 5
खण्ड – 2 : इकाई – 4

डॉ॰ गोविन्द स्वरूप गुप्त
अवकाश प्राप्त प्राध्यापक
भाषाविज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, उत्तरप्रदेश

खण्ड – 2 : इकाई – 1, 2 एवं 3
खण्ड – 4 : इकाई – 3 एवं 5

प्रो॰ सरजू प्रसाद मिश्र
पूर्व अध्यक्ष एवं प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर, महाराष्ट्र

खण्ड – 3 : इकाई – 1, 2, 3 एवं 4
खण्ड – 5 : इकाई – 1, 2, 3 एवं 4

पुरन्दरदास

खण्ड – 1 : इकाई – 3 एवं 4
खण्ड – 4 : इकाई – 1, 2 एवं 4

पाठ्यक्रम परिकल्पना, संरचना एवं संयोजन
आवरण, रेखांकन, पेज डिज़ाइनिंग, कम्पोज़िंग ले-आउट एवं प्रूफ़रीडिंग

पुरन्दरदास

कार्यालयीय सहयोग

श्री विनोद रमेशचंद्र वैद्य
सहायक कुलसचिव, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पहला प्रूफ़

सुश्री मेघा दिलीप आचार्य
प्रूफ रीडर, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

टंकण कार्य सहयोग (खण्ड – 3 एवं 5)

सुश्री राधा सुरेश ठाकरे
दूरशिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

आवरण पृष्ठ पर संयुत विश्वविद्यालय के वर्धा परिसर स्थित गांधी हिल स्थल का छायाचित्र डॉ० सुरजीत कुमार सिंह सहायक प्रोफेसर एवं प्रभारी निदेशक, डॉ० भदन्त आनन्द कौसल्यायन बौद्ध अध्ययन केन्द्र, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा से साभार प्राप्त

http://hindivishwa.org/distance/contentdtl.aspx?category=3&cgid=77&csgid=65

- यह पाठ्यसामग्री दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा संचालित एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम में प्रवेशित विद्यार्थियों के अध्ययनार्थ उपलब्ध करायी जाती है।
- इस कृति का कोई भी अंश लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
- पाठ में विश्लेषित तथ्य एवं अभिव्यक्त विचार पाठ-लेखक के अध्ययन एवं ज्ञान पर आधारित हैं। पाठ्यक्रम संयोजक, सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक का उससे सहमत होना आवश्यक नहीं है।
- इस पुस्तक को यथासम्भव त्रुटिहीन एवं अद्यतन रूप से प्रकाशित करने के सभी प्रयास किए गए हैं तथापि संयोगवश यदि इसमें कोई कमी अथवा त्रुटि रहगई हो तो उससे कारित क्षति अथवा संताप के लिए पाठ-लेखक, पाठ्यक्रम संयोजक, सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक का कोई दायित्व नहीं होगा।
- किसी भी परिवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र वर्धा, महाराष्ट्र ही होगा।

पाठ्यचर्या विवरण

द्वितीय सेमेस्टर
द्वितीय पाठ्यचर्या (अनिवार्य)
पाठ्यचर्या कोड : MAHD – 08
पाठ्यचर्या का शीर्षक : हिन्दी नाटक एवं रंगमंच

क्रेडिट – 04

खण्ड – 1 : हिन्दी नाटक साहित्य

- इकाई – 1 : नाटक का स्वरूप, नाटक के तत्त्व, नाटक के प्रकार
- इकाई – 2 : नाटक का उद्भव एवं विकास : भारतेन्दु-पूर्व युग, भारतेन्दु युग, संक्रान्ति युग, अनूदित नाटक, प्रसादयुगीन नाटक, प्रसादोत्तर नाटक, समकालीन नाटककार, महिला नाटककार
- इकाई – 3 : एकांकी नाटक का स्वरूप और क्रमिक विकास
- इकाई – 4 : गीतिनाट्य : स्वरूप और परम्परा, प्रमुख गीतिनाट्य
- इकाई – 5 : नुक्कड़ नाटक : स्वरूप, सम्प्रेषण की तीव्रता, प्रमुख नुक्कड़ नाटक

खण्ड – 2 : रंगमंच : एक प्रदर्शनकारी कला

- इकाई – 1 : रंगमंच की परिकल्पना, व्याख्या, प्रकृति तथा स्वरूप : परिचयात्मक पाठ
- इकाई – 2 : प्रदर्शन की विविध इकाइयाँ : मंचन, प्रदर्शन, प्रस्तुति आदि
- इकाई – 3 : नाट्य-लेखन की समीक्षा
- इकाई – 4 : भरत के नाट्यशास्त्र में वर्णित अभिनय

खण्ड – 3 : अन्धेर नगरी

- इकाई – 1 : 'अन्धेर नगरी' में व्यंग्य-विधान
- इकाई – 2 : 'अन्धेर नगरी' की प्रासंगिकता
- इकाई – 3 : रंगमंच की दृष्टि से 'अन्धेर नगरी'
- इकाई – 4 : 'अन्धेर नगरी' का भाषा-शिल्प

खण्ड – 4 : चन्द्रगुप्त

- इकाई – 1 : प्रसाद की नाट्य-कला और 'चन्द्रगुप्त' नाटक
- इकाई – 2 : 'चन्द्रगुप्त' नाटक में अभिव्यक्त सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना
- इकाई – 3 : 'चन्द्रगुप्त' नाटक में 'अन्तर्द्वन्द्व' का महत्त्व
- इकाई – 4 : 'चन्द्रगुप्त' नाटक की पात्र-संयोजना एवं प्रमुखपात्रों का चारित्रिक वैशिष्ट्य
- इकाई – 5 : 'चन्द्रगुप्त' नाटक का भाषा-शिल्प

खण्ड – 5 : अन्धा युग

इकाई – 1 : मिथकीय आख्यान का पुनर्सृजन

इकाई – 2 : 'अन्धा युग' में चरित्र-सृष्टि

इकाई – 3 : नाट्य-शिल्प, प्रयोगधर्मिता और नाट्यभाषा की दृष्टि से नाटक का वैशिष्ट्य

इकाई – 4 : शीर्षक की सार्थकता एवं 'अन्धा युग' का प्रतिपाद्य

निर्धारित पाठ्य कृतियाँ :

1. अन्धेर नगरी चौपट्ट राजा – भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
2. चन्द्रगुप्त – जयशंकर 'प्रसाद' (चयनित अंश)
3. अन्धा युग – धर्मवीर भारती (चौथा अंक – गान्धारी का शाप)

सहायक पुस्तकें :

01. अन्धा युग : एक विवेचन, कृष्णदेव शर्मा, माया अग्रवाल, अनीता प्रकाशन, दिल्ली
02. अन्धा युग : पाठ और प्रदर्शन, जयदेव तनेजा, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
03. आधुनिककालीन भारतीय नाट्य-विमर्श, जयदेव तनेजा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली
04. आधुनिक हिन्दी नाटक एवं रंगमंच, नेमीचन्द्र जैन, मेकमिलन, नयी दिल्ली
05. इन्दरसभा की परम्परा, मो. शाहिद हुसैन, सीमान्त प्रकाशन, नयी दिल्ली
06. चन्द्रगुप्त : एक मूल्यांकन, राजनाथ शर्मा, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
07. जयशंकर प्रसाद, नन्ददुलारे वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
08. जयशंकर प्रसाद और चन्द्रगुप्त, गिरीश रस्तोगी, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद
09. जयशंकर प्रसाद के सम्पूर्ण नाटक तथा सम्पूर्ण निबन्ध, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
10. जयशंकर प्रसाद-कृत नाटक चन्द्रगुप्त : एक विवेचन, कृष्णदेव शर्मा, माया अग्रवाल, अनीता प्रकाशन, दिल्ली
11. जयशंकर प्रसाद : रंगदृष्टि, महेश आनन्द, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
12. दूसरे नाट्यशास्त्र की खोज, देवेन्द्रराज अंकुर, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
13. दृश्य-अदृश्य, नेमिचन्द्र जैन, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
14. नाट्यदर्पण, मोहन राकेश, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
15. नाट्य प्रस्तुति : एक परिचय, रमेश राजहंस, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली
16. नाट्यशास्त्र, रेवताप्रसाद द्विवेदी, भारतीय उच्च अध्ययन, शिमला
17. नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक, हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
18. नाटक, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
19. नाटककार जयशंकर प्रसाद, सं. : सत्येन्द्र कुमार तनेजा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली
20. नाटककार भारतेन्दु की रंग-परिकल्पना, सं. : सत्येन्द्र कुमार तनेजा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली

21. प्रसाद और उनका साहित्य, विनोदशंकर व्यास, हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी
22. प्रसाद : नाट्य और रंगशिल्प, गोविन्द चातक
23. प्रसाद के नाटक, सिद्धनाथ कुमार, अनुपम प्रकाशन, पटना
24. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
25. परम्पराशील नाट्य, जगदीशचन्द्र माथुर, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
26. बीसवीं शताब्दी का हिन्दी नाटक और रंगमंच, गिरीश रस्तोगी, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली
27. भरत एवं भारतीय नाट्यकला, सुरेन्द्रनाथ दीक्षित, मोतीलाल बनारसीदास, नयी दिल्ली
28. भारतीय रंगमंच, आद्यरंगाचार्य
29. भारतेन्दु और अँधेर नगरी, गिरीश रस्तोगी, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद
30. हमारी नाट्य-परम्परा, श्रीकृष्णदास
31. हिन्दी नाटक, बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली
32. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, अशोक कुमार गुप्ता, मनोज कुमार गुप्ता, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर
33. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, दशरथ ओझा, राजपाल एण्ड सन्स, नयी दिल्ली
34. हिन्दी नाटक और रंगमंच, सं. : रामकुमार वर्मा, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
35. हिन्दी नाटक एवं रंगमंच, सं. : नेमिचन्द्र जैन, मैकमिलन प्रकाशन, नयी दिल्ली
36. हिन्दी नाटक का आत्मसंघर्ष, गिरीश रस्तोगी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

पाठानुक्रमणिका

क्र.सं.	खण्ड	इकाई	पृष्ठ क्रमांक
01.	खण्ड – 1	इकाई – 1	09 – 25
02.	खण्ड – 1	इकाई – 2	26 – 38
03.	खण्ड – 1	इकाई – 3	39 – 49
04.	खण्ड – 1	इकाई – 4	50 – 60
05.	खण्ड – 1	इकाई – 5	61 – 70
06.	खण्ड – 2	इकाई – 1	71 – 82
07.	खण्ड – 2	इकाई – 2	83 – 95
08.	खण्ड – 2	इकाई – 3	96 – 108
09.	खण्ड – 2	इकाई – 4	109 – 125
10.	खण्ड – 3	इकाई – 1	126 – 137
11.	खण्ड – 3	इकाई – 2	138 – 147
12.	खण्ड – 3	इकाई – 3	148 – 159
13.	खण्ड – 3	इकाई – 4	160 – 173
14.	खण्ड – 4	इकाई – 1	174 – 185
15.	खण्ड – 4	इकाई – 2	186 – 197
16.	खण्ड – 4	इकाई – 3	198 – 208
17.	खण्ड – 4	इकाई – 4	209 – 220
18.	खण्ड – 4	इकाई – 5	221 – 231
19.	खण्ड – 5	इकाई – 1	232 – 247
20.	खण्ड – 5	इकाई – 2	248 – 267
21.	खण्ड – 5	इकाई – 3	268 – 282
22.	खण्ड – 5	इकाई – 4	283 – 298

खण्ड – 1 : हिन्दी नाटक साहित्य

इकाई – 1 : नाटक का स्वरूप, नाटक के तत्त्व, नाटक के प्रकार

इकाई की रूपरेखा

1.1.0. उद्देश्य कथन
1.1.1. प्रस्तावना
1.1.2. नाटक का स्वरूप
1.1.3. नाटक के तत्त्व
1.1.3.1. कथावस्तु
1.1.3.1.1. लोक वृत्त के आधार पर कथावस्तु के तीन भेद
1.1.3.1.2. अभिनय की दृष्टि से कथावस्तु का विभाजन
1.1.3.1.3. नाट्यधर्म (नाटकीय संवाद) की दृष्टि से वस्तु-विभाजन
1.1.3.1.4. वस्तुयोजना की दृष्टि से कथावस्तु का विभाजन
1.1.3.2. नेता
1.1.3.3. अभिनय
1.1.3.4. रस
1.1.4. नाटक के प्रकार
1.1.5. पाठ-सार
1.1.6. बोध प्रश्न
1.1.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1.1.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. नाटक के स्वरूप, अर्थ व परिभाषाओं से परिचित हो सकेंगे।
ii. नाटक के विभिन्न तत्त्वों के बारे में चर्चा कर सकेंगे।
iii. नाटक के प्रकार बता सकेंगे।

1.1.1. प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य ज्ञान की विविध धाराओं का अजस्र स्रोत है। इसमें गद्य, पद्य व चम्पू का समावेश है। वैसे तो काव्य के दो प्रमुख भेद हैं – (i) दृश्य काव्य एवं (ii) श्रव्य काव्य। नाटक दृश्य काव्य के अन्तर्गत आता है। प्राचीनकाल से ही यह विकसित एवं समृद्ध विधा की श्रेणी में रहा है। संस्कृत साहित्य में नाटक के महत्त्व को बड़े बेबाकी से पहचाना गया है इसीलिए कहा भी गया है – "काव्येषु नाटकं रम्यम्" अर्थात् काव्य-भेदों में नाटक

सर्वाधिक रमणीय एवं लोकप्रिय विधा है। इसकी लोकप्रियता का अंदाज़ा इसी बात से लगाया जाता है कि प्राचीन सभ्यता वाले देशों यूनान एवं भारत में नाटक का विकास सदियों पहले हो गया था। नाटक को पंचम वेद कहा गया है। यह लोकहित के लिए है। यह सत्य है कि यह श्रव्य काव्य भी है और दृश्य काव्य भी। इसे सुना भी जा सकता है और देखा भी जा सकता है। बाबू गुलाब राय ने लिखा है– "नाटक में सभी कलाओं का समावेश होता है। इसमें साहित्य, चित्रकला, संगीत, नृत्य, काव्य, इतिहास, समाजशास्त्र, वेशभूषा की सजावट, कपड़ों का रंगना आदि सभी शास्त्रों और कलाओं का आश्रय लिया जाता है।" (– काव्य के रूप, गुलाबराय, पृ. 22)

1.1.2. नाटक का स्वरूप

हिन्दी साहित्य का नाटक शब्द संस्कृत में रूपक और पाश्चात्य साहित्य में ड्रामा (Drama) शब्द का पर्याय है। रूपक शब्द का व्यापक अर्थ है जिसमें काव्य के सभी भेद-उपभेद समेकित हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में नाटक का सर्वप्रथम विवेचन आचार्य भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' नामक ग्रन्थ में मिलता है। भरतमुनि के अनुसार 'नाट्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'नट' धातु से हुई है। पाश्चात्य विद्वान् 'नट' शब्द को 'नृत' धातु से उत्पन्न विकारी शब्द मानते हैं। कई विद्वान् 'नृत' धातु और 'नृत्य' शब्द में भी अन्तर मानते हैं। हमें नाटक शब्द की व्युत्पत्ति 'नृत' धातु के आधार पर ही माननी चाहिए।

नाटक की उत्पत्ति के सूत्र हमें ऋग्वेद में मिलते हैं। भरतमुनि ने इस विषय में लिखा है – "जग्राह पाठं ऋग्वेदात्।" भरतमुनि ने ही सर्वप्रथम नाटक के बारे में विस्तार से विचार किया है। उन्होंने अपनी रचना 'नाट्यशास्त्र' में लिखा है – "जिसमें स्वभाव से ही लोक का सुख-दुःख समन्वित होता है तथा अंगों आदि के द्वारा अभिनय किया जाता है, उसी को नाटक कहते हैं।" इसे और भी साधारण शब्दों में समझा जाए तो नाटक वह विधा है जिसके माध्यम से मनुष्य अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार अपने भावों विचारों को दूसरों तक पहुँचाए। इसके लिए मनुष्य साधारणतम शब्दों का प्रयोग करता है। इसके अतिरिक्त कभी इंगित से तथा कभी नृत्य-गीत आदि के द्वारा वह अपने भाव प्रकट करता है। मनोरंजनार्थ दूसरे का अनुकरण करता है। इसी से धनञ्जय ने दशरूपक में अनुकरण को ही नाट्य का मूल माना है – "अवस्थानुकृतिनाट्यम् रूपकं तत्समारोपात्।" इस अनुकरण को जब कथनोपकथन या वार्तालाप, संगीत, नृत्य, वेशभूषा एवं भावभंगी आदि से समन्वित कर देते हैं तथा उसे नाट्य का रूप दे देते हैं, तभी नाटक का प्रारम्भ हो जाता है।

नाट्य-नट का भाव या कर्म नाट्य कहलाता है। वही कर्म होता है। नायक की उदात्त आदि अवस्थाओं का अनुकरण अथवा अभिनय कौशल के द्वारा नट का अनुकर्म (राम आदि) के साथ तादात्म्य (नट में यह राम है) इस प्रकार की एकरूपता प्राप्त करता है। वही काव्य अभिनय के योग्य होता है तथा नाट्य या रूपक कहलाता है।

"रूपक तत्समारोपात्" अर्थात् आरोप किया जाने के कारण वह (तत्) नाट्य 'रूपक' कहलाता है। जिस प्रकार मुख में चन्द्रमा का आरोप किया जाने के कारण 'मुखचन्द्र' में रूपक (अलंकार) कहलाता है उसी प्रकार नट में राम आदि अवस्था 'रूप' का आरोप होने के कारण नाट्य को भी 'रूपक' कहते हैं। जिन काव्यों का रंगमंच पर

अभिनय किया जा सकता है, वे दृश्य काव्य कहलाते हैं। ये दृश्य काव्य दो प्रकार के होते हैं – (1) रूपक और (2) उपरूपक। रूपक को रस भाव आदि का आश्रय माना गया है। (– दशरूपक 1.7)

आचार्य महिम भट्ट ने नाटक के लिए लिखा है – "जब काव्य को गीतादि से रंजित करके अभिनेताओं द्वारा प्रदर्शित किया जाता है तो वह नाटक का रूप धारण कर लेता है।"

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार "नाटक वह दृश्य काव्य है जो प्रत्यक्ष, कल्पना एवं अध्यवसाय का विषय बनकर सत्य एवं असत्य से समन्वित विलक्षण रूप धारण करके सर्वसाधारण को आनन्दोपलब्धि प्रदान करती है।"

आचार्य भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में नाटकों की विशेषता का उल्लेख करते हुए कहा है कि – "नाटक में ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, नवीन योजना, क्रिया-कुशलता आदि का समन्वय रहता है अतएव नाटकों का महत्त्व श्रव्य काव्य की अपेक्षा बहुत अधिक है।"

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येस्मिन यत्र दृश्यते॥

(– नाट्यशास्त्र 1-116)

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने अपनी कृति में नाटक पर विस्तृत विचार किया है। उन्होंने लिखा है कि "नाटक का कथ्य प्रसिद्ध होना चाहिए। उसमें पाँच सन्धियों का समन्वय हो; साथ ही विलास समृद्धि, ऐश्वर्य आदि गुणों का वर्णन होना चाहिए। विभिन्न रसों से अनवरत सुख-दुःख की उत्पत्ति हो। नाटक में पाँच से लेकर दस तक अंक हों।" नाटक वह रचना है, जिसकी कथावस्तु प्रख्यात हो अर्थात् रामायण सदृश इतिहास प्रसिद्ध हो, जिसमें पौराणिक एवं ऐतिहासिक राजचरित का वर्णन हो, जो धर्म, काम एवं अर्थ का फलदाता हो, जिसमें आठ अंक हों, जो पंच अर्थ, प्रकृति, दशा आदि अवस्थाओं से समन्वित हो, जो धर्म, काम एवं अर्थ का फलदाता हो और जो मनोरम दृश्य काव्य साधारण को आनन्द की उपलब्धि करता हो।" (संस्कृत साहित्य का इतिहास, डॉ॰ प्रीतिप्रभा गोयल, पृ. 48)

पाश्चात्य विद्वानों ने नाटक को जीवन का अनुकरण स्वीकार किया है। अरस्तू के मतानुसार "Tragedy is primarily imitation of action." सिसरो के मतानुसार "Drama is a copy of list a mirror of custom, a reflection of truth." विक्टर ह्यूगो के मतानुसार "Drama is a mirror in whichnature isreflected."

1.1.3. नाटक के तत्त्व

साहित्याचार्यों के अनुसार काव्य के दो प्रकार होते हैं – (i) दृश्य और (ii) श्रव्य। दृश्य काव्यों के लिए 'नाट्य' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। इस शब्द का प्रयोग नाट्यकला के अर्थ में भी होता है। दृश्य काव्य के ये भेद एवं उपभेद वस्तु, नेता तथा रस के आधार पर किए गए हैं –

अष्टादश प्राहुरूपकाणि मनीषिणः ।
विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम्॥

(– साहित्यदर्पण, 6.6)

प्रत्येक रूपक या उपरूपक के लिए ये तीनों अनिवार्य हैं । अर्थात् भारतीय नाट्यशास्त्र की दृष्टि से दृश्यकाव्य के तीन तत्त्व है – (i) वस्तु, (ii) नेता तथा (iii) रस ।

"वस्तु नेता रसस्तेषा भेदकाः ।"

(– दशरूपक, 1.11)

इसके विपरीत आधुनिक भारतीय समालोचना शास्त्र पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित है । अतः आधुनिक समीक्षा शास्त्र की दृष्टि से भी नाटक के तत्त्वों का विचार करना आवश्यक हो जाता है । आजकल नाटक के निम्नलिखित तत्त्व माने जाते हैं – कथानक, पात्र और उनका चरित्र-चित्रण, संवाद, देशकाल का चित्रण, भाषा-शैली, अभिनेयता और रस । इन सभी तत्त्वों का वस्तु, नेता और रस में समावेश कर लिया जाता है । धनञ्जय के अनुसार नाटक में तीन तत्त्व होते हैं – (i) वस्तु, (ii) नेता और (iii) रस । इनके आधार पर ही उनका विभाजन होता है । इनमें वस्तु का वर्णन विशेष महत्त्व रखता है । वस्तु को कथा, कथावस्तु (plot) इतिवृत्त आदि के नाम से जाना जाता है ।

1.1.3.1. कथावस्तु

दशरूपकम् और साहित्यदर्पण के अनुसार वस्तु एवं कथावस्तु को दो भागों में विभक्त किया गया है – आधिकारिक और प्रासंगिक। (– दशरूपकम्, 1.11 साहित्यदर्पण, 6.42)

(i) आधिकारिक वह कथावस्तु है जो मुख्य कथा होती है। अधिकार का अर्थ है फल का स्वामित्व । जो फल का स्वामी होता है अर्थात् नायक होता है उससे सम्बद्ध कथानक आधिकारिक होता है । जैसे रामायण में रामचन्द्र की कथा ।

(ii) प्रासंगिक वह कथा है जो गौण रूप से हो और मुख्य कथा का अंग हो । जैसे रामायण में सुग्रीव या शबरी की कथा । (दशरूपकम्, 1.12, साहित्यदर्पण, 6.42-43)

प्रासंगिक कथा के भी दो भेद होते हैं – (i) पताका और (ii) प्रकरी ।

(i) पताका – पताका उस कथा को कहते हैं जो नाटक में दूर तक चलती जाती है । इसका नायक दूसरा व्यक्ति होता है और गुणों में उससे न्यून होता है। उसके कार्य का उद्देश्य कोई स्वतन्त्र फल नहीं होता है । जैसे रामायण में सुग्रीव की कथा ।

(ii) प्रकरी – छोटे-छोटे प्रसंगों या कथानकों को प्रकरी कहते हैं । जैसे रामायण में शबरी की कथा ।

1.1.3.1.1. लोक वृत्त के आधार पर कथावस्तु के तीन भेद

सम्पूर्ण कथावस्तु को तीन भागों में विभाजित किया गया है – प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र।

(i) प्रख्यात – जो इतिहास आदि पर अवलम्बित हो। जैसे शाकुन्तल की कथा महाभारत और पद्मपुराण पर अवलम्बित है।

(ii) उत्पाद्य – यह कवि द्वारा कल्पित होती है। जैसे शूद्रक का मृच्छकटिकम् और भवभूति का मालतीमाधव।

(iii) मिश्र – इसमें कुछ अंश इतिहास पर अवलम्बित होता है और अधिक अंश कविकल्पित होता है। (दशरूपकम्, 1/15,16)

प्रख्यातोत्पाद्य मिश्रत्भेदात्त्रेधापि तत्त्रिधा।
प्रख्यातमितिहासादेरूत्पाद्यं कविकल्पितं॥
मिश्रं च संकराताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदव:॥

1.1.3.1.2. अभिनय की दृष्टि से कथावस्तु का विभाजन

नाटक का मुख्य उद्देश्य रसास्वादन करना है, किन्तु इतिवृत्त की सभी घटनाएँ सरस नहीं होती। कुछ घटनाएँ रंगमंच पर दिखाना आवश्यक नहीं होता इसलिए कथावस्तु के दो भाग किए गए हैं – सूच्य और दृश्य।

(i) सूच्य – जो घटनाएँ नीरस या अनुचित होती है किन्तु कथा-प्रवाह के लिए उनका जानना आवश्यक होता है। उनकी केवल सूचनाएँ दी जाती हैं वही सूच्य इतिवृत्त कहलाता है। सूच्य इतिवृत्त की सूचना देने के लिए रूपकों में पाँच प्रकार के अर्थोक्षेपकों (अर्थ के सूचक) का प्रयोग किया जाता है। जैसे विष्कम्भक, चूलिका, अंकास्य, अंकावतार, और प्रवेशक। (1-58-62)

(क) विष्कम्भक – भूत और भावी घटनाओं की सूचना मध्यम श्रेणी के पात्रों द्वारा दी जाती है। इनकी भाषा संस्कृत होती है।

(ख) प्रवेशक – भूत और भावी घटनाओं की सूचना निम्न श्रेणी के पात्रों द्वारा दी जाती है। इनकी भाषा प्राकृत होती है।

(ग) चूलिका – पर्दे के पीछे बैठे हुए पात्रों के द्वारा वस्तु या घटना की सूचना देना। जैसे नेपथ्य से कथन।

(घ) अंकास्य – अंक की समाप्ति के समय जाते हुए पात्रों के द्वारा अगले अंक में आने वाली घटना की सूचना देना।

(ङ) अंकावतार – अंक की समाप्ति के पहले ही अगले अंक की कथावस्तु का प्रारम्भ करना। (दशरूपकम्, 1/56-63), साहित्यदर्पण, 6/54-60)

(ii) दृश्य – जो घटनाएँ रोचक तथा सरस होती हैं तथा उनका वर्णन किया जाता है साथ ही रंगमंच पर अभिनय भी किया जाता है वही दृश्य इतिवृत्त कहलाता है। दृश्य इतिवृत्त का रूपकों के अंकों में विभाजन किया जाता है। अंकों की संख्या सभी रूपकों में समान नहीं होती। (दशरूपकम्, 3)

1.1.3.1.3. नाट्यधर्म (नाटकीय संवाद) की दृष्टि से वस्तु-विभाजन

भारतीय नाटककारों ने पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के समान संवाद को अलग से नाटक का तत्त्व नहीं माना है अपितु वस्तु के अंग के रूप में ही संवाद का विचार किया है। संवाद (कथोपकथन) की दृष्टि से वस्तु तीन प्रकार की होती है –

(1) सर्वश्राव्य – जो बात सबको सुनाने के योग्य हो, इसको ही नाटक में प्रकाशम् के नाम से प्रकट किया जाता है।

(2) अश्राव्य – अश्राव्य को स्वगत कहते हैं। जो बात सुनाने के योग्य न हो और मन ही मन कही जाए।

(3) नियतश्राव्य – जो बात कुछ लोगों को ही सुनानी होती है। यह दो प्रकार का होता है –

(i) जनान्तिक – हाथ की ओट करके दो पात्रों का वार्तालाप करना कि अन्य पात्र उसे न सुन पावें।

(ii) अपवारित – मुँह फेरकर किसी दूसरे पात्र की गुप्त बात कहना।

इनके अतिरिक्त एक और भेद आकाशभाषित है। ऊपर मुँह करके स्वयं ही अकेले बात करना। (– दश. 1-64-67, सा.द. 6/137-140)

1.1.3.1.4. वस्तुयोजना की दृष्टि से कथावस्तु का विभाजन

कथावस्तु नाटक का शरीर है। नाटककार इतिवत्त की सुसम्बद्ध तथा सुव्यवस्थित योजना करता है और क्रमिक विकास का ध्यान रखता है। इसी से कथावस्तु रोचक और ग्रहण करने योग्य बनती है। संस्कृत काव्यशास्त्र में वस्तु योजना के ये तीन आधार माने गए हैं – कार्यावस्था, अर्थप्रकृति और सन्धि।

(1) कार्यावस्था – नाटक में कार्य प्रारम्भ किया जाता है। उसकी प्रगति के विभिन्न विश्रामों को अवस्था कहते हैं। ये अवस्थाएँ उस कार्य को सूचित करती हैं। ये पाँच अवस्थाएँ हैं –

(i) प्रारम्भ – मुख्य फल की सिद्धि के लिए नायक में जो उत्सुकता होती है, उसे आरम्भ कहते हैं। (– दश.-1-20/,सा. द. 6-71)

(ii) प्रयत्न – फल की प्राप्ति के लिए जिसमें वेग से यत्न किया जाता है उसे प्रयत्न कहते हैं। (– दश,-1-20, सा. द. 6-72)

(iii) प्राप्त्याशा – अनुकूल परिस्थितियों के कारण फल-प्राप्ति की सम्भावना होती है और विघ्नों के कारण वह असम्भव दीखती हैं उस संदिग्ध अवस्था को प्राप्त्याशा कहते हैं। (– दश. 1-21 सा. द. 6-72)

(iv) नियताप्ति – जब विघ्नों के हट जाने के कारण फल की प्राप्ति निश्चित प्रतीत होती है, उस अवस्था को नियताप्ति कहते हैं। (– दश. 1-21 सा. द. 6-73)

(v) फलागम – जब इष्टफल की प्राप्ति हो जाती है, उस अवस्था को फलागम कहते हैं। (– दश. 1-22 सा. द. 6-73)

भारतीय आचार्यों के समान पाश्चात्य विद्वानों ने भी पाँच अवस्थाएँ मानी हैं –

(i) Exposition (प्रारम्भ)
(ii) Incident (विकास)
(iii) Cricis (चरम सीमा)
(iv) Denoument(उतार)
(v) Cata strophe (अन्त)।

(2) अर्थप्रकृति – अर्थप्रकृतियाँ नाटकीय कथावस्तु के पाँच तत्त्व हैं। धनञ्जय और विश्वनाथ ने अर्थप्रकृति का अर्थ किया है – "प्रयोजनसिद्धिहेतवः" अर्थात् जो प्रयोजन की सिद्धि में कारण हो। अर्थप्रकृतियाँ पाँच हैं –

(i) बीज – वह तत्त्व है जो वृक्ष के बीज की तरह प्रारम्भ में संक्षेप में निर्दिष्ट हो और आगे उसका ही अनेक प्रकार से विस्तार हो। यह नायक के मुख्य फल का कारण होता है। (– दश. 1-17, सा. द. 6-65,66)

(ii) बिन्दु – अवान्तर कथा के मूल कथा के टूट जाने पर जो उसे जोड़ता है और आगे बढ़ाता है उसे बिन्दु कहते हैं। (– दश 1-17, सा द. 6-66)

(iii) पताका – वह प्रासंगिक कथा है जो मुख्य कथा के साथ तक दूर चली जाती है।

(iv) प्रकरी – वह प्रासंगिक कथा है जो मुख्य कथा के साथ थोड़ी दूर तक चलती है।

(v) कार्य – कार्य का अर्थ फल है। जिस फल की प्राप्ति के लिए यत्न किया जाता है, जो साध्य होता है, वह कार्य है। जैसे - रामायण में रावण का वध। यह फल धर्म, अर्थ, काम में कोई भी हो सकता है। इसको ही मुख्य प्रयोजन, लक्ष्य आदि कहते हैं। (– दशरूपक 1-16, सा. द. 6-69,70)

(3) सन्धि – पाँचों अर्थप्रकृतियों को पाँचों कार्यावस्थाओं से जो जोड़ती है। उन्हें सन्धि कहते हैं। सन्धियाँ पाँच हैं –

(i) मुख सन्धि – बीज तथा आरम्भ को मिलाने वाली मुख सन्धि है इसमें बीज की उत्पत्ति का वर्णन है। (– दशरूपक-1/24)

(ii) प्रतिमुख सन्धि – बिन्दु और यत्न को मिलाने वाली सन्धि प्रतिमुख कहलाती है। इसमें बीज का कुछ प्रकट होना दिखाया जाता है। (– दशरूपक-1/30)

(iii) गर्भ सन्धि – पताका और प्राप्त्याशा को मिलाकर गर्भ सन्धि होती है। इसमें बीज का नष्ट होना और उसके लिए पुनः अन्वेषण का वर्णन होता है। (– दशरूपक-1-36)

(iv) विमर्श सन्धि – प्रकरी और नियताप्ति को मिलाकर विमर्श सन्धि होती है। इसे अवमर्श सन्धि भी कहते हैं। जहाँ प्रकरी न हो वहाँ नियताप्ति पर ही निर्भर रहती है। इसमें गर्भ की अपेक्षा बीज अधिक प्रकट होता है, परन्तु शाप या क्रोध आदि के कारण उसमें विघ्न दिखाया जाता है। (– दशरूपक-1-48)

(v) निर्वहण सन्धि – कार्य और फलागम को मिलाकर निर्वहण सन्धि होती है। इसे उपसंति सन्धि भी कहते हैं। इसमें बिखरे हुए अर्थों को एकत्र किया जाता है और मुख्य फल का वर्णन होता है। (– दशरूपक 1/48)

अर्थप्रकृतियाँ आदि को निम्नलिखित तालिका के माध्यम से सरलता से समझा जा समता है। प्रथम से प्रथम का, द्वितीय से द्वितीय का, इस प्रकार इनका सम्बन्ध है।

क्र. सं.	अर्थप्रकृतियाँ	अवस्थाएँ	सन्धियाँ
1.	बीज	आरम्भ	मुख
2.	बिन्दु	यत्न	प्रतिमुख
3.	पताका	प्राप्त्याशा	गर्भ
4.	प्रकरी	नियतापित	विमर्श
5.	कार्य	फलागम	निर्वहण

1.1.3.2. नेता

नाटक का दूसरा प्रमुख तत्त्व नेता है। इसे पात्र या चरित्र-चित्रण भी कहते हैं। नाटक में जो घटनाएँ घटित होती हैं वे इन्हीं पात्रों के द्वारा घटती हैं।

नायक – नाटक का प्रमुख पात्र नायक होता है। जो फल का अधिकारी या स्वामी होता है। भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार नायक में ये निम्नलिखित गुण होने चाहिए –

दशरूपककार ने नायक के लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं –

नेता विनीतो मधुरत्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी दृढ़वंशः स्थिरो युवा॥
बुद्ध्युत्साहस्मृति प्रज्ञाकालामान समन्वितः।
शूरो दृढ़श्च तेजस्वी शास्त्र चक्षुश्च धार्मिकः॥

नेता विनीत, मधुर त्यागी, चतुर, प्रिय बोलने वाला, लोकप्रिय, पवित्र, वाक्पटु, प्रसिद्ध वंश वाला स्थिर युवक, बुद्धि-उत्साह-स्मृति, प्रज्ञा-कला तथा मान से युक्त, शूर, दृढ़, तेजस्वी शास्त्रों का ज्ञाता और धार्मिक होता है। आचार्य भरतमुनि ने नायक के चार भेद बतलाये हैं। (– नाट्शास्त्र, 24/17)

(1) धीरललित – दशरूपककार ने धीरललित का लक्षण इस प्रकार बतलाया है –

"निश्चिन्तो धीर ललितः कलासक्तः सुखी मृदु ः।"

अर्थात् चिन्तारहित, (गीत आदि) कलाओं का प्रेमी, सुखी और कोमल (स्वभाव तथा आचार वाला) नायक धीर ललित कहलाता है । शृंगार भाव प्रधान नाटकों में ही ऐसे नायक पाये जाते हैं । जैसे - रत्नावली नाटिका में वत्सराज उदयन तथा अभिज्ञान शाकुन्तलम् में राजा दुष्यन्त ।

(2) धीर शान्त – दशरूपककार ने धीर शान्त नायक का लक्षण इस प्रकार बतलाया है –

"सामान्य गुणयुक्तस्तु धीर शान्तो द्विजादिकः ।"

अर्थात् विनय इत्यादि जो नायक के सामान्य गुण कहे गए हैं उन गुणों से युक्त नायक धीरशान्त होता है । 'द्विज' शब्द का अभिप्राय ब्राह्मण, वणिक ओर मंत्री आदि शब्दों इनमें शान्ति और संतोष का गुण होना आवश्यक है । इस प्रकार के नायक ब्राह्मण तथा वैष्य ही होते हैं, जैसे – मालती माधव का नायक माधव तथा मृच्छकटिक का नायक चारूदत्त इसी श्रेणी में आते हैं ।

(3) धीरोदात्त –

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः ।
स्थिरो निगुढ़ाहङ्ढारो धीरोदात्तो दृढ़व्रतः ॥

अर्थात् धीरोदात्त नायक शोक, क्रोध आदि संवेगों पर नियन्त्रण रखने वाला, अति गम्भीर, क्षमाशील, आत्मश्लाघा, अपनी प्रशंसा न करने वाला, स्थिर, अहंभाव को दबाकर रखने वाला दृढ़व्रत होता है । ऐसे नायकों की श्रेणी में मर्यादा पुरुषोत्तम राम, धर्मराज युधिष्ठिर, नागानन्द नाटक में जीमूतवाहन हैं ।

(4) धीरोद्धत – इसमें घमण्ड (दर्प) और डाह (मात्सर्य) अधिक होता है जो माया और कपट में तत्पर रहता है । साथ ही अहंकारी, चंचल, क्रोधी तथा आत्मश्लाघा करने वाला धीरोद्धत नायक होता है । इस श्रेणी के अन्तर्गत महाबली भीम, परशुराम व रावण आते हैं।

उक्त चारों प्रकार के नायकों के अतिरिक्त नायक की शृंगार रस सम्बन्धी अवस्थाएँ भी चार प्रकार की हैं –

(i) दक्षिण नायक – "दक्षिणोऽस्यां सहृदय." अर्थात् जो नायक (पूर्व नायिका) के प्रति सहृदय (प्रीतियुक्त) रहता है । वह दक्षिण नायक कहलाता है ।
(ii) शठ नायक – (पूर्व नायिका का) गुप्त रूप से अप्रिय करने वाला नायक शठ नायक कहलाता है ।
(iii) धृष्ट नायक – जो प्रेम में अपराधी होने पर भी निःशंक रहता है। जिसे अपने किये पर पश्चात्ताप नहीं होता वह धृष्ट नायक होता है ।

(iv) अनुकूल नायक – जिसकी एक ही नायिका होती है वह अनुकूल नायक होता है।

नायिका – भारतीय काव्यशास्त्रियों के मतानुसार नायक की पत्नी अथवा प्रेयसी ही नायिका कहलाती है। वह नायक के समान गुणों वाली होती है। नाट्यशास्त्र में नायिका के गुणों का वर्णन इस प्रकार किया गया है –

रूपगुणशील यौवनमाधुर्यशक्तिसम्पन्ना।
विशदा स्निग्धा मधुरापिशल वचनाभिरक्तकंठी च॥
गोग्या याभक्षुभिता लयतालज्ञा रसैस्तु संयुक्ता।
एवं विषगुणैर्युक्ता कर्त्तव्या नायिका तज्ज्ञैः॥

(– नाट्यशास्त्र 35/33,35)

अर्थात् नायिका रूपवती, गुण, शील, यौवन, मधुरता और शक्ति से युक्त, प्रसन्न, स्नेहपूर्ण, मधुर, स्निग्ध भावपूर्ण, मधुर वचन वाली, योग्य, क्षोभरहित, लय-ताल का ज्ञान रखने वाली और रसयुक्त होती है।

नायिका-भेद – नायिका तीन प्रकार की होती है – स्वकीया, परकीया तथा साधारण स्त्री।

(1) स्वकीया नायिका –

"मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वीया शीलार्जवादियुक्॥"

अर्थात् स्वकीया नायिका शील तथा सरलता आदि से युक्त होती है। वह मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा तीन प्रकार की होती है।

(2) परकीयानायिका (अन्य स्त्री) – परकीया नायिका दो प्रकार की होती है – कन्या तथा विवाहिता। अन्य विवाहिता स्त्री (परोढ़ा) कभी भी प्रधान रस की नायिका नहीं होती।
(3) साधारण स्त्री (सामान्य नायिका) – यह साधारण स्त्री गणिका होती है। जो कला, प्रगल्भता और धूर्ततायुक्त होती है। वह छिपकर प्रेम करने वाले, सुखपूर्वक धन प्राप्त करने वाले, अज्ञानी, स्वच्छन्द, अहंकारी और पण्डक आदि को यदि धनवान् हों तो अनुरक्ता के समान प्रसन्न करती है और धन रहित होने पर इनको अपनी कुट्टिनी (दासी) के द्वारा निकलवा देती है।

नायक की तरह नायिका की भी आठ अवस्थाएँ होती हैं –

(i) स्वाधीन पतिका – जिस नायिका का पति पास में होता है तथा उसके आधीन है, तथा वह प्रसन्न रहती है। वह स्वाधीन पतिका कहलाती है।
(ii) वासकसज्जा – जब प्रिय आने वाला होता है तब अपने आपको तथा अपने घर को सजाने वाली वासकसज्जा नायिका कहलाती है।

(iii) विरहोत्कण्ठिता – निरपराध होते हुए भी प्रिय के देर से आने पर उत्कण्ठित रहने वाली नायिका विरहोत्कण्ठिता कहलाती है।

(iv) खण्डिता – नायक को दूसरी नायिका के सहवास से विकृत (चिह्नित) जान लेने पर जो ईर्ष्या से कलुषित हो जाती है। वह खण्डिता नायिका होती है।

(v) कलहान्तारिता – क्रोध से (अपराधमुक्त नायक को) तिरस्कृत करके पश्चात्ताप की पीड़ा का अनुभव करने वाली कलहान्तारिता नायिका होती है।

(vi) विप्रलब्धा – प्रियतम के निश्चत समय पर न आने के कारण अत्यधिक अपमानित होने वाली विप्रलब्धा नायिका कहलाती है।

(vii) प्रोषित प्रिया – जिस नायिका का प्रिय किसी कार्य से दूसरे देश में स्थित होता है। वह प्रोषित प्रिया कहलाती है।

(viii) अभिसारिका – जो काम से पीड़ित होकर नायक के पास स्वयं जाती है अथवा नायक को अपने पास बुलाती है। वह अभिसारिका नायिका होती है।

अन्य पात्र – नाटक में नायक के अतिरिक्त अनेक पात्र होते हैं जो नायक के सहायक होते हैं। वे ही पात्र सामाजिकों के हृदय को आल्हादित करते हैं।

(1) पीठ मर्द – जो नायक की सहायता करता है वह पीठ मर्द कहलाता है। यह प्रासंगिक कथा का नायक होता है। यह चतुर होता है तथा नायक का अनुचर तथा भक्त होता है। साथ ही नायक के गुणों से कुछ कम गुणों वाला होता है।

(2) विट – यह नाटक का दूसरा उपयोगी पात्र होता है। नृत्य आदि विधाओं में से किसी एक विद्या को जानने वाला होता है। आचार्य भरतमुनि ने विट का लक्षण इस प्रकार दिया है–

वेश्योपचार कुशलः मधुरो दिक्षिणः कविः।
ऊहापोहक्षमो वाग्मी चतुरश्च विटो भवेत्॥

(– ना. शा. 35/55)

(3) विदूषक – हास्य उत्पन्न करने वाला, प्रधान नायक का सहायक विदूषक होता है। यह कुसुम, वसन्त आदि नाम वाला, अपने कार्य, शरीर, वेष और भाषा आदि के द्वारा दूसरों को हँसाने वाला तथा भोजन आदि की ओर अग्रसर होता है। साथ ही वाक्कुशल, मधुर होता है। वह प्रायः ब्राह्मण ही होता है। भरतमुनि ने विदूषक का लक्षण इस प्रकार बतलाया है –

वमनो दन्तुरः कुब्जो द्विजिह्वो विकृताननः।
खलतिः पिङ्गलाक्षश्च स विधेयो विदूषकः॥

(– ना. शा. 35/57)

(4) प्रतिनायक – नायक का विरोध करने वाला या फल की प्राप्ति में विघ्न डालने वाला पात्र प्रतिनायक होता है। यह लोभी, धीरोद्धत, कठोर, पाप करने वाला तथा व्यसनी व्यक्ति होता है। इस श्रेणी में दुर्योधन व रावण आते हैं।

1.1.3.3. अभिनय

अभिनय नाटक का मुख्य तत्त्व है। हिन्दी साहित्य कोश में अभिनय की परिभाषा इस प्रकार दी गई है – "मन के क्रोधादि को प्रकट करने वाली आंगिक चेष्टाओं द्वारा किसी विषय अथवा व्यक्ति का प्रकृत अनुकरण करके प्रदर्शित करने को अभिनय कहते हैं।" रंगमंच पर अभिनेता नाटक को प्रस्तुत करते हैं। अभिनेता रंगमंच पर अपने वास्तविक रूप को नकार कर नाटक के पात्र को जीवन्त करता है। जो उसे किरदार के रूप में मिला है। अभिनय को नाटक की आत्मा कहा गया है। अभिनय चार प्रकार का माना गया है – आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। (– नाट्यशास्त्र, भरतमुनि-7/6)

(1) आंगिक अभिनय – शरीरांगों तथा मुखादि के द्वारा किया जाने वाल अभिनय आंगिक अभिनय होता है। शरीर के विभिन्न प्रकार की चेष्टाएँ इस अभिनय के अन्तर्गत आती हैं। यह तीन प्रकार का होता है – शरीर द्वारा, मुख द्वारा तथा चेष्टाओं द्वारा। शरीरांगों में अनेक प्रकार से सिर, हाथ, कटि (कमर) तथा अन्य अंगों को हिलाकर जो भाव मुख की आकृतियों का भाँति-भाँति बदलना तथा नेत्रों की विभिन्न प्रकार की चेष्टाएँ मुखाभिनय होता है। चेष्टाओं में आखेट करना, दौड़ना, कूदना, तैरना, नृत्य करना आदि चेष्टाकृत अभिनय है।

(2) वाचिक अभिनय – इस अभिनय का सम्बन्ध वचन (वाणी) से है। वाचिक अभिनय के अन्तर्गत स्वर, भाषा-योग, काकु (कण्ठ ध्वनि) आदि द्वारा भाव और अर्थ का प्रकाशन होता है। कहाँ शुद्ध भाषा का और कहाँ विकृत भाषा का प्रयोग किया जाता है तथा किस व्यक्ति को क्या कहकर सम्बोधित करना चाहिए। यह सब वाचिक अभिनय के अन्तर्गत है। कुछ नाटकों में मूक अभिनय भी होता है। इसे संवादों का अभिनय कहा जाता है। संवाद ही नाटक की आत्मा होता है।

(3) आहार्य अभिनय – नाना प्रकार के आभूषणों और वस्त्रों के रंगों का विवरण आहार्य अभिनय के अन्तर्गत आता है। नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने भिन्न-भिन्न वर्ग के लोगों के आभूषण व वस्त्रों का विधान किया गया है। 'देवताओं तथा सम्पन्न लोगों के गौरवर्ण में राजा का निर्देश किया है। वृद्ध को काठ का डंडा देना, संन्यासियों को भस्म और गेरुए वस्त्र या वल्कल धारण कराना। विभिन्न प्रदेशों की स्त्रियों के विभिन्न प्रकार की केश सज्जा का वर्णन किया है। पुरुष वर्ग के केश सज्जा व मूछों का भी विधिवत् वर्णन किया गया है।

(4) सात्त्विक अभिनय – इस अभिनय में सात्त्विक हाव-भावों का वर्णन है। इसमें अन्तस्थ भावों का प्रकाशन होता है। सामाजिकों को रसानुभूति की ओर ले जाने वाली क्रिया ही अभिनय कहलाती है। सात्त्विक भाव में स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, वैवर्ण्य, कम्प, अश्रु, स्वरभंग और प्रलय (मूर्च्छा) क्रोध स्थायी भाव को प्रकट करने के लिए मुँह का लाल हो जाना, दाँत पीसना, शरीर का काँपना आदि अनुभाव प्रकट होते हैं।

1.1.3.4. रस

सहृदयों को रस की अनुभूति कराना ही नाटक का मुख्य प्रयोजन है । अतः नाटक में रस का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। जीवन की सभी घटनाएँ चाहे वे सुखमय हो या दुःखमय, काव्य नाटक में वर्णित होने पर सुखमय बन जाती हैं। पर यह काव्य लौकिक सुख से भिन्न होता है और काव्य सुख (काव्यानन्द या काव्याह्लाद) को भारतीय काव्यशास्त्र में रस कहते हैं और पाश्चात्य काव्यशास्त्र में Aesthi Experience अथवा Aesthic Blise कहते हैं। रस शब्द के कई अर्थ होते हैं। पदार्थों का रस, आयुर्वेद का रस, मोक्ष या भक्ति का रस, साहित्य का रस। रस सम्प्रदाय के आदिआचार्य भरतमुनि ने अपने ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' में रस की परिभाषा इस प्रकार दी है –

'विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः।'

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

रसाभिव्यक्ति के साधन –

(1) स्थायी भाव – सहृदय के अन्तःकरण में जो वासना के रूप में सदा विद्यमान रहते हैं तथा जिन्हें अन्य कोई भी अविरुद्ध अथवा विरुद्ध भाव दबा नहीं सकता उन्हें स्थायी भाव कहते हैं। रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय ये स्थायी भाव हैं।

(2) विभाव – रस के कारण को विभाव कहते हैं। लोक में जो पदार्थ सामाजिक के उदय को वासना में स्थित रति, उत्साह, शोक आदि भावों के उद्बोधक हैं वे काव्यादि नाटकादि में वर्णित शास्त्रीय शब्दों में विभाव कहलाते हैं। (– सा. द. 3/28) ये दो प्रकार के होते हैं – आलम्बन विभाव और उद्दीपन विभाव। (– दशरूपक, 4/2)

(3) अनुभाव – स्थायी भावों को प्रकाशित करने वाली आश्रय की बाह्य चेष्टाएँ जो लोक में कार्य करती हैं, काव्य-नाटक में वर्णित होने पर अनुभाव कहलाती हैं। ये तीन हैं – सात्त्विक, कायिक और वाचिक। (– दशरूपक, 4/5)

(4) संचारी भाव (व्यभिचारी भाव) – अस्थिर मनोविकार और चित्तवृत्तियाँ 'संचारी भाव' कहलाती हैं। ये विकार आश्रय और आलम्बन के मन में उनमग्न और निमग्न होते रहते हैं। इनकी संख्या 33 निर्धारित की गई है। निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दीनता, चिन्ता, मोह , स्मृति, घृति, ब्रीड़ा, चापल्य, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न, विबोध, अवमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, मास और वितर्क। (– दश. 4/8)

संचारी भावों को व्यभिचारी भाव भी कहते हैं, क्योंकि ये प्रत्येक स्थायी भाव के साथ विशेष रूप से अभिमुख होकर उसके अनुकूल (सहायक) होकर चलते हैं। आचार्य मम्मट और आचार्य विश्वनाथ ने रस की संख्या आठ मानी है। आचार्य भरतमुनि ने मूल रस चार माने हैं – शृंगार, रौद्र, वीर, और बीभत्स। फिर इनसे उन्होंने क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रस की उत्पत्ति मानी है। (– नाट्यशास्त्र, 6/15)

1.1.4. नाटक के प्रकार

नाटक शब्द का प्राचीन नाम संस्कृत साहित्य में रूपक ज्ञात होता है। इसी रूपक के दस भेद किए गए हैं। उनमें नाटक को ही सर्वप्रथम व सर्वप्रमुख स्थान दिया गया है। वर्तमान में हिन्दी भाषा में अंग्रेजी के ड्रामा शब्द के अनुकरण पर 'नाटक' शब्द चल रहा है। वास्तव में ड्रामा शब्द को बोधित करने वाला शब्द संस्कृत साहित्य में 'नाटक' नहीं नाट्य है। भारतीय काव्यशास्त्र के आदिग्रन्थ भरतमुनि द्वारा प्रणीत नाट्यशास्त्र में रूपक के लिए नाटक शब्द का प्रयोग किया है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के बीसवें अध्याय में दशरूप विधान के अन्तर्गत 11 प्रकार के नाटकों का विवेचन किया है। आचार्य धनञ्जय ने भी अपने ग्रन्थ 'दशरूपक' में दस रूपों की चर्चा की है। संस्कृत के आचार्य ने रूपक के दस भेद माने हैं।

1. नाटक – डॉ॰ भगीरथ मिश्र ने नाटक के विषय में लिखा है – "रूपक के भेदों में नाटक ही सबसे अधिक प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण भेद है। इसमें नाट्यशास्त्र के अधिकांश अभिनयसम्बन्धी लक्षणों का समावेश हो जाता है। इसमें वीर रस और शृंगार रस की प्रधानता होनी चाहिए तथा अन्य रस गौण रूप में आने चाहिए। नाटक अपनी व्यापक और सर्वग्राहिणी प्रकृति के साथ हिन्दी में संस्कृत के रूपक के स्थान पर प्रयुक्त होता है और दृश्य काव्य के पर्याय हैं। अभिनयात्मक काव्य के समस्त भेद इसके अन्तर्गत आते हैं।" (– काव्यशास्त्र, पृ.93)

   साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने नाटक का लक्षण इस प्रकार बतलाया है –

"नाटकं ख्यातवृत्तं ... इति कीर्तितः ॥"

(– साहित्यदर्पण 6/307-319)

अर्थात् नाटक की कथावस्तु पुराण, इतिहास आदि से प्रसिद्ध होनी चाहिए। काल्पनिक कथावस्तु नहीं होनी चाहिए। इसका नायक प्रख्यात वंश वाला क्षत्रिय धीरोदात्त प्रतापी और गुणी होना चाहिए। पाँच सन्धियाँ (मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण) होनी चाहिए। शृंगार अथवा वीर रस इनमें से शेष रस प्रधान रस के अंग होकर वर्णित किए जाते हैं। इसकी रचना 'गो' की पूँछ के अग्रभाग के समान होनी चाहिए। जिस प्रकार गाय की पूँछ में कुछ बाल ह्रस्व और कुछ दीर्घ होते हैं, वैसे ही यह नाटक के अन्दर नायक के कार्य 'मुख सन्धि' में समाप्त हो जाने चाहिए और कुछ 'प्रतिमुख सन्धि' में समाप्त हो जाने चाहिए।

2. प्रकरण – प्रकरण की कथावस्तु लौकिक एवं कवि की कल्पना होती है। इसका नायक ब्राह्मण या वैश्य होना चाहिए जो धीरप्रशान्त हो एवं धर्म, अर्थ, काम और अर्थ (त्रिवर्ग) में आसक्त हो किन्तु उसकी कार्यसिद्धि विघ्नों से युक्त हो। इसकी नायिका कुलीन स्त्री अथवा वेश्या होती है। कहीं ये दोनों ही नायिकाएँ होती हैं। शेष सन्धियाँ और रस नाटक के समान ही होने चाहिए।

3. भाण – यह भी रूपक का एक भेद है। इसके विषय में डॉ० ऋषि कुमार चतुर्वेदी ने निम्नलिखित लक्षण बताए हैं – “धूर्तों के चरित से युक्त, अनेक अवस्थाओं से व्याप्त, और एक ही अंक का और एक ही पात्र का नाटक भाण होता है। इसका पात्र कोई विट होता है। यह बुद्धिमान और पण्डित होता है जो अपने तथा दूसरों के धूर्ततापूर्ण कृत्यों को आकाशभाषित की युक्ति द्वारा व्यक्त करता है। कहीं-कहीं इसमें शृंगार और वीर रस का समावेश भी होता है। वस्तु इसकी भी कल्पित होती है। इसमें भारती वृत्ति कहीं-कहीं कैशिकी किसी भी दसों लास्यांग तथा मुख और निर्वहण सन्धियों का प्रयोग होता है।” (– साहित्याशीलन, पृ. 405) इसकी कथावस्तु प्रकरण के समान कल्पित होती है।
4. प्रहसन – भाण के समान ही प्रहसन होता है। इसके तीन भेद होते हैं –

(i) शुद्ध प्रहसन – तपस्वी, संन्यासी या पुरोहित इसके पात्र होते हैं।

(ii) वैकृत – नपुसंक, कंचुकी तथा कामुक व्यक्ति इसके पात्र होते हैं।

(iii) शङ्ढर – धूर्त व्यक्तियों से यह भरा हुआ होता है। निन्दनीय व्यक्तियों की कल्पित कथावस्तु होती है। इसका नायक तपस्वी, संन्यासी और ब्राह्मणों में से कोई एक होता है। इसमें मुख और निर्वहण सन्धियाँ, सन्धि के अंग, दस लास्यांग तथा एक अंक होता है। यह हास्य प्रधान एकांकी नाटक होता है।

5. व्यायोग – इसकी कथावस्तु पुराण तथा इतिहास से प्रसिद्ध होती है। नायक प्रसिद्ध राजर्षि अथवा दिव्य और धीरोद्धत होता है। यह गर्भ एवं विमर्श सन्धियों से रहित होता है। हास्य, शृंगार और शान्त रसों से भिन्न रस होता है। कैशिकी वृत्ति नहीं होती है। इसमें युद्ध का वर्णन होता है जो स्त्री के निमित्त नहीं किया जाता। इसमें एक दिन के चरित को दिखलाने वाला एक अंक होता है। पुरुष पात्र अधिक और स्त्री पात्र कम होते हैं।
6. समवकार – जिसमें अनेक प्रयोजन भलीभाँति सिद्ध किए जाते हैं, वह समवकार है। इसमें देव और असुरों से सम्बन्धित पुराण और इतिहास में प्रसिद्ध कथावस्तु होती है। इसमें विमर्श सन्धि को छोड़कर अन्य चार सन्धियाँ होती है। इसका नायक धीरोदात्त प्रसिद्ध देव और मनुष्य बारह नायक होते हैं। इन नायकों का फल अलग-अलग होता है। उन सभी में वीर रस की प्रचुरता होती है। इसमें तीन अंक होते हैं। प्रथम अंक में मुख तथा प्रतिमुखसन्धि होती है। द्वितीय अंक में गर्भ सन्धि तथा तृतीय अंक में निर्वहण सन्धि होती है। इसमें धर्म, अर्थ और काम से युक्त तीन प्रकार का शृंगार होता है। वीथी के 13 अंग होते हैं। बिन्दु और प्रवेशक नहीं होते। गायत्री और उष्णिक छन्द होते हैं। इसमें तीन प्रकार के कपट (वस्तु, भाववृत्त, दैवकृत और अरिकृत) होते हैं।
7. डिम – डिम की कथावस्तु प्रसिद्ध (प्रख्यात) होती है। इसमें देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, महासर्प, भूतप्रेत और पिशाच आदि सोलह धीरोद्धत नायक होते हैं। यह हास्य और शृंगार रस भिन्न छह रस होते हैं। इसमें रौद्र रस मुख्य होता है। विमर्श सन्धि को छोड़कर अन्य चार सन्धि से युक्त होता है। इसमें माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध तथा उद्भ्रान्ति (उत्तेजना) आदि चेष्टाओं से युक्त तथा चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण से युक्त होता है। कैशिकी वृत्ति रहित होता है।

8. वीथी – इसकी कथावस्तु कल्पित होती है। एक अंक होता है। कैशिकी वृत्ति होती है। इसमें मुख्य और निर्वहण सन्धि होती है। इसका प्रधान रस शृंगार होता है। शेष अन्य रस गौण होते हैं। इसमें एक या दो पात्र होते हैं। आकाशभाषित होता है। सम्पूर्ण अर्थप्रकृतियाँ होती हैं। वीथी के तेरह अंग होते हैं।
9. अंक अथवा उत्सृष्टिकांक– इसमें एक अंक होता है। इसकी कथावस्तु कल्पित होती है। साधारण मनुष्य नायक होते हैं। करुण रस स्थायी होता है। जय-पराजय का वर्णन होता है। वाक्‌युद्ध का वर्णन होना चाहिए। यह स्त्रियों के विलाप से युक्त होता है। भाण की तरह वृत्ति तथा लास्य के अंगों का वर्णन होना चाहिए।
10. इहामृग – इसकी कथावस्तु मिश्रित होता है तथा चार अंक होते हैं। इसमें मुख, प्रतिमुख व निर्वहण सन्धि होती है। बिना किसी नियम के मनुष्य तथा देव नायक और प्रतिनायक होते हैं। जो इतिहास प्रसिद्ध तथा धीरोद्धत होते हैं। वह अलभ्य दिव्य नायिका अपहरण आदि के द्वारा प्राप्त करना चाहता है। शृंगार रस होना चाहिए। इसमें वध की अवस्था तक पहुँचे हुए भी वीर का वध नहीं करना चाहिए।

उपर्युक्त नाट्यप्रकारों के अतिरिक्त विषयवस्तु के आधार पर नाटक के प्रकार निम्नवत् हैं – ऐतिहासिक व सांस्कृतिक नाटक, सामाजिक नाटक, हास्यप्रधान नाटक, समस्याप्रधान नाटक, राष्ट्रोन्मुखी नाटक, प्रेमप्रधान नाटक, गीतिनाटक, प्रतीकप्रधान नाटक आदि।

1.1.5. पाठ-सार

नाटक को साहित्य में विशिष्ट स्थान प्राप्त है। भारतीय काव्यशास्त्र में नाटक का सर्वप्रथम विवेचन आचार्य भरतमुनि के "नाट्यशास्त्र" नामक ग्रन्थ में मिलता है। भरतमुनि के अनुसार 'नाट्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'नट' धातु से मानी है। पाश्चात्य विद्वान् 'नट' शब्द को 'नृत' धातु से उत्पन्न विकारी शब्द मानते हैं। कई विद्वान् 'नृत' धातु और 'नृत्य' शब्द में भी अन्तर मानते हैं। हमें नाटक शब्द की व्युत्पत्ति 'नृत' धातु के आधार पर ही माननी चाहिए। भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार कथावस्तु, नेता तथा रस नाटक के तीन तत्त्व बतलाये गए हैं। हिन्दी साहित्य में नाटक के चार तत्त्व माने गए हैं – कथावस्तु, नेता, अभिनय तथा रस। नाटक के दस प्रकार हैं – नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, व्यायोग, समवकार, डिम, वीथी, अंक, इहामृग। नाटक का साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। नाटक को पंचम वेद कहा गया है। यह लोकहित के लिए है। यह सत्यतः सच है कि यह श्रव्यकाव्य भी है और दृश्यकाव्य भी। इसे सुना भी जा सकता है और देखा भी जा सकता है।

1.1.6. बोध प्रश्न

1. नाटक का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
2. नाटक का स्वरूप स्पष्ट करते हुए नाटक के तत्त्व समझाइए।
3. नाटक की परिभाषा देते हुए नाटक के प्रकार बतलाइए।
4. नाटक में कथावस्तु का क्या योगदान है?

1.1.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. काव्यप्रकाश, मम्मटाचार्य, साहित्य भण्डार, मेरठ
2. साहित्यदर्पण, आचार्य विश्वनाथ, साहित्य भण्डार, मेरठ
3. रस गंगाधर, पण्डित जगन्नाथ ,चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
4. नाट्यशास्त्र, आचार्य भरतमुनि, ,चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
5. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पी. वी. काणे, साहित्य भण्डार, मेरठ
6. दशरूपकम्, धनञ्जय, साहित्य भण्डार, मेरठ
7. काव्यप्रकाश, डॉ० भगीरथ मिश्र

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 1 : हिन्दी नाटक साहित्य

इकाई – 2 : नाटक का उद्भव एवं विकास : भारतेन्दु-पूर्व युग, भारतेन्दु युग, संक्रान्ति युग, अनूदित नाटक, प्रसादयुगीन नाटक, प्रसादोत्तर नाटक, समकालीन नाटककार, महिला नाटककार

इकाई की रूपरेखा

1.2.0. उद्देश्य कथन
1.2.1. प्रस्तावना
1.2.2. नाटक का उद्भव एवं विकास
 1.2.2.1. भारतेन्दु-पूर्व युग
 1.2.2.2. भारतेन्दु युग
 1.2.2.3. संक्रान्ति युग
 1.2.2.4. अनूदित नाटक
 1.2.2.5. प्रसादयुगीन नाटक
 1.2.2.6. प्रसादोत्तर नाटक
 1.2.2.7. समकालीन नाटककार
 1.2.2.8. महिला नाटककार
1.2.3. पाठ-सार
1.2.4. बोध प्रश्न
1.2.5. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1.2.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. नाटक के उद्भव एवं विकास के बारे में समझ सकेंगे।
ii. हिन्दी नाटक के विकास में भारतेन्दु युग से लेकर वर्तमान नाटक के विकास क्रम को जान सकेंगे।

1.2.1. प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य में नाटक साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हिन्दी साहित्य में हिन्दी नाटक का प्रारम्भिक विकास संस्कृत के नाटकों के अनुकरण पर हुआ है। आचार्य भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' को पढ़ने से ज्ञात होता है कि नाटकों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। इन्हें वेदों से गृहीत किया गया है। वैसे हिन्दी साहित्य के नाटकों का विकास 19वीं शताब्दी में भारतेन्दु युग से शुरू हुआ। भारतेन्दु से पूर्व भी कतिपय नाटकों का लेखन हुआ था लेकिन पूर्णरूप से भारतेन्दु युग में नाटकों का आविर्भाव हुआ । उनके पश्चात् द्विवेद्वी युग में नाटकों का मंचन

हुआ। इसे संक्रान्ति युग के नाम भी जाना जाता है। यह युग नाटकों का ह्रास काल नाम से भी जाना जाता है। इसके पश्चात् प्रसाद युग का आरम्भ हुआ। ये युग नाटकों का युग था इसमें सभी तरह के नाटक लिखे गए। अनूदित नाटक भी लिखे गए। प्रसादोत्तर युग के आरम्भ होने पर नाटक का विकास कई धाराओं में हुआ यथा नाटक, एकांकी, गीतिनाट्य आदि।

1.2.2. नाटक का उद्भव एवं विकास

काव्यकला की विधाओं में नाटक का सर्वश्रेष्ठ स्थान माना जाता है इसीलिए इसे 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' कहा जाता है। नाटक के उद्भव होने का सर्वप्रथम स्रोत हमें वेदों में मिलता है। 'सतयुग' के समाप्त होने तथा 'त्रेतायुग' के प्रारम्भ हो जाने पर यह संसार सुख में दुःख तथा आनन्द में शोक मिश्रित हो जाने से तथा विविध जातियों से भर जाने के कारण व्याकुल हो गया तब इन्द्रादि प्रमुख देवताओं ने ब्रह्माजी से एक ऐसा मनोरंजनात्मक तथा श्रव्य एवं दृश्य पंचम वेद बनाने की प्रार्थना की जिसे सारे ही वर्ण सुन सकें क्योंकि ऋग्वेदादि में वेदों को शूद्रादि सुन नहीं सकते थे। (– द्रष्टव्य, नाट्यशास्त्र,1/11-12)

भरत ने अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में लिखा है कि ब्रह्मा ने प्रजा के मनोरंजन के लिए चारों वेदों की सहायता से 'पंचम वेद' नाट्यशास्त्र की रचना की। उन्होंने ऋग्वेद से पाठ्य भाग, गीतों को सामवेद से, अभिनय को यजुर्वेद से और रस को अथर्ववेद से लिया। इस प्रकार पंचमवेद की रचना की जो धर्म के अनुकूल, यशकारी, उपदेशानुकूल, भावी जगत् के लिए समस्त कर्मों का पथप्रदर्शक होगा –

जग्राह पाठ्यमृगवेदात् सामम्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसायार्थ वर्णादपि॥

इस प्रकार ब्रह्माजी ने पंचम वेद का निर्माण करके इन्द्र से कहा कि मैंने इतिहास की रचना कर दी है जो देवता चतुर और परिश्रमी हों उनके द्वारा इसका अभिनय किया जाए। इन्द्र ने कहा देवता इसे करने में समर्थ नहीं हैं तब ब्रह्माजी ने भरतमुनि को आदेश दिया कि वे अपने पुत्रों के साथ इस कार्य को पूर्ण करें –

क्रीडनीयकमिच्छायो दृश्रां श्रव्यं च भद्भवेत्।
न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रं जातिषु।
तस्मात् सृजापरं वेद पञ्चमं सार्व वर्णिकम्॥

इन्द्र के इस आग्रह पर ब्रह्मा ने भरतमुनि को इस नाट्यरचना का कार्य सौंपा और भरतमुनि की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने विश्वकर्मा को प्रेक्षाग्रह बनाने का आदेश दिया।

नाट्य उद्भव के उक्त कारण के अतिरिक्त कई विद्वानों ने नाट्य उद्भव के अन्य कारण भी बतलाये हैं जिनमें नाटक की उत्पत्ति कठपुतली नृत्य से हुई है। नाटक का सूत्रधार वही होता है जो कठपुतली के खेल में डोरी पकड़कर नृत्य कराता है। कुछ इसे छाया नाटकों से मानते हैं, क्योंकि 'रूप' शब्द 'छाया' से सम्बन्धित है। कुछ

विद्वान् ऐसा मानते हैं कि यूनानी नाटकों की अनुकृति से भारतीय नाटक का जन्म हुआ होगा क्योंकि 'यवनिका' शब्द यूनान से आया है।

हिन्दी नाटक के विकास को कई युग में बाँटा गया है –

1.2.2.1. भारतेन्दु-पूर्व युग

संस्कृत साहित्य में नाटकों की समृद्ध परम्परा रही है परन्तु हिन्दी में नाटक का विकास 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध भारतेन्दु युग में हुआ। इसके पहले भी 17वीं, 18वीं शताब्दी में कुछ नाटक लिखे गए। कलात्मक दृष्टि से हिन्दी का प्रथम नाटक 'चन्द्रोदय' है। इसका रचनाकाल सन् 1643 के आस-पास है। यह संस्कृत के नाटक प्रबोध चन्द्रोदय का अनुवाद है। इसका अनुवार जोधपुर नरेश जसवन्तसिंह ने ब्रजभाषा में करवाया था। अनुवाद गद्य और पद्य दोनों विद्या में है।

'प्रबोध चन्द्रोदय' के पश्चात् दूसरा नाटक 'आनन्द रघुनन्दन' है। इसका रचनाकाल भी सन् 1700 के आस-पास है। इसके लेखक रीवाँ नरेश महाराजा विश्वनाथ जू हैं। यह हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक नाटक है। इस समयावधि में कई अन्य नाटक भी लिखे गए जो मौलिक व अनूदित थे। ये नाटक पद्य में हैं जैसे - प्राणचन्द्र चौहान द्वारा रचित रामायण महानाटक (1667), बनारसीदास द्वारा रचित समयसार (1663), गुरु गोविन्द द्वारा रचित चण्डीचरित्र, नेवाज द्वारा रचित शकुन्तला नाटक (1727)।

19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भी कुछ नाटक लिखे गए जैसे - माधवविनोद नाटक, जानकीरामचरित नाटक, रामलीलाविहार नाटक, प्रद्युम्नविजय नाटक, रामयाण नाटक, आनन्दरघुनन्दन आदि। ये नाटक पद्य विधा में लिखे गए। इन नाटकों में अभिनयशीलता का अभाव था इसलिए इन्हें नाटक की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

उक्त नाटकों के पश्चात् हिन्दी नाटक की परम्परा दो रूपों में अवतरित हुई – अनूदित और मौलिक। इन दोनों परम्पराओं में आगे चलकर क्रमशः राजा लक्ष्मण सिंह द्वारा शकुन्तला नाटक (सन् 1861) और गिरधरदास (भारतेन्दु के पिता) द्वारा नहुष (सन् 1841) लिखे गए। शकुन्तला नाटक का गद्य खड़ी बोली का है तथा पद्य ब्रजभाषा का। यह नाटक अपने जमाने में बहुत प्रसिद्ध रहा। खड़ी बोली में लिखा जाने वाला यह प्रथम नाटक है।

1.2.2.2. भारतेन्दु युग

इस युग को 'पारसी थियेटरों का युग' नाम से भी जाना जाता है। इस युग का समय सन् 1870 से सन् 1904 तक का है। हिन्दी में नाटक साहित्य प्रवर्तन भारतेन्दु द्वारा होता है। भारतेन्दु ने सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक तथा आर्थिक विषयों पर अनेक नाटक लिखे। भारतेन्दु युग के नाटकों की रचना मुख्यतः संस्कृत शैली में हुई। धीरे-धीरे पाश्चात्य शैली का प्रभाव भी दिखाई पड़ने लगा तथा साथ ही इस युग के नाटक पारसी कंपनियों की रंगमंचीय आवश्यकता के अनुसार लिखे गए। इस युग के प्रमुख नाटककार हैं – भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट,

प्रतापनारायण मिश्र, राधा कृष्णदास, श्रीनिवासदास, राधाचरण गोस्वामी, बाबू केशवदास, गजाधर भट्ट, अम्बिकादत्त व्यास, गोपालराम गहमरी, किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनन्दन त्रिपाठी, शालीग्राम, लाला सीताराम, देवदत्त तिवारी, मथुराप्रसाद उपाध्याय आदि । भारतेन्दु ने अनेक नाटक लिखे । देश की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक व राजनैतिक परिस्थितियों को आत्मसात करते हुए भारतेन्दुजी ने अनूदित व मौलिक अनेक नाटकों का सृजन किया। उनके द्वारा रचित नाटक इस प्रकार हैं – विद्यासुन्दर (1868), रत्नावली (1868), पाखण्ड विखण्डन (1872), वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (1873) धनञ्जयविजय (1873), प्रेमजोगिनी (1874), सत्यहरिश्चन्द्र (1975), मुद्राराक्षस (1875), कर्पूरमंजरी (1876), विषस्य विषमौषधम् (1876), श्रीचन्द्रावली (1875), भारतदुर्दशा (1876), भारतजननी (1877), नीलदेवी (1880), दुर्लभ-बन्धु (1880), अन्धेर नगरी (1881), सती प्रताप (1884)। उक्त नाटकों में भारतेन्दुजी की कई धाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

(1) पौराणिक धारा : इस धारा का प्रारम्भ 'चन्द्रावली' नाटिका से हुआ है। पौराणिक नाटक लिखने वाले नाटककार और उनकी कृतियाँ इस प्रकार हैं – देवकीनन्दन खत्री का 'सीताहरण' (1876) और 'रामलीला' (1878), अम्बिकादत्त व्यास का 'ललिता' (1884), सूर्यनारायणसिंह का 'श्यामानुराग नाटिका' (1899), कार्तिकप्रसाद खत्री का 'उषाहरण' (1892), अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'प्रद्युम्नविजय' (1893) तथा 'रुक्मिणीपरिणय' (1894), गजराजसिंह का 'द्रौपदीहरण' (1882), श्रीनिवास का 'प्रींदचरित्र' (1888), शालिग्राम का 'अभिमन्यु' (1898)।

(2) ऐतिहासिक धारा : इस धारा का आरम्भ 'नीलदेवी' से हुआ। नीलदेवी नाटक में नारी स्वतन्त्रता का पहलू उजागर किया गया है । भारतेन्दुयुगीन ऐतिहासिक नाटकों में श्रीनिवासदास-कृत 'संयोगिता स्वयंवर' (1886), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'अमरसिंह राठौर' (1895), राधाकृष्णदास-कृत महाराणा प्रताप' (1896) प्रमुख हैं।

(3) समस्याप्रधान धारा : इस धारा का प्रारम्भ 'प्रेमयोगिनी' से हुआ है। इसमें धार्मिक आडम्बरों के प्रति आक्रोश दिखाया गया है। श्री राधाकृष्ण का दुःखिनी बाला' (1880), बालकृष्ण भट्ट का 'जैसा काम वैसा परिणाम' (1913), काशीनाथ खत्री का 'विधवा विवाह' (1899), गोपालराम गहमरी का 'विद्याविनोद' नारी समस्याओं पर लिखे गए नाटक हैं।

(4) राष्ट्रीय धारा : इस धारा में 'भारतदुर्दशा' व 'भारतजननी' के माध्यम से देशोद्धार की भावना का संघर्ष दिखाई दिया है। अम्बिकादत्त व्यास का 'भारतसौभाग्य' (1887), गोपालराम गहमरी का 'देशदशा' (1892), देवकीनन्दन त्रिपाठी का 'भारत हरण' (1899) प्रमुख नाटक हैं।

(5) प्रेमप्रधान धारा : इस धारा के अन्तर्गत भारतेन्दुजी के दो नाटक आते हैं – 'चन्द्रावली' व 'सतीप्रताप'। ये दोनों नाटक प्रेम की कोमल अभिव्यंजना से अभिभूत हैं। चन्द्रावली में ईश्वर के प्रति प्रेम का वर्णन है। व सतीप्रताप में पति के प्रति प्रेम की सुन्दर अभिव्यंजना। इन नाटकों में शृंगारिक प्रवृत्ति देखने को मिलती है । इन नाटकों में श्रीनिवासदास का 'रणधीर प्रेममोहिनी' (1877), किशोरीलाल गोस्वामी का 'मयंकमंजरी' (1891) और 'प्रणयिनी परिणय' (1890), शालिग्राम का 'लावण्यवती सुदर्शन' (1892) तथा गोकुलदास शर्मा-कृत 'पुष्पवती' (1899) हैं।

(6) प्रहसन धारा : इस धारा के अन्तर्गत 'विषस्य विषमौषधम्' नाटक आता है। इस नाटक में अंग्रेजों की चाल द्वारा भारत के कई राजाओं के राज्य को हड़पने व गुलामी का जीवन व्यतीत करने का वर्णन है। इस शृंखला में बालकृष्ण भट्ट-कृत 'जैसा काम वैसा परिणाम' (1877) और 'प्रचार विडम्बना' (1899), विजयानन्द त्रिपाठी-कृत 'महाअन्धेरनगरी' (1893), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'बूढ़े मुँह मुहासे' (1886), राधाकृष्णदास-कृत 'देशी कुतिया बिलायती बोल' आदि हैं।

1.2.2.3. संक्रान्ति युग(सन्धिकाल)

सन् 1905 से 1915 तक का समय सन्धिकाल के नाम से जाना जाता है। ऐसा मानना चाहिए कि यह हिन्दी गद्य के नाटक सृजन की दृष्टि से ह्रास काल है। इसे द्विवेदी युग के काल के नाम से भी जाना जा सकता है। भारतेन्दु युग में नाटकों का लेखन अपने चरम उत्कर्ष पर था वह द्विवेदी युग में पदार्पण करते ही ह्रास होने लगा। इस युग में मौलिक नाटकों का लेखन नहीं के बराबर हुआ। जो चरम उत्साह भारतेन्दु युग में था वह धीरे-धीरे अवसान की ओर चला गया। इस काल में मौलिक नाटक लिखने की बजाय अनुवाद कार्य पर विशेष ध्यान दिया गया। भारतेन्दु युग में जो नाटक मण्डलियों की स्थापना की गई थी वे जल्दी ही काल के गर्त में चली गई। इस युग में पण्डित माधव शुक्ल जो कि स्वयं एक अच्छे अभिनेता व रंगकर्मी थे। उन्होंने 'रामलीला नाटक मण्डली' जो कि 1893 में स्थापित की थी उसका पुनरूद्धार किया तथा राष्ट्रीयता, सांस्कृतिक चेतना के प्रचार-प्रसार के लिए नाटकों को सशक्त माध्यम बनाया। इस काल में मौलिक नाटकों का सृजन तो हुआ किन्तु मौलिक नाटकों के स्थान पर पौराणिक व ऐतिहासिक नाटकों को अलग-अलग रूप परिवर्तित कर सृजन किया गया।

इस युग में भी कई धाराओं में नाटकों का लेखन व मंचन हुआ। भारतेन्दुयुगीन धाराओं के साथ-साथ कई धाराओं का भी जन्म हुआ –

(i) ऐतिहासिक धारा : इसके अन्तर्गत कुछ ऐतिहासिक नाटक लिखे गए। वे इस प्रकार है – गंगाप्रसाद गुप्त-कृत 'वीर जयमल' (1903), शालिग्राम-कृत 'पुरु विक्रम' (1905), वृन्दावनलाल वर्मा-कृत 'सेनापति ऊदल' (1909), कृष्णप्रकाशसिंह-कृत 'पन्ना' (1915), बद्रीप्रसाद भट्ट-कृत 'चन्द्रगुप्त' (1915), जयशंकर प्रसाद-कृत 'राज्यश्री' (1915) उल्लेखनीय हैं।

(ii) पौराणिक धारा : इन नाटकों में राम और कृष्ण सम्बन्धी विभिन्न पौराणिक पात्रों को लेकर नाटकों का सृजन किया गया जिनमें बनवारीलाल-कृत 'कृष्ण' तथा 'कंसवध' (1909), नारायण सहाय-कृत 'रामलीला', शिवनन्दन सहाय-कृत 'सुदामा' (1907), गिरधरलाल-कृत 'रामवन यात्रा' (1910), रामगुलाम-कृत 'धनुषयज्ञ लीला' (1912), सुदर्शनाचार्य का 'अनार्थ नल चरित' (1906), बालकृष्ण भट्ट का 'वेणुसंहार' (1909), लक्ष्मीप्रसाद का 'उर्वशी' (1907) आदि हैं।

(iii) सामाजिक नाटक : सामाजिक नाटकों को लिखने वालों में प्रतापनारायण मिश्र का 'भारत दुर्दशा' (1903), भगवतीप्रसाद का 'बुद्धविवाह' (1905), मिश्र बन्धुओं का 'नेत्रोन्मीलन' (1915) आदि नाटक इस श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं।

(iv) प्रहसन : द्विवेदीकाल में रोमांचकारी नाटकों के अलावा अनेक प्रहसन भी लिखे गए, जिन पर पारसी रंगमंच का प्रभाव था। प्रहसन लिखने वालों के नाम इस प्रकार हैं – बदरीनाथ भट्ट का 'मिस अमेरिका', 'चुंगी की उम्मीदवारी', विवाह विज्ञापन', जी. पी. श्रीवास्तव का 'सौष्ठव' व 'मर्यादा' का नाम लिया जाता है।

(v) व्यावसायिक नाटक : इस युग में जनता के मनोरंजन के लिए रोमांचकारी नाटकों का सृजन हुआ। पारसी रंगमंच का इन नाटकों पर प्रभाव था। ये नाटक उर्दू फारसी मिश्रित भाषा में लिखे गए। प्रमुख नाटककार इस प्रकार हैं – मुहम्मद मिया 'रौनक', सैयद मेंहदी हसन 'अहसान', नारायणप्रसाद 'बेताव', आगा मुहम्मद 'हश्र' और राधेश्याम 'कथावाचक' आदि।

1.2.2.4. अनूदित नाटक

अनूदित नाटकों की परम्परा को भारतेन्दुजी ने ही जीवित रखा। भारतेन्दु ने अंग्रेजी, बांग्ला तथा संस्कृत भाषा के नाटकों का अनुवाद किया। उनका 'विद्यासुन्दर' नाटक बांग्ला नाटक का अनुवाद है। विद्यासुन्दर नाटक में प्रेमविवाह को दर्शाया गया है। 'रत्नावली नाटिका' (1868), पाखण्ड विखण्डन (1872), 'धनञ्जयविजय' (1873), 'कर्पूरमंजरी' (1871), 'मुद्राराक्षस' (1878), तथा 'दुर्लभबन्धु' (1880) संस्कृत नाटकों के अनुवाद हैं। नाटकों की इसी अनूदित परम्परा में भारतेन्दु के समकालीन अन्य नाटककारों ने भी अन्य भाषाओं के नाटकों के हिन्दी में अनुवाद किए। ये नाटक इस प्रकार हैं –

संस्कृत के नाटक

(i) भवभूति-कृत उत्तररामचरितम् : देवदत्त तिवारी (1871), लाला सीताराम (1891), नन्दलाल विश्वनाथ दुबे (1891)
(ii) भवभूति-कृत मालतीमाधव : लाला शालिग्राम (1881), लाला सीताराम (1898)
(iii) भवभूति-कृत महावीरचरितम् : लाला सीताराम (1897)
(iv) कालिदास-कृत अभिज्ञान शाकुन्तलम् : नन्दलाल विश्वनाथ दुबे (1888)
(v) कालिदास-कृत मालविकाग्निमित्रम् : लाला सीताराम (1898)
(vi) कृष्णमित्र-कृत प्रबोध चन्द्रोदय : शीतला प्रसाद (1879), अयोध्याप्रसाद चौधरी (1885)
(vii) शूद्रक-कृत मृच्छकटिकम् : गदाधर भट्ट (1880), लाला सीताराम 1899
(viii) हर्ष-कृत रत्नावली : देवदत्त तिवारी (1872), बालमुकुन्द सिंह(1798)
(ix) भट्टनारायण-कृत वेणीसंहार : ज्वाला प्रसाद सिंह (1897)

बांग्ला के नाटक

(i) पदमावती : बालकृष्ण भट्ट (1878)
(ii) शर्मिष्ठा : रामचरण शुक्ल (1880)

(iii) कृष्णमुरारी : रामकृष्ण वर्मा (1899)
(iv) द्वारिकानाथ गाँगुली-कृत वीरनारी : रामकृष्ण वर्मा (1888)
(v) राजकिशार दे-कृत पदमावती : रामकृष्ण वर्मा (1888)
(vi) मनमोहन वसु-कृत सती : उदित नारायण लाल (1880)

अंग्रेजी के नाटक

(i) शेक्सपीयर-कृत मर्चेन्ट ऑफ वेनिस : वेनिस के व्यापारी (1888)
(ii) शेक्सपीयर-कृत द कॉमेडी ऑफ एरर्स : मुंशी इमदाद अली (भ्रमजालक), लाला सीताराम (भूलभुलैया) (1885)
(iii) शेक्सपीयर-कृत एज यू लाइक इट : पुरोहित गोपीनाथ (मनभावन) (1896)
(iv) शेक्सपीयर-कृत रोमियो जूलियट : पुरोहित गोपीनाथ (प्रेमलीला) (1897)
(v) शेक्सपीयर-कृत मैकबैथ : मथुरा प्रसाद उपाध्याय (साहसेन्द्र साहस) (1893)
(vi) जोसेफ एडीसन-कृत केटो : बाबू तोताराम (कृतान्त) (1879)

1.2.2.5. प्रसादयुगीन नाटक

इस युग को द्वितीय उत्थान काल के नाम से भी जाना जाता है । प्रसाद का आगमन, जो अभी तक नाटक की विद्या अविकसित थी, उसे पूर्ण करने के लिए हुआ । प्रसादजी ने कविता, कहानी, नाटक, निबन्ध आदि कई विधाओं में लेखन किया । प्रसादजी ने हिन्दी नाटक को समृद्ध करने में उल्लेखनीय प्रयास किया । प्रसाद ने अपने नाटकों में ऐतिहासिक, पौराणिक सन्दर्भों के साथ-साथ समकालीन भारतीय समाज और संस्कृति के जिस रूप का चित्रण किया इसे अन्य नाटककार नहीं कर सकता । डॉ॰ नगेन्द्र ने प्रसाद का आकलन इस प्रकार किया है – "इस प्रकार इन नाटकों का महत्त्व असीम है । एक ओर जहाँ पाठक उनके दोषों को देखकर विक्षुब्ध हो उठता है वहीं हमारी ओर उनकी शक्ति और कविता से अभिभूत हुए बिना भी नहीं रह सकता । ये नाटक अंशों में जितने महान् है सम्पूर्ण में उतने नहीं । प्रसाद की ट्रेजेडी की भावना उनकी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की चेतना उनके महान् कोमल चरित्र, उनके विराट् मधुर दृश्य, उनका काव्य स्पर्श हिन्दी में भी उसकी ज्योति मलिन नहीं पड़ सकती ।" (द्रष्टव्य, आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ. 12, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1970, नवीन संस्करण)

हिन्दी नाट्य साहित्य में प्रसाद के आगमन ने नाटक साहित्य की काया ही पलट दी इसीलिए इस युग को हिन्दी नाटक का उत्कर्ष काल कहते हैं । प्रसादजी ने गुप्त काल से सम्बन्धित नाटकों की रचना करके महात्मा बुद्ध के द्वारा युगानरूप गाँधीवादी सत्य और अहिंसा का सन्देश दिया । प्रसाद का नाट्य विधान प्रायः नूतन था जिसके ऊपर भारतीय नाट्यशास्त्र की गहरी छाप थी । इस युग के प्रमुख नाटककार है – जयशंकर प्रसाद, हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास, लक्ष्मीनारायण मिश्र, वृन्दावनलाल वर्मा, गोविन्द वल्लभ पन्त, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार तथा चतुरसेन शास्त्री ।

जयशंकर प्रसाद ने अनेक नाटकों का सृजन किया। उनके नाटक इस प्रकार हैं – सज्जन (1910), कल्याणी (1912), प्रायश्चित (1913), राज्यश्री (1918), विशाख (1921), अजातशत्रु (1922), कामना (1927), जनमेजय का नागयज्ञ (1926), स्कन्दगुप्त (1928), एक घूँट (1930), चन्द्रगुप्त (1931), ध्रुवस्वामिनी (1933)।

जयशंकर प्रसाद उक्त नाटकों में युगानुरूप महात्मा बुद्ध और गाँधीवादी सत्य, अहिंसा, करुणा का सन्देश देते हैं। प्रसाद के नाटकों में भारतीय काव्यशास्त्र की स्पष्ट झलक देखने को मिलती है। प्रसाद के युग में भी भारतीय परम्परा के अनुसार संस्कृत, बांग्ला, अंग्रेजी के नाटकों में भी अनुवाद हुए। प्रसाद युग में मौलिक नाटक लिखने वाले प्रमुख नाटककारों की कई धाराएँ विकसित हुईं –

(i) पौराणिक धारा : दुर्गादत्त पाण्डेय, वियोगी हरि, कौशिक, मिश्रबन्धु, सुदर्शन (अंजना), गोविन्द बल्लभ पन्त (वरमाला), मैथिलीशरण गुप्त (चन्द्रहास)
(ii) ऐतिहासिक धारा : पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', प्रेमचन्द, बद्रीनारायण भट्ट, मिलिन्द (प्रताप-प्रतिज्ञा), उदयशंकर भट्ट (चन्द्रगुप्त मौर्य्य), सेठ गोविन्ददास (हर्ष)
(iii) राष्ट्रीय धारा : प्रेमचन्द
(iv) समस्या प्रधान धारा : लक्ष्मीनारायण मिश्र
(v) प्रेमप्रधान धारा : ब्रजनन्दन सहाय
(vi) प्रहसन धारा : जी. पी. श्रीवास्तव

प्रसाद युग में उक्त धाराओं का विकास महत्त्वपूर्ण रहा। इस युग में ऐतिहासिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय नाटकों की रचना की गई। साथ ही इन नाटकों में भारतीय एवं पाश्चात्य शैलियों का समन्वय किया गया। इस युग में गीतिनाट्य, एकांकी व प्रतीतात्मक नाटकों का सृजन हुआ। प्रसाद द्वारा प्रणीत 'करुणालय', 'एक घूँट' और 'कामना' इसके प्रमाण हैं। प्रसाद युग के नाटक भारतेन्दु युग के नाटकों की तरह पारसी थियेट्रिकल कंपनियों के लिए नहीं लिखे गए बल्कि उनके नाटकों में भारतीय रंगमंच व साहित्य का प्रभाव था।

हिन्दी नाटक को समृद्ध करने में प्रसादजी ने सराहनीय प्रयास किया। उन्होंने 'सज्जन', 'कल्याणी', 'परिणय', 'करुणालय', 'प्रायश्चित', 'राज्यश्री' और 'विशाख' जैसी आरम्भिक नाट्यकृतियों से लेकर 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' जैसी प्रौढ़ कृतियाँ हिन्दी साहित्य को दीं। डॉ॰ गोविन्द चातक ने अपनी पुस्तक में प्रसादजी की उपलब्धियों का विश्लेषण इस प्रकार किया है – "प्रसाद ने अपने युग को अतीत के साथ जोड़ने का यत्न ही नहीं किया वरन् स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, जनमेजय का नागयज्ञ, ध्रुवस्वामिनी आदि नाटकों में युद्ध, राष्ट्रीय आन्दोलन, एकता, अहिंसा, साम्प्रदायिकता, विश्वमैत्री, देशद्रोह तथा नारी स्वातन्त्र्य जैसे युगीन विषयों को भी उजागर किया है। इसी प्रकार युग की मानवतावादी दृष्टि भी प्रसाद के नाटकों में समग्र कथ्य पर छायी हुई दिखाई देती है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने मानव की सक्रिय इहा, राष्ट्र की आशा-आकांक्षा, व्यक्ति के विद्रोह, संघर्ष और तनाव को ऐतिहासिक कथावस्तु में ढालने

का सफल प्रयास किया जिसके कारण इतिहास स्थूल माध्यम नहीं रह पाता ।" (प्रसाद के नाटक : सर्जनात्मक धरातल और धार्मिक संरचना, पृ.18) प्रसाद के नाटकों में काव्यत्व के कारण भी भव्यता एवं उदात्तता का चित्र देखने को मिलता है जो एक अविस्मरणीय उपलब्धि है। प्रसादजी की उपलब्धियों को डॉ० बच्चन सिंह ने इस प्रकार विवेचित किया है – "प्रसादजी ने आधुनिक जीवन ओर उसकी समस्याओं का कहीं हल्का किन्तु भावमय और कहीं गहरा और दार्शनिक स्पर्श किया है। उनके ऐसे गहन और व्यापक जीवन द्रष्टा की विचार-प्रवणता और रसात्मक अनुभूति ने जीवन की कर्कशता में एक कोमलता और आर्द्रता घोल दी है।" (हिन्दी नाटक, पृ. 109, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1975 ई., तृतीय संस्करण)

1.2.2.6. प्रसादोत्तर नाटक

इस युग को तृतीय उत्थान काल के नाम से भी जाना जाता है। इसका समय 1936 से वर्तमान तक निर्धारित है। इस युग की समस्याएँ यथार्थता के साथ तेजी से बदली। यह युग स्वतन्त्रता प्राप्ति की ओर अग्रसर था। इस युग में नयी चेतना के साथ बदलाव नजर आने लगा। पहले देश की स्वतन्त्रता की समस्या थी तत्पश्चात् राष्ट्र के निर्माण का प्रश्न था। इन दोनों ही समस्याओं को ध्यान में रखकर नाटकों का सृजन हुआ।

(1) ऐतिहासिक राष्ट्रीय नाटक : ऐतिहासिक नाटकों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है – स्वतन्त्रता-पूर्व और स्वातन्त्र्योत्तर।

स्वतन्त्रता के पूर्व ऐतिहासिक काल में जिन नाटकों का सृजन हुआ उनमें जयशंकर प्रसाद के बाद प्रेमी द्वारा रचित नाटक उल्लेखनीय हैं। प्रेमीजी द्वारा रचित नाटकों में 'रक्षाबन्धन' (1930), 'शिवा साधना' (1937), 'प्रतिशोध' (1937), 'स्वप्न भंग' और 'आहुति' नाटकों के माध्यम से हिन्दू-मुस्लिम के बीच पारिवारिक सद्भाव की एकता स्थापित करने का प्रयास किया है। साथ ही देश का उत्थान और संगठन के लिए प्रेमीजी के नाटक राष्ट्रीय भावना के प्रचारक हैं। गोविन्ददास का पहला नाटक 'शेरशाह' है, दूसरा नाटक 'कुलीनता' है जिसमें देश उद्धार के साथ-साथ गाँधीवादी विचारधारा का प्रभाव देखा जा सकता है। उदयशंकर भट्ट ने 'दाहर' व 'सिन्धपतन' की रचना की।

स्वतन्त्रता के पश्चात् हरिकृष्ण प्रेमी द्वारा रचित 'उद्धार', 'शपथ', 'कीर्तिस्तम्भ' आदि नाटक उल्लेखनीय हैं। इसी धारा में विष्णु प्रभाकर का 'समाधि' और जगदीशचन्द्र माथुर का 'कोणार्क' नाटक भी सम्मिलित है। इसी क्रम में उदयशंकर भट्ट का 'शकविजय' सेठ गोविन्ददास का 'शशिगुप्त' नाटक भी ऐतिहासिकता के साथ-साथ राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत है।

(2) ऐतिहासिक सांस्कृतिक नाटक : प्रसादोत्तर नाटकों की मूल चेतना सांस्कृतिक पुनरुत्थान की रही है।

(3) सामाजिक नाटक : प्रसादोत्तर युग में सामाजिक नाटकों की संख्या सर्वाधिक है। प्रायः सभी नाटककारों ने इस क्षेत्र में लेखन किया है। इस युग में कुछ पुराने खेमे के नाटककारों ने भी सामाजिक नाटक लिखे हैं, यथा - प्रेमचन्द (प्रेम की वेदी), चतुरसेन शास्त्री (पगध्वनि), कौशिक (अत्याचार का परिणाम), सुदर्शन

(अंजना, ऑनरेरी मजिस्ट्रेट), पाण्डेय बैचेन शर्मा 'उग्र' (चुम्बन)। इस युग के नाटककारों पर यूरोप के लेखक शॉ इब्शन मैटरालैक के यथार्थवादी विचारों का प्रभाव पड़ा है। इस युग में जो नाटककार ऐतिहासिक नाटक लिख रहे थे वे भी सामाजिक नाटकों के लेखन में प्रवृत्त हुए। इस कड़ी में मोहन राकेश द्वारा रचित नाटकों को लिया जा सकता है। उन्होंने 'आधे-अधूरे', 'पैर तले की ज़मीन' और 'रात बीतने तक' नाटकों की रचना की। हिन्दी नाटकों में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाकर मोहन राकेश ने एक नये युग की स्थापना की। मोहन राकेश ने अपने नाटकों में आधुनिक जीवन शैली से परिचित कराया है। आज के आधुनिक जीवन शैली के चलते परिवार के टूटने और आपसी सम्बन्ध के टकराव को बहुत ही बेबाकी से प्रस्तुत किया है। इसी कड़ी में अगला नाम सेठ गोविन्ददास का है उनके 'अमीरी और गरीबी' नाटक को इस वर्ग में रखा जा सकता है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का 'स्वर्ग की झलक' (1938), 'छठा बेटा (1940)', 'कैद' (1945)' और 'उड़ान' (1945) ऐसे सामाजिक नाटक हैं जिसमें उच्च मध्यमवर्गीय समाज की रूढ़ियों, दुर्बलताओं तथा उनके जीवन में व्याप्त कृत्रिमता, दिखावा और ढोंग का पर्दाफाश उजागर किया है। उदयशंकर भट्ट का 'क्रान्तिकारी' (1953), तथा 'नया समाज' (1955) इसी वर्ग के नाटक हैं। इन नाटकों में भट्टजी ने वर्तमान जीवन के व्यक्तिगत एवं सामाजिक संघर्ष एवं समस्याओं को बखूबी चित्रण किया है। इस वर्ग में एक नाम गोविन्दवल्लभ पन्त का आता है उन्होंने 'अंगूर की बेटी' नाटक का लेखन किया। साथ ही जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द का 'समर्पण' (1950) उल्लेखनीय है।

(4) गीतिनाट्य : गीतिनाट्य परम्परा का शुभारम्भ प्रसादजी के नाटक 'करुणालय' (1912) से होता है। इसमें भावों का व्यक्तिकरण गीतों के माध्यम से होता है, जिसमें कोमल भावों की प्रधानता रहती है। ये नाटक सुपाठ्य होने के साथ अभिनेय भी होते हैं। इनका अभिनय गद्य नाटकों की अपेक्षा कठिन होता है। इस परम्परा में अगला नाम मैथिलीशरण गुप्त का है जिन्होंने 'अनघ' नाटक लिखा। यही परम्परा हरिकृष्ण प्रेमी के 'स्वर्णविहीन', उदयशंकर भट्ट के 'मत्स्यगन्धा', 'विश्वामित्र' और 'राधा' नाटकों में प्रतिफलित हुई। इसी धारा में सेठ गोविन्ददास द्वारा रचित 'स्नेह या स्वर्ग' तथा भगवती बाबू का 'तारा' नामक नाटक उल्लेखनीय है। इन नाटकों का कलेवर पात्रों के गीतियुक्त संवादों द्वारा किया गया है। सुमित्रानन्दन पन्त ने भी 'रजत शिखर' तथा 'शिल्पी' इसी नाट्य विधा में लिखा। सबसे अधिक चर्चा में धर्मवीर भारती का नाम लिया जा सकता है। उन्होंने 'अन्धा युग' में अश्वत्थामा के माध्यम से समकालीन परिस्थितियों का जीवन्त चित्रण किया है। सिद्ध कुमार का 'लौह देवता' भी इसी श्रेणी का नाटक है।

(5) समस्या नाटक : प्रसादोत्तरकालीन नाटकों में लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों की विशेष चर्चा की जाती है। उन्होंने नाटकों के माध्यम से भारतीय समाज की कुरीतियों पर प्रहार किया है। इनका 'सिन्दूर की होली' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नाटक माना जाता है। इस नाटक में विधवा की समस्याओं का विवेचन किया गया है।

(6) प्रतीकप्रधान नाटक : इन नाटकों में पात्रों की विभिन्न भावनाओं, विचारधाराओं या वस्तुओं के प्रतीक रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं। इस धारा के प्रवर्तक प्रसाद ही हैं। प्रसाद का 'कामना' (1927) हिन्दी का प्रथम प्रतीकात्मक नाटक है। इस कड़ी में लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'मादा केक्टस' और सुमित्रानन्दन पन्त का 'ज्योत्सना' चर्चित रहे हैं। श्रीलाल शुक्ल ने 'सूखा सरोवर' और 'अन्धा कुआँ' इसी प्रकार के

प्रतीकात्मक नाटक लिखे । प्रतीकात्मक नाटक लिखने वालों में सेठ गोविन्ददास, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, कुमार हृदय, नरेश मेहता, विनोद रस्तोगी आदि हैं । इन नाटकों में विनोद रस्तोगी को विशेष सफलता मिली है । उनके नाटक 'आजादी के बाद', 'नये हाथ', 'बर्फ की मीनार', 'जनतन्त्र ज़िंदाबाद' आदि । ज्ञानदेव अग्निहोत्री ने कई नाटकों का लेखन किया परन्तु उन्हें ख्याति 'नेफा की एक शाम' और 'शुतुर्गमुर्ग' के ही कारण मिली । 'शुतुर्गमुर्ग' नाटक के बारे में लक्ष्मीनारायण लाल ने लिखा है – " 'शुतुर्गमुर्ग' एक राजनैतिक फेंटेसी है जिसमें स्वातन्त्र्योत्तर भारत की राजनैतिक तस्वीरें बड़े मौलिक ढंग से प्रस्तुत की गई हैं। 'शुतुर्गमुर्ग' प्रतीक है हमारे उस राजनैतिक भावबोध का जहाँ निर्णय लेने वाला राजनेता अन्धविश्वास की बालू में सर गड़ा लेता है ।" (हिन्दी वाङ्मय : बीसवीं शती, सं. नगेन्द्र, पृ. 172)

1.2.2.7. समकालीन नाटककार

समकालीन नाटककार से तात्पर्य वर्तमान समय के नाटककारों से है जिन्होंने वर्तमान परिस्थितियों का अवलोकन कर नाटकों का सृजन किया । भारत की स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी नाटक में एक नया आयाम देखने को मिला । व्यवस्था के सन्दर्भ में समाज एवं व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक चित्रण का बखूबी वर्णन समकालीन नाटककारों के नाटकों में दिखाई दिया । इन नाटकों में पश्चिमी जीवन की झाँकियों को उकेरा गया है । लोकजीवन की बजाय व्यक्तिगत विशेषताओं को अधिक प्रभावना की गई । कुछ नाटककारों ने समाज की समस्याओं के साथ व्यक्तिगत मनोभावों को जोड़ने का सराहनीय प्रयास किया । इन नाटककारों में जगदीशचन्द्र माथुर, लक्ष्मीनारायण लाल आदि नाटककारों ने ऐतिहासिक व सामाजिक रचनाओं के माध्यम से व्यक्ति की आन्तरिक भावनाओं को जोड़ने का प्रयास किया है । जगदीशचन्द्र माथुर के चार नाटक प्रकाशित हुए । 'कोणार्क' (1954), 'पहला राजा' (1969), 'शारदीया' तथा 'दशरथनन्दन' । समकालीन नाटककारों ने व्यक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व की खोज के नाम पर मनुष्य के आचरण, व्यवहार का ऐसा गड्ड-मड्ड संसार प्रस्तुत किया है जो दिशाहीन है। इस कड़ी में मोहन राकेश का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने 'आषाढ़ का एक दिन' (1956), 'लहरों के राजहंस' (1963) तथा 'आधे-अधूरे' (1969) नाटकों में क्रान्तिकारी परिवर्तन दिखलाया है । मोहन राकेश के पश्चात् सुरेन्द्र वर्मा का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने 'द्रोपदी', 'सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक' एवं 'आठवाँ सर्ग' नाटक लिखे ।

समकालीन नाटक व नाटककार इस प्रकार हैं – लक्ष्मीनारायण लाल-कृत 'सूर्यमुख', 'एक सत्य हरिश्चन्द्र', 'मिस्टर अभिमन्यु', 'दर्पण', 'अब्दुल्ला दीवाना', 'मादा कैक्टस', 'अन्धा कुआँ'; सुरेन्द्र वर्मा-कृत 'सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक', 'आठवाँ सर्ग'; लक्ष्मीकान्त वर्मा-कृत 'अपना अपना जूता'; ललित सहगल-कृत 'हत्या एक आकार की'; अज्ञेय-कृत 'उत्तर प्रियदर्शी'; बृजमोहन शाह-कृत 'त्रिशंकु'; डॉ० शंकर शेष-कृत 'एक और द्रोणाचार्य'; दयाप्रकाश सिन्हा-कृत 'कथा एक कंस की'; रेवती शरन शर्मा-कृत 'राजा बलि की नयी कथा'; गिरिराज किशोर-कृत 'प्रजा ही रहने दो'; नरेन्द्र कोहली-कृत 'शम्बूक की हत्या'; ज्ञानदेव अग्निहोत्री-कृत 'शुतुर्गमुर्ग'; सर्वेश्वर दयाल-कृत 'बकरी', सुशील कुमार सिंह-कृत 'सिंहासन खाली है';

मुद्राराक्षस-कृत 'मरजीवा', 'तिलचिट्टा', 'योर्स फेथफुली'; काशीनाथ सिंह-कृत 'धोआस'; रमेश बख्शी-कृत 'देवयानी का कहना है'; वामाचरण-कृत 'तीसरा हाथी'; हमीदुल्ला-कृत 'उलझी आकृतियाँ, 'दरिन्दे, 'उत्तर उवर्शी'; प्रभात कुमार भट्टाचार्य-कृत 'काठमहल'; गंगाप्रसाद विमल-कृत 'आज नहीं कल'; प्रियदर्शी प्रकाश-कृत 'सभ्य साँप'; भगवतीचरण वर्मा-कृत 'वसीयत'; इन्द्रजीत भाटिया-कृत 'जीवनदण्ड'; सुदर्शन चोपड़ा-कृत 'काला पहाड़; शिवप्रसाद सिंह-कृत 'घण्टियाँ गूँजती हैं'; नरेश मेहता-कृत 'सुबह के घण्टे'; अमृतराय-कृत 'बिन्दियों की एक झलक'; गोविन्द चातक-कृत 'अपने-अपने खूँट'; विष्णु प्रभाकर-कृत 'डगर'; राजेन्द्र प्रसाद-कृत 'प्रतीतियों के बाहर' और 'चेहरों का जंगल'।

उक्त नाटककारों के नाटकों में जो बातें दिखाई देती हैं उनमें कथानक का छोटा होना, वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुति, मनोवैज्ञानिक व समस्यात्मक प्रवृत्ति का प्रभाव, संकलन त्रय का समावेश आदि पहलू इन नाटकों में देखने को मिलते हैं। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि समकालीन नाटककारों ने वर्तमान परिस्थितियों को बड़ी ही बेबाकी व ईमानदारी के साथ चित्रण किया है।

1.2.2.8. महिला नाटककार

महिला नाटककारों द्वारा लिखे गए सभी नाटक अद्यतन काल के हैं। इन नाटककारों में सर्वप्रथम नाम मन्नू भण्डारी का है जिन्होंने दो नाटकों का मंचन किया। पहला 'बिना दीवारों का घर' जो एक मध्यमवर्गीय परिवार का वर्णन किया है। उनका दूसरा नाटक 'महाभोज' जो कि राजनैतिक परिवेश को दर्शाता है। इसी परम्परा में अगला नाम विमला रैना के नाट्य-संग्रह 'आहें' और 'मुस्कान' है। शान्ति मेहरोत्रा-कृत 'ठहरा हुआ पानी', 'एक और दिन'; कुंथा जैन-कृत 'वर्धमान रूपायन'; शीला भाटिया द्वारा रचित संगीत नाटक 'दर्द आएगा दबे पाँव' इसी कड़ी के प्रमुख नाटक हैं। 'दर्द आएगा दबे पाँव' नाटक में 'फैज अहमद फैज' के जीवन व शायरी को दर्शकों के सामने प्रस्तुत करने का सराहनीय प्रयास है। अगली कड़ी में कुसुम कुमार का नाम आता है, जिन्होंने 'रावण लीला' नाटक रचा। कुसुमजी ने रावण के चरित्र को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। मृदुला जी ने 'एक और अजनबी' तथा 'तुम लौट आओ', 'जादू का कालीन' नाटक लिखे। डॉ॰ सरोज विसारिया के 'नगरेषु कांचीं' और 'अकथ कहानी प्रेम की' दोनों ऐतिहासिक नाटक है। त्रिपुरारी शर्मा का नाटक 'रेशमी रूमाल' एक मनोवैज्ञानिक सामाजिक नाटक है। ममता कालिया का एकांकी संग्रह 'आप न बदलेंगे' पाँच एकांकियों को समेटे हुए है। इनके एकांकी सामाजिक समस्याओं के विवरण बनाकर लिखे गए हैं। 'यहाँ रोना मना है' और 'आपकी छोटी लड़की' आकाशवाणी इलाहाबाद से प्रसारित हो चुके हैं। मृणाल पाण्डे ने अपने नाटक 'आदमी जो मछुआरा नहीं था' में एक सम्भ्रान्त परिवार को दर्शाया है। उनका नाटक 'चोर निकल के भागा' बेरोजगारपरक लोगों के जीवन की समस्याओं पर आधारित है। इसी प्रकार 'जो राम रचि राखा' उनका अन्य सशक्त नाटक है। डॉ॰ गिरीश रस्तोगी के नाटक 'नहुष', 'अपने हाथ बिकानी' तथा 'असुरक्षित' हैं। 'नहुष' का कथानक पौराणिक है। इस नाटक में लेखिका ने मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं को पौराणिकता की ओर दृष्टित किया है। 'अपने हाथ बिकानी' एक सामाजिक नाटक है। इसका पात्र घर में बोल्ड और बाहर सहमा हुआ रहता है। इसका कथ्य आधुनिक नारी के आत्मसम्मान व अस्तित्व की भावना को उजागर करता है। 'असुरक्षित' नाटक में वर्तमान

समाज की समस्याओं को आतंक से घिरे लोगों की परिस्थितियों को व्यक्त किया है। इसमें शिक्षा व्यवस्था में व्याप्त अराजकता को दर्शाया गया है। उपर्युक्त महिला नाटककारों ने नाटक के सभी पहलुओं को छुआ है। उन्होंने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक, समस्यापरक तथा आधुनिक परिवेश को दर्शाते हुए नाटकों का सृजन किया जो कि नाटक की दिशा में एक नया मील का पत्थर सिद्ध होगा।

1.2.3. पाठ-सार

हिन्दी साहित्य में नाटक साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हिन्दी साहित्य में हिन्दी नाटक का प्रारम्भिक विकास संस्कृत के नाटकों के अनुकरण पर हुआ है। भरत ने अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में लिखा है कि ब्रह्मा ने प्रजा के मनोरंजन के लिए चारों वेदों की सहायता से 'पंचम वेद' नाट्यशास्त्र की रचना की। उन्होंने ऋग्वेद से पाठ्य भाग, गीतों को सामवेद से, अभिनय को यजुर्वेद से और रस को अथर्ववेद से लिया। इस प्रकार पंचमवेद की रचना की जो धर्म के अनुकूल, यशकारी, उपदेशानुकूल, भावी जगत् के लिए समस्त कर्मों का पथप्रदर्शक होगा। नाटक का उद्भव भारतेन्दु युग में हुआ जिसका विकास क्रमशः संक्रान्ति युग द्विवेद्वी युग, प्रसाद युग तथा प्रसादोत्तर युग से होता हुआ समकालीन परिप्रेक्ष्य में निरन्तर हो रहा है।

1.2.4. बोध प्रश्न

1. नाटक के उद्भव को बताते हुए नाटक के विकास को संक्षेप में समझाइए।
2. नाटक के विकास-क्रम को समझाइए।
3. भारतेन्दुयुगीन नाटक की विविध धाराओं को संक्षेप में लिखिए।
4. समकालीन नाटककार व उनके नाटकों के नाम लिखते हुए वर्तमान परिप्रेक्ष्य में नाटक के स्वरूप की विवेचना कीजिए।

1.2.5. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. डॉ॰ नगेन्द्र, आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ. 12, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1970, नवीन संस्करण.
2. गोविन्द चातक, प्रसाद के नाटक : सर्जनात्मक धरातल और धार्मिक संरचना.
3. हिन्दी नाटक, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1975 ई., तृतीय संस्करण.
4. हिन्दी नाटक, बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.
5. हिन्दी नाटक एवं रंगमंच सं. नेमिचन्द्र जैन, मैकमिलन प्रकाशन, नयी दिल्ली.
6. हिन्दी वाङ्मय : बीसवीं शती, सं. नगेन्द्र.

❖❖❖

खण्ड – 1 : हिन्दी नाटक साहित्य

इकाई – 3 : एकांकी नाटक का स्वरूप और क्रमिक विकास

इकाई की रूपरेखा

1.3.0. उद्देश्य कथन
1.3.1. प्रस्तावना
1.3.2. एकांकी नाटक का स्वरूप
  1.3.2.1. एकांकी नाटक की अवधारणा
  1.3.2.2. संवेदना एवं शिल्प
  1.3.2.3. एकांकी नाटक की रंगमंचीयता
1.3.3. एकांकी नाटक का क्रमिक विकास
  1.3.3.1. प्रसादयुग
  1.3.3.2. प्रसादोत्तर युग
  1.3.3.3. समकालीन एकांकी
1.3.4. पाठ-सार
1.3.5. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
1.3.6. बोध प्रश्न

1.3.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. एकांकी नाटक की अवधारणा व स्वरूप को समझ सकेंगे।
ii. एकांकी नाटक की संवेदना व शिल्प तथा रंगमंचीयता से भलीभाँति परिचित हो सकेंगे।
iii. एकांकी नाटक के क्रमिक विकास पर बात कर सकेंगे।

1.3.1. प्रस्तावना

आधुनिक गद्य विधा के रूप में हिन्दी नाटक का तीव्र एवं बहुआयामी विकास हुआ है। आरम्भ से लेकर आज तक बृहत्तर जीवन सन्दर्भों से जुड़ने और समय-समय पर बड़े नाटककारों की रचनात्मक कला एवं कौशल का सहारा पाने के कारण हिन्दी नाटक की संवेदना और शिल्प में निरन्तर बदलाव होता रहा। इस सन्दर्भ में हिन्दी नाटक की विकास-परम्परा में नाटक की परवर्ती धारा एकांकी की है।

हिन्दी नाटक और रंगभूमि का स्वरूप अपने आप में इतना व्यापक और संश्लिष्ट है कि उसके विविध भाव, रूप, रंग, रस, रीति, आकार-प्रकार आदि उसे सहज ही असाधारण बना देते हैं। अपने इसी वैविध्य एवं

वैशिष्ट्य के फलस्वरूप हिन्दी नाट्यकला अपने आरम्भिक काल से ही उत्सवधर्मी अनुष्ठान के रूप में प्रतिष्ठित रही है। हिन्दी नाट्य व रंगमंच की सुदीर्घ परम्परा नाट्य विधा की संरचना एवं अपनी रंगभूमि पर उसकी अभिनय प्रणालियों और प्रस्तुतियों को लेकर कितनी ही प्रविधियों और प्रयोगों के कालखण्डों से होते हुए आज अपने जिस रूप में वर्तमान है उस तक पहुँचने की प्रक्रिया में उसके मार्ग में कितने ही परिवर्तन आए हैं। मानवीय चिन्तन और संवेदन के अतिरिक्त शिल्पगत वैशिष्ट्य की ओर दृष्टिपात करते हुए यह सहज ही अनुभूत है कि रचनात्मक विधान से परिपूर्ण एकांकी नाटक का स्वरूप एवं विकास हिन्दी नाट्य साहित्य की स्थायी निधि बना हुआ है जिसने परम्परा, मौलिकता और आधुनिक सृजनशील चेतना को अपनाकर हिन्दी नाट्य-परम्परा का नया विन्यास किया है।

1.3.2. एकांकी नाटक का स्वरूप

मनुष्य सामान्यतः जिस परिवेश से सम्बद्ध होता है, उस परिवेश के संस्कारों, रूढ़ियों, गतिविधियों एवं विचारों का प्रभाव उस पर किसी-न-किसी रूप में अवश्य होता है। अन्य साहित्यिक विधाओं की भाँति एकांकी नाटक भी इसी परिवेश में सृजित होता है। एकांकी नाटककार जिस अनुभूति अथवा जीवन स्थिति को अभिव्यंजित करता है वह उसके युग परिवेश से ही निर्मित होती है। इसी से साहित्य के सर्वेक्षण परीक्षण के लिए उसकी अन्तर्भूत प्रवृत्ति तथा सामाजिक परिवेश के सम्यक् ज्ञान की अपेक्षा रहती है। वस्तुतः एकांकी नाटक के मूल व स्वरूप का ज्ञान अपने में इतना सन्दर्भित और परिपूर्ण है कि उसके विविध भाव, रूप, रंग और रस उसे सहज ही असाधारण बना देते हैं। कतिपय विशिष्ट मानवीय संस्कारों से निष्णात एकांकी नाट्य विधा नाटक एवं रंगमंच की एक ऐसी रसधर्मी अवधारणा है जो रचनाकार-पात्र-प्रेक्षक तीनों को एक सृजनात्मक प्रक्रिया से परस्पर सम्बद्ध कर देता है। व्यापक अर्थों में एकांकी नाटक वस्तुतः नाट्यकर्म का ही बोधक है। हालाँकि, अपनी शैली व प्रयोग में एकांकी नाटक का स्वरूप पारम्परिक व शास्त्रीय नाटकों से भिन्न होता है। एकांकी नाटक की लोकधर्मी नाट्य प्रणाली ने लोकरुचियों व संस्कारों के अनुरूप विविध रस विधानों में उल्लेखनीय ढंग से विस्तारित हुई है। एकांकी नाट्यवस्तु अपनी रचनात्मकता में ऐसा घटनाक्रम विधान है जिसमें स्थिति विशेष का पूर्ण चरित संघटित होता है। साथ ही यह अंकों तथा दृश्यों में घटनाओं की सुव्यवस्था कर प्रेक्षकों से सतत उत्सुकता बनाए रख उसमें परिणति तक पहुँचने का महती उपक्रम है। एकांकी नाटककार इस विधा में व्यक्ति, स्थान, घटना तथा परिणाम के विविध आयामों में विस्तार एवं समाहार कर सृजन कौशल का सशक्त परिचय देता है।

1.3.2.1. एकांकी नाटक की अवधारणा

अभिनेय नाटक की सीमा, उत्सुकता, प्रभावान्विति तथा कथा के सुसंगठित प्रारूप की दृष्टि से नाट्य चिन्तकों ने नाट्य कथा के अंक विभाजन को निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ आचार्य भरतमुनि के अनुसार क्षण, प्रहर, मुहूर्त्त आदि लक्षणों से युक्त दिनों के अनुसार सब काव्यों को विभाजित करना अपेक्षित होता है। नाट्यदर्पण में एक मुहूर्त्त अथवा दो घड़ी से लेकर चार प्रहर तक अंक का काल परिमाण स्वीकृत हुआ है।

भारतीय मान्यता के अनुसार अंक के मध्य में आने वाले अंक को गर्भांक कहते हैं जिसका उपयोग रस, वस्तु तथा नाम आदि के उत्कर्ष हेतु होता है।

सामान्यतः हिन्दी नाटकों में तीन अंकों का विधान सर्वाधिक मान्य रहा है। वैसे तो भारतेन्दु युग में तीन अंकीय नाटकों का प्रायः अभाव है लेकिन प्रसाद और प्रसादोत्तर युग में इस प्रवृत्ति की ओर नाटककार अत्यधिक आकृष्ट हुए हैं। कथा-चयन में हिन्दी नाटककारों ने लघु नाटक और एकांकी नाटकों के कथा-विधान में प्रायः पुराण-इतिहास के साथ-साथ सामयिक व्यक्ति जीवन के ज्वलन्त प्रश्नों को ही पर्याप्त स्थान दिया है इसलिए एकांकी नाटक में जहाँ एक ओर संस्कृत नाटकों की रसवादी परम्परा तथा उसकी शास्त्रवादी अवधारणा का ह्रास हुआ है, वहीं दूसरी ओर व्यक्ति-वैचित्र्यवादी भावना को अभूतपूर्व महत्त्व मिलता गया है। ऐसे नाटकों में घटना बाहुल्य के स्थापन पर एकाध घटना के चित्रण की प्रमुखता सहज ही अनुभूत है। अवधारणात्मक सन्दर्भ में एकांकी नाटक की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ निम्नलिखित हैं –

i. एकांकी नाटकों में प्रायः एकअंकीय कथा-विधान की परम्परा है। नाट्य रचना विधान में अंक से अभिप्राय नाट्यवस्तु के सम्यक् विभाजन से है। नाट्यशास्त्र में इस बात का स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि भावों तथा रसों के योग से अंकान्तर्गत इतिवृत्त निरन्तर विकास की प्रक्रिया में रहता है।
ii. नाट्य विधा में अंक शब्द चिह्नार्थक होता है। नाट्यदर्पण में यह स्थापना की गई है कि नाना विधानों के योग से अंक की निर्मिति होती है और चिह्न के द्वारा एक वस्तु दूसरी से अलग होती है।
iii. एकांकी नाटक का अंकगत विभाजन प्रायः कार्य को दृष्टि में रखकर होता है। इसके अन्तर्गत विभाजित कथावस्तु के समय का निर्धारण अपेक्षित होता है। इसमें कथांशों का क्रमिक किन्तु स्वाभाविक विकास आवश्यक होता है।
iv. एकांकी नाटक के केन्द्र में स्थित प्रधान पात्र जीवन के आनन्द रस से अनुप्राणित रहता है। एकांकी नाटक में मानव जीवन का वही रूप स्वीकार्य होता है जो लोक हृदय की संवेद्यता प्राप्त कर चुका है।
v. एकांकी नाटक के सृजन के मूल में उच्चादर्श का भाव वर्तमान रहता है। इसके अन्तर्गत पात्रों के स्वानुभूति के बल पर निश्चित रूपाकार देने की रचना प्रक्रिया में एकांकीकार कथानक को अधिकाधिक जीवन्त बनाने का प्रयास करता है।
vi. एकांकी नाटक में रचनाकार का अनुभव, उसके संस्कार, उसका सामाजिक व सामयिक परिवेश तथा संयोजन की विशिष्ट अभिरुचि आदि सब मिलकर एकांकीनाट्य-भाषा की पीठिका तैयार करते हैं।

1.3.2.2. संवेदना एवं शिल्प

एकांकी नाटक साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा शक्तिशाली, सम्प्रेषणीय एवं श्रेष्ठ है क्योंकि बहुत ही कम अवधि में जब एक व्यक्ति समूह उसे देख रहा होता है तो दूसरा व्यक्ति समूह उन (एकांकी) दृश्यों को अभिनय के स्तर पर जी रहा होता है। एकांकी नाटक के अन्तर्गत दृश्यों को प्रस्तुत करने वाला व्यक्ति समूह व्यक्ति विशेष की संवेदनाओं को इस प्रकार विश्लेषित करता है कि ऐसा प्रतीत होता है मानो वह सब अभी बीत रहा हो।

हिन्दी नाट्य साहित्य के बहुविध विकास में एकांकी नाटकों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। कहना सही होगा कि आलोच्य विधा में संवेदनाओं का सम्प्रेषण अपेक्षाकृत अधिक सहज होता है। एकांकी नाटक में बाह्य वर्णनात्मकता के साथ-साथ भाव व संवेदनाओं के उद्घाटन पर विशेष बल दिया जाता है। इस विधा में कथावस्तु को गति देने के लिए उसमें कार्य व्यापार का होना भी अत्यन्त आवश्यक माना गया है क्योंकि कार्य व्यापार के माध्यम से एकांकी नाटक में एक ओर जहाँ कथानक को गति मिलती है वहीं दूसरी ओर उससे पात्रों के चरित्र को प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति मिलती है।

संवाद नाट्य विधा की भाँति एकांकी नाटक का भी एकमात्र शैलीगत वैशिष्ट्य है जो उसे अन्य साहित्यिक विधाओं से पृथक् करता है। एकांकी नाट्यवस्तु भी संवादात्मक होती है तथा एकांकी नाटक की कथावस्तु संवादों पर ही आधारित होतीहै। इस सन्दर्भ में संवादों का मूल दायित्व यह है कि वे उसे व्यवस्थित रूप से सानुक्रम, पूर्वदीप्ति या सूच्य की पद्धति पर प्रस्तुत करें और उसके विकास के सूत्रों का विन्यास करते रहें। एकांकी के सन्दर्भ में सानुक्रम प्रस्तुतीकरण का वैशिष्ट्य यह है कि संवादों के माध्यम से एकांकी नाटक की कथा आगे बढ़ती रहे और उसमें किसी प्रकार का अवरोध न आए। एकांकी नाटक की संवाद योजना में मानवीय व्यवहार की जिस अभिव्यक्ति का स्वरूप उभरता है उसमें विभिन्न नाट्य स्थितियों, प्रसंगों आदि के अनुरूप उपयुक्त वातावरण स्वतः बनता जाता है। कतिपय स्थलों पर सम तथा विषम पात्र, वैचारिक स्थितियाँ परस्पर सम्बद्ध होती जान पड़ती हैं।

भाषिक विधान की दृष्टि से हिन्दी एकांकी नाटकों की लम्बी शृंखला अपने शिल्पगत वैशिष्ट्य के साथ परिवर्तित नयी नाट्य शैलियों को समग्रता में प्रस्तुत करती है। उसमें लोकतत्त्व का आग्रह, विषयवस्तु से सम्बद्ध विचार-विश्लेषण तथा सहज प्रवाह विद्यमान है। किसी प्रसंग में किया गया कटाक्ष, पात्र, स्थिति की विसंगति को मूर्त्त करता है तो कहीं संवादों में प्रस्तुत सादृश्य विधान अपनी मूल भाव-भंगिमा से जीवन्त हो उठता है। अपने सामाजिक यथार्थ के कारण एकांकी नाट्य-भाषा अपने वैविध्य एवं शक्ति से सम्पन्न होती है। एकांकी में प्रयुक्त उसकी विविधता इस अर्थ में भी प्रकट होती है कि वहाँ उसके पात्रानुकूल होने के उतने ही रूप सम्भव हैं जितने कि नाट्य की संवादात्मक स्थिति में पात्रों के हो सकतेहैं। यद्यपि एकांकी में भाषेतर माध्यम भी कम सशक्त नहीं होते किन्तु क्रियाव्यापार, भाव, विचार आदि को अपने में वहन करने की जितनी क्षमता भाषिक माध्यम में होती है उतनी किसी अन्य में नहीं। सारतः एकांकी नाटक का भाषिक-विधान और भाषेतर माध्यम मिलकर पूरा का पूरा मानवीय अनुभव प्रदान करते हैं।

1.3.2.3. एकांकी नाटक की रंगमंचीयता

अभिनवगुप्त के अनुसार 'नाट्य' लौकिक पदार्थों से अतिरिक्त आस्वादन रूप संवेदन से संवेद्य रस स्वभाव और वस्तु है। इस मायने में नाटक की भाँति एकांकी नाटक भी रंगमंच के लिए होता हैलेकिन रंगमंच से भी पहले एकांकी नाट्य कृति रचनाकार की होतीहै। अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा से रचनाकार केवल उसकी रचना ही नहीं करता अपितु रचना करते हुए उसे अपने मानस के मंच पर अभिनीत होते भी देखताहै। नाटककार नाट्यकृति की

अवधारणा अथवा सृजन की प्रक्रिया में ही उसके प्रस्तुतीकरण के समग्र ढाँचे की भी परिकल्पना करता है और इस प्रकार रंगधर्मिता में भी वह रंगकर्मियों का पूरी तरह सहभागी होता है। इस परिप्रेक्ष्य में प्रख्यात नाट्य चिन्तक डॉ॰ गोविन्द चातक की उल्लेखनीय स्थापना यह है कि नाटक वस्तुतः नाट्यकला का एक अंग मात्र है, ठीक उसी तरह जिस तरह अभिनय, अभिकल्पना, प्रकाश योजना, रूपसज्जा, परिचालन आदि उसके अंग हैं। नाट्य रचना एक और नाट्य प्रस्तुति दूसरी कला नहीं है। वास्तव में नाट्यकृति वह बिन्दु है जिसमें रंगमंचीय प्रस्तुति का समारम्भ होता है इसलिए नाट्य कृति की सत्ता प्राथमिक भी है और अधिकारिक भी। नाटक के बिना रंगमंच की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

आधुनिक हिन्दी रंगमंच बहुमुखी प्रतिभा से संवलित नाट्य निर्देशकों की उपस्थिति से निर्देशक की रंगभूमि बन गई है इसलिए उसका महत्त्व आज लेखक एवं पात्र की अपेक्षा कहीं अधिक हो गया है। हिन्दी एकांकी नाटकों की रंगमंचीयता भी इस प्रवृत्ति से पृथक् नहीं है। निर्देशकों की पर्याप्त मात्रा में उपलब्धता, उनकी प्रस्तुतियों के स्तर एवं श्रेष्ठता के फलस्वरूप ही एकांकी नाटकों की प्रस्तुतीकरण का स्वरूप विभिन्न शैलियों से ओत-प्रोत एवं कलात्मक रहा है। हिन्दी एकांकी अपनी विकास-यात्रा के क्रम में कितने ही पड़ावों से गुजरते हुए आज जहाँ पहुँची है, वहाँ से उसकी अनेक दिशाएँ तथा नयी सम्भावनाओं के मार्ग प्रशस्त हुए हैं।

जयशंकर प्रसाद ने काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध में नाटक ओर रंगमंच के नित्यसम्बन्ध को दृष्टि में रखकर नाट्य विधा की सार्थकता के लिए रंगमंच की उपयोगिता का उल्लेख करते हुए रंगमंच के विभिन्न अंगों के सम्बन्ध में कुछ मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। उनका मंतव्य है कि रंगमंच को नाटक का अनुसरण करना चाहिए, न कि नाटक को रंगमंच का। उनका वक्तव्य उल्लेखनीय है – "रंगमंच की बाध्य-बाध्यकता का जब हम विचार करते हैं तो उसके इतिहास से यह प्रकट होता है कि काव्यों के अनुसार प्राचीन रंगमंच विकसित हुए और रंगमंचों की नियमानुकूलता मानने के लिए काव्य बाधित नहीं हुए। अर्थात् रंगमंचों को ही काव्य के अनुसार अपना विस्तार करना पड़ा और यह प्रत्येक काल में माना जाएगा कि काव्यों के अथवा नाटकों के लिए ही रंगमंच होते हैं। काव्यों की सुविधा जुटाना रंगमंच का काम है क्योंकि रसानुभूति के अनन्त प्रकार नियमबद्ध उपायों से प्रदर्शित नहीं किए जा सकते और रंगमंच ने सुविधानुसार काव्यों के अनुकूल समय-समय पर अपना स्वरूप परिवर्तन किया है।"

1.3.3. एकांकी नाटक का क्रमिक विकास

एकांकी नाटक आधुनिक युग की देन है। आधुनिक युग में हिन्दी नाटक पर्याप्त मात्रा में लिखे गए। अनेक उच्च कोटि के शीर्षस्थ एकांकी नाटकों की परम्परा सहज ही परिलक्षित है। डॉ॰ नगेन्द्र ने एकांकी नाटकों का उदय जयशंकर प्रसाद के 'एक घूँट' (1929) नामक एकांकी से माना है। इसके अलावा डॉ॰ रामकुमार वर्मा के प्रथम एकांकी 'बादल की मृत्यु' (1930) तथा भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र के 'कारवाँ' (1935) को भी हिन्दी का प्रथम एकांकी माना जाता है।

1.3.3.1. प्रसादयुग

जयशंकर प्रसाद इस युग के प्रतिनिधि रचनाकार हैं। हिन्दी नाट्य परम्परा में एकांकी नाटकों का प्रचलन विशेष रूप से विवेच्य काल के अन्तिम कुछ वर्षों से ही माना जाता है। वैसे तो आरम्भ से ही एकांकी नाटक लिखने के छिट-पुट प्रयास देखने को मिलते हैं। उदाहरणार्थ महेशचन्द्र प्रसाद के 'भारतेश्वर का सन्देश' (1918) शीर्षक पद्यबद्ध एकांकी, देवकीप्रसाद गुप्त के 'उपाधि और व्याधि' (1921) तथा रूपनारायण पाण्डेय द्वारा अमूल्याचरण नाग के बांग्ला नाटक 'प्रायश्चित्त' के आधार पर लिखित 'प्रायश्चित्त प्रहसन' (1923) का उल्लेख किया जा सकता है। ब्रिजलाल शास्त्री-कृत 'वीरांगना' (1923) में 'पद्मिनी', 'तीन क्षत्राणियाँ', 'पन्ना', 'तारा', 'कमल', 'पद्मा', 'कोड़मदेवी', 'किरणदेव' प्रभृति एकांकी संगृहीत हैं। बद्रीनाथ भट्ट के एकांकी संग्रह 'लबड़ धों-धों' (1926) में मनोरंजनपरक प्रहसन संकलित हैं। हनुमान शर्मा-कृत 'मान-विजय' (1926), पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र के एकांकी प्रहसनों का संग्रह 'चार-बेचारे' (1929) और जयशंकर प्रसाद का 'एक घूँट' (1930) भी इस काल की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। उग्रजी ने समसामयिक परिस्थितियों का व्यंग्यपूर्ण शैली में निर्मम विश्लेषण प्रस्तुत किया है। स्पष्ट है कि एकांकी रूप में नाटकों की रचना बहुत पहले होने लगी थी। संस्कृत में 'अंक', 'व्यायोम', 'भाण', 'वीथी' आदि एक अंक वाले नाटकों का प्रचलन था। हालाँकि, इस विधा को विशेष महत्त्व पाश्चात्य साहित्य में प्राप्त हुआ। वैसे तो संस्कृत में रूपक के इन भेदों को गौण माना गया है तथा इनका कोई विशेष साहित्य भी उपलब्ध नहीं है फिर भी पाश्चात्य साहित्य परम्परा में सम्भवतः आधुनिक जीवन की व्यस्तता और संघर्षमयता के फलस्वरूप एकांकी नाटक का पुनर्जन्म-सा प्रतीत होता है। संकलनत्रय व संघर्षमय कार्यव्यापार के योग से एकांकी नाटक नये युग के सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुए। हिन्दी में पाश्चात्य ढंग के एकांकी नाटकों का प्रणयन 1930 ई. के बाद के दशक में हुआ। इस अनुक्रम में रामकुमार वर्मा के 'बादल की मृत्यु' (1930) शीर्षक एकांकी के उपरान्त भुवनेश्वरप्रसाद का 'कारवाँ' (1935) नामक एकांकी संग्रह उल्लेखनीय है जिसमें 'श्यामा', 'एक साम्यहीन साम्यवादी', 'शैतान', 'प्रतिमा का विवाह', 'लॉटरी' आदि एकांकी नाटक संगृहीत थे। इसके अन्तर्गत भुवनेश्वरप्रसाद ने अपने आस-पास की ज़िंदगी की अनेक परतों व उत्कण्ठाओं को खोलकर कर देखने का सार्थक प्रयास किया है। उनके नाटकों में भावुकता के दर्शन नहीं होते, वे निर्मम भाव से जीवन के सवालों से जूझते हैं। तकनीकी दृष्टि से भी ये एकांकी पग-पग पर ध्यान आकृष्ट करते हैं। डॉ॰ नगेन्द्र जैसे कतिपय विचारकों की दृष्टि में इनकी भाषा गहरी व्यंजना तथा वक्रोक्ति से जो कभी-कभी बर्नार्ड शॉ के प्रभाव से आयी जान पड़ती है, युक्त है। इस प्रकार भुवनेश्वरप्रसाद ही हिन्दी के पहले महत्त्वपूर्ण आधुनिक एकांकीकार माने जा सकते हैं यद्यपि तिथिक्रम की दृष्टि से रामकुमार वर्मा का 'बादल की मृत्यु' पहला एकांकी माना जा सकता है लेकिन इस पर आलोचकों में मतैक्य का अभाव है।

आलोच्य युग के अन्य एकांकीकारों में गणेशप्रसाद द्विवेदी, जगदीशचन्द्र माथुर, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्र नाथ अश्क, सेठ गोविन्ददास आदि के नाम प्रमुख हैं। गणेशप्रसाद द्विवेदीजी के एकांकी संग्रह 'सोहागबिन्दी तथा अन्य नाटक' (1935) के अलावा उदयशंकर भट्ट के 'दुर्गा' (1934) और 'एक ही कब्र में' (1936) शीर्षक एकांकी, सेठ गोविन्ददास का 'स्पर्द्धा' (1935) शीर्षक एकांकी, जगदीशचन्द्र माथुर का 'भोर का तारा' (1937)

शीर्षक एकांकी और भगवतीचरण वर्मा का 'सबसे बड़ा आदमी' (1936) एकांकी अत्यन्त लोकप्रिय हुए। वर्ष 1938 ई. में उदयशंकर भट्ट ने 'आधुनिक एकांकी नाटक' शीर्षक से और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने 'छह एकांकी' शीर्षक से दो एकांकी संग्रह प्रकाशित किये। 'आधुनिक एकांकी नाटक' में 'राजपूत की हार' (सुदर्शन), 'दस मिनट' (रामकुमार वर्मा), 'स्ट्राइक' (भुवनेश्वर प्रसाद), 'लक्ष्मी का स्वागत' (उपेन्द्रनाथ 'अश्क'), 'सबसे बड़ा आदमी' (भगवतीचरण वर्मा), 'दीबू' (धर्मप्रकाश आनन्द) और 'दस हजार' (उदयशंकर भट्ट) शीर्षक एकांकी संकलित हैं तथा 'छह एकांकी' में 'लक्ष्मी का स्वागत' (उपेन्द्रनाथ 'अश्क'), 'उस पार' (कमलकान्त वर्मा), 'स्ट्राइक' (भुवनेश्वरप्रसाद), 'टकराहट' (जैनेन्द्र कुमार), 'कामरेड' (गणेशप्रसाद द्विवेदी) आदि एकांकियों को स्थान प्राप्त हुआ है। सन 1930-38 के गौण एकांकी नाटकों में राधाकृष्ण मिश्र का 'किरानी का स्वप्न' (1931), गंगाप्रसाद श्रीवास्तव का 'मिट्टी का शेर (1934)', केदारनाथ मिश्र का 'इन्दु' का 'तरुण भारत' (1934), कुँवर बहादुर का 'प्रजातन्त्र की एक झलक' (1935), सत्येन्द्र का 'कुणाल' (1937) आदि भी उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार विवेच्य काल के उत्तरार्द्ध में ही एकांकी नाटकों का सही अर्थों में उद्भव और विकास हुआ। वस्तुतः यह एकांकी का शैशवकाल था। परवर्ती युग के प्रसिद्ध एकांकीकार रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भुवनेश्वर प्रसाद, जगदीशचन्द्र माथुर आदि इसी काल में उभरे थे।

1.3.3.2. प्रसादोत्तर युग

प्रसाद युग तक हिन्दी एकांकी दो सीमान्त पार कर चुका था। वर्ष 1936 ई. में दिल्ली में तथा वर्ष 1938 ई. में लखनऊ में आकाशवाणी के अस्तित्व में आने के फलस्वरूप पहले उर्दू लेखकों और उसके बाद 1940 के आस-पास हिन्दी लेखकों को भी रेडियो पर एकांकियों के प्रसारण का पर्याप्त अवसर प्राप्त हुआ है। वैसे तो इसके पूर्व 'हंस' के एकांकी नाटक विशेषांक (मई 1938) को लेकर एकांकी नाटक के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय विमर्श उठ खड़ा हुआ था। इसमें हिन्दी के आठ एकांकी प्रकाशित हुए थे। इसी अंक में बहुचर्चित एकांकीकार उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने एकांकी को नाटक, कहानी और सम्भाषण से पृथक् एक स्वतन्त्र विधा के रूप में स्वीकृति दिलायी। परन्तु जैनेन्द्र ने इसके विरुद्ध अपना मंतव्य व्यक्त करते हुए लिखा कि "भारत में एकांकी नाटक परिस्थितियों की सहज उपज नहीं है, विलायत वाले अपनी जानें। उनके हालात यहाँ से जुदा हैं। किसी बाह्य रूप को जब तक वह अन्तःप्रेरित न हो खींच लाने का आग्रह ज़रूरी नहीं है।" इस प्रकार उन्होंने इस विधा को अनुसरण के रूप में ओढ़ा हुआ बताया लेकिन 'हंस' के सम्पादक ने उनकी बातों का पुरजोर तरीके से खण्डन किया है।

प्रसादोत्तर युग में भुवनेश्वर के कुछ ही एकांकी (ताँबे के कीड़े, आजादी की नींद, सिकंदर आदि) प्रकाशित हुए हैं। रामकुमार वर्मा के अधिकांश एकांकी संग्रहयथा - रेशमी टाई, चारुमित्रा, विभूति, सप्तकिरण, रूपरंग, रजतरश्मि, दीपदान, ऋतुराज, रिमझिम, इन्द्रधनुष, पाञ्चजन्य, कौमुदी-महोत्सव, मयूरपंख, जूही के फूल आदि 1940 के बाद के प्रकाशित हुए हैं। वर्माजी के एकांकियों का मूल स्वर मानवतावादी है। सामाजिक विषमताओं पर विद्रूप व उनकी काव्यात्मक अलंकृत शैली के कारण उनकी रचनाओं में आदर्शवाद और भी अधिक

सम्प्रेषणीय हो गया है लेकिन एक सीमा के बाद आदर्शवादिता का विस्तार और सपाट विश्लेषण उनके एकांकियों की सघनता, गत्वरता और नाटकीयता में बाधक हैं। यही वजह है कि आलोचक एकांकी नाटकों के क्षेत्र में रामकुमार वर्माजी का महत्त्व ऐतिहासक मानते हैं, स्थायी नहीं। उदयशंकर भट्ट ने लगभग 1938 के बाद एकांकी लेखन आरम्भ किया था। उनका प्रथम एकांकी संग्रह 'अभिनव एकांकी' 1940 ई. में प्रकाशित हुआ। 'स्त्री का हृदय', 'चार एकांकी', 'समस्या का अन्त', 'धूमशिखा', 'अन्धकार और प्रकाश', 'आदिम युग', 'पर्दे के पीछे', 'आज का आदमी', 'सात प्रहसन' आदि उनके अन्य एकांकी संकलन हैं। भट्टजी ने अपने एकांकियों को नवजीवन की ज्वलन्त समस्याओं से जोड़ने की कोशिश की है। उनके अनुसार नाटकों में रस संचार के अतिरिक्त किसी सुनिश्चित सामाजिक उद्देश्य का होना बहुत आवश्यक है। उनकी आस्था नये और पुराने जीवन-मूल्यों के संतुलन मेंहै। उच्च, मध्यम और निरावलम्ब वर्ग की विडम्बनाओं पर गहरी चोट करना उनकी विशेषता है।

हिन्दी एकांकीकारों में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का विशेष स्थान है। 'देवताओं की छाया में', 'चरवाहे', 'पक्का गाना', 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ', 'अन्धी गली', 'साहब को जुकाम है', 'पच्चीस श्रेष्ठ एकांकी' आदि उनके एकांकी संग्रहहैं। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने अपने एकांकियों की विषयवस्तु का चयन जीवन के अनेक क्षेत्रों से किया है हालाँकि उनका मुख्य क्षेत्र पारिवारिक जीवन है। उदाहरणार्थ 'लक्ष्मी का स्वागत', 'पापी' और 'सूखी डाली' शीर्षक एकांकियों को लिया जा सकता है। कथोपकथन की सादगी, स्पष्टता और साफ़गोई उनकी निजी विशेषताएँ हैं। एमेचर रंगमंच पर उनके एकांकी सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुके हैं।

सेठ गोविन्ददास के एकांकी मुख्यतः राजनैतिक और सामाजिक हैं। 'सप्तरश्मि', 'एकादशी', 'पंचभूत', 'चतुष्पथ' आदि उनके एकांकी संग्रहहैं। जगदीशचन्द्र माथुर अपनी एकांकियों ('भोर का तारा' और 'ओ मेरे सपने') में जीवन की नवीन समस्याओं को रूपायित करते हैं। आलोच्य युग के अन्य एकांकीकारों में लक्ष्मीनारायण मिश्र (अशोकवन), गोविन्दवल्लभ पन्त (विषकन्या), विष्णु प्रभाकर ('प्रकाश और परछाईं', 'इंसान', 'बारह एकांकी', 'क्या वह दोषी था', 'दस बजे रात', 'ये रेखाएँ ये दायरे' आदि), धर्मवीर भारती (नदी प्यासी थी), मोहन राकेश (अण्डे के छिलके), गिरिजाकुमार माथुर (उमर कैद) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

1.3.3.3. समकालीन एकांकी

सम्बन्धों के आन्तरिक यथार्थ की खोज में एकांकी नाटक की सृजनशीलता का समकालीन रूप प्रकट हुआ है। हिन्दी साहित्य की विकास-परम्परा में समकालीन एकांकियों के रूप में नाटक के परम्परागत रूप का ह्रास हुआ है। हालाँकि उसके अर्थ का व्यापक विस्तार हुआ है क्योंकि समकालीन नाटक आन्तरिकता के जटिल संसार को रंगमंचीय प्रतिबद्धता के साथ रूपायित करने के कारण समकालीनहिन्दी एकांकी गम्भीर सर्जनात्मक नाट्य सृजन का आभास देने लगा है। इसके अन्तर्गत रचनाकार बाह्य यथार्थ की जगह आन्तरिक यथार्थ को एकांकी में रूपायित करने की सार्थक चेष्टा करते प्रतीत होते हैं। समकालीन एकांकी नाटककारों में विष्णु प्रभाकर (मैं तुम्हें क्षमा नहीं करूँगा, समकालीन लघु नाटक), कमलेश्वर (लहर लौट आयी), राधाकृष्ण सहाय (हे मातृभूमि), वीरेन्द्र मिश्र (आवाज आ रही है), भारतभूषण अग्रवाल (पलायन), सिद्धकुमार (रोशनी शेष है), गिरीश

बख्शी (खिड़की बन्द कर दो), तेजपाल चौधरी (वेटिंग रूम), वसन्त कुमार (इंडिया गेट का मुकदमा) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन एकांकियों में जहाँ एक ओर वस्तुगत वैविध्य के दर्शन होते हैं, वहीं दूसरी ओर शिल्पगत वैविध्य का अभाव है।

1.3.4. पाठ-सार

आधुनिक हिन्दी साहित्य के बहुविध विकास में एकांकी नाटकों का उल्लेखनीय योगदान रहा है। उनमें संक्षिप्तता के बावजूद भाव व संवेदनाओं का सम्प्रेषण अपेक्षाकृत अधिक सहज व विवृत्त होता है। मानव मनोविज्ञान की परिस्थितिगत स्वाभाविक परिणति को इस विधा में सफलतापूर्वक दर्शाया जा सकता है। स्वाधीनता के बाद जो सांस्कृतिक व साहित्यिक उत्साह तथा उर्जा का विस्फोट हुआ था उसके परिणामस्वरूप प्रायः प्रत्येक महाविद्यालय व विश्वविद्यालय में वार्षिक सांस्कृतिक व साहित्यिक आयोजनों में एकांकी नाटकों का मंचन अनिवार्य जैसा था। धीरे-धीरे इस प्रकार के आयोजन कम होते गए और एकांकी नाटक मंचन के बजाय पढ़ने-पढ़ाने के विषय बन गए। वैसे रंगकर्मियों के बीच भी पूर्णकालिक नाटकों की तुलना में एकांकियों को कम महत्त्व मिला है। एकांकीकारों को रेडियो ने प्रश्रय अवश्य दिया है। आजकल रेडियो के लिए छोटे-छोटे नाटक लिखे जाने लगे हैं जो लोकप्रिय हैं। इसके बावजूद इन्हें एकांकी नाट्य का प्रतिरूप मानना न्यायसंगत नहींहोगा।

1.3.5. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. जैन, नेमीचन्द्र, आधुनिक हिन्दी नाटक एवं रंगमंच, मेकमिलन प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. सिंह, बच्चन, हिन्दी नाटक, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. ओझा, दशरथ, हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, राजपाल एंड संस, नयी दिल्ली.
4. रस्तोगी, गिरीश, हिन्दी नाटक का आत्मसंघर्ष, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
5. अंकुर, देवेन्द्रराज, दूसरे नाट्यशास्त्र की खोज, वाणी प्रकाश, नयी दिल्ली.
6. रस्तोगी, गिरीश, बीसवीं शताब्दी का हिन्दी नाटक और रंगमंच, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली.

1.3.6. बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. एकांकी नाटक के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।
2. डॉ० नगेन्द्र के अनुसार हिन्दी का पहले एकांकी का उल्लेख कीजिए।
3. प्रसादयुगीन प्रमुख हिन्दी एकांकीकारों का परिचय दीजिए।
4. समकालीन एकांकी की विषयवस्तु को स्पष्ट कीजिए।
5. रेडियो नाटक की उपयोगिता को समझाइए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "हिन्दी एकांकी में यथार्थ अन्वेषी सृजनात्मकता के वलयों व प्रवृत्तियों के सार्थक संकेत साफ तौर पर उभर कर सामने आए हैं।" उक्त कथन का परीक्षण कीजिए।
2. "समकालीन एकांकी विकृतियों-विद्रूपताओं का अंकन करते हुए जीवन केनये मानवीय मूल्यों की महत्त्व प्रतिष्ठा करते हैं।" चर्चा कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. बहुचर्चित एकांकी 'खिड़की बन्द कर दो' किसकी रचना है ?

(क) धर्मवीर भारती

(ख) गिरीश बख्शी

(ग) तेजपाल चौधरी

(घ) इनमें से कोई नहीं

2. "भारत में एकांकी परिस्थितियों की सहज उपज नहीं है, विलायत वाले अपनी जानें।" यह कथन किसका है ?

(क) वसन्त कुमार

(ख) सिद्धनाथ कुमार

(ग) अमरनाथ चौधरी

(घ) जैनेन्द्र कुमार

3. 'ताँबे के कीड़े' एकांकी किसकी कृति है ?

(क) भुवनेश्वर

(ख) रामकुमार वर्मा

(ग) उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

(घ) उदयशंकर भट्ट

4. 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' शीर्षक एकांकी के रचयिता हैं –

(क) जयशंकर प्रसाद

(ख) विष्णु प्रभाकर

(ग) उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

(घ) पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

5. सही सुमेल है –

(क)	सूखी डाली	:	विष्णु प्रभाकर
(ख)	एक घूँट	:	जयशंकर प्रसाद
(ग)	धूमशिखा	:	भुवनेश्वर
(घ)	पर्दे के पीछे	:	नारायण स्वामी

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 1 : हिन्दी नाटक साहित्य

इकाई – 4 : गीतिनाट्य : स्वरूप और परम्परा, प्रमुख गीतिनाट्य

इकाई की रूपरेखा

1.4.0. उद्देश्य कथन
1.4.1. प्रस्तावना
1.4.2. गीतिनाट्य : स्वरूप और परम्परा
1.4.2.1. हिन्दी नाटकों में गीत-योजना
1.4.2.2. संवेदना एवं शिल्प
1.4.3. गीतिनाट्य में नाट्य रस एवं भावाभिव्यंजना
1.4.4. प्रमुख गीतिनाट्य : संक्षिप्त परिचय
1.4.4.1. नीलदेवी
1.4.4.2. करुणालय
1.4.4.3. अनघ
1.4.4.4. तारा
1.4.4.5. अन्धा युग
1.4.4.6. स्नेह या स्वर्ग
1.4.4.7. एक कण्ठ विषपायी
1.4.5. पाठ-सार
1.4.6. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
1.4.7. बोध प्रश्न

1.4.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. गीतिनाट्य के स्वरूप और परम्परा को समझ सकेंगे।
ii. गीतिनाट्य में रस एवं भावाभिव्यंजना की व्याख्या कर सकेंगे।
iii. प्रमुख गीतिनाट्यों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

1.4.1. प्रस्तावना

नाट्य लेखन एवं प्रयोग विज्ञान की भारतीय परम्परा बहुत पुरानी है। नाटककार नाटक की अभिव्यक्ति में कथोपकथनमूलक भाषा, नृत्यकला, वाद्यकला, संगीतकला, वास्तु-शिल्प आदि अभिव्यक्ति के सभी माध्यमों को अपना सकता है। कला के इन सभी माध्यमों का यथोचित उपयोग करते हुए रचनाकार नाट्य प्रदर्शन को रोचक

तथा अर्थवान् बनाने का प्रयत्न करता है। इन विविध कलाओं के संयोग से नाटक का अभिनय दर्शक को मंत्र-मुग्ध करने वाला बन जाता है। गीतिनाट्य हिन्दी नाट्य परम्परा एक विशिष्ट शैली है जिसमें गीत अथवा काव्यात्मकता पर पूरा बल दिया जाता है।

हिन्दी नाटक की विकास-परम्परा में गीतिनाट्यों की रचना का मूल उद्देश्य मनोरंजन के साथ-साथ जनमानस को जाग्रत् करना और उनमें आत्मविश्वास उत्पन्न करना रहा है। यही वजह है कि गीतिनाट्यों के लेखन में सत्य, त्याग, न्याय, उदारता आदि मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न करने, पुरातन संस्कृति के प्रति प्रेम जाग्रत् करने, अनुकरणीय पौराणिक एवं ऐतिहासिक चरित्रों के प्रति समाज को आकृष्ट करने और अन्धानुकरण की आँधी से समाज को सुरक्षित रखते हुए उसका सुधार एवं परिष्कारकरने पर अधिक जोर दिया गया है। अपने कृतित्व को मानवता के बृहत्तर आयाम के साथ जोड़ने की दिशा में गीतिनाट्यकार अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय रहे हैं। गीतिनाट्यकारों की सबसे बड़ी विशेषता प्राचीन और नवीन जीवन-मूल्यों का समन्वय करने में है। गीतिनाट्य की कथावस्तु के सन्दर्भ में तो इस कोटि के प्रयास प्रायः सर्वत्र ही परिलक्षित होते हैं।

1.4.2. गीतिनाट्य : स्वरूप और परम्परा

भारतेन्दु युग हिन्दी साहित्य के बहुमुखी विकास का युग है। इस काल में गीतिपरक अथवा काव्यात्मक नाटकों के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं जिसमें प्रायः सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण का विस्तृत एवं व्यापक स्वरूप प्रकट हुआ है। इसके पहले 'रामायण महानाटक' (प्राणचन्द चौहान), 'करुणाभरण' (लछिराम), 'शकुन्तला' (नेवाज), 'आनन्दरघुनन्दन' (महाराज विश्वनाथसिंह), 'सभासार' (रघुराय नगर), 'रामकरुणाकर' व 'हनुमान नाटक' (उदय), 'इन्दरसभा' (अमानत-कृत) आदि कृतियाँ उपलब्ध हैं लेकिन आलोचकों की दृष्टि में ये सब विशेषकर 'इन्दरसभा' गीतिनाट्य होने पर भी हिन्दी के साहित्यिक नाटकों की परम्परा में नहीं जोड़ा जा सकता। हालाँकि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा रचित 'भारत जननी' (1877), 'नीलदेवी' (1881), 'सती-प्रताप' (1883) आदि गीतिनाट्य परम्परा की उल्लेखनीय रचनाएँ मानी जा सकती हैं।

रचनात्मक दृष्टि से भारतेन्दुयुगीन रचनाओं का महत्त्व असाधारण है। अन्य साहित्यिक विधाओं की भाँति गीतिनाट्य रचनाओं में भी मध्यमवर्गीय सामाजिक परिवेश में साहित्य रचना का जो स्वरूप उभरा है, उसमें कहीं-कहीं सामन्ती संस्कारों का अवशेष परिलक्षित अवश्य होता है लेकिन वह तिरोहित होने के क्रम है। द्विवेदी युग में भी इस तरह के छिट-पुट प्रयास देखने को मिलते हैं लेकिन परवर्ती छायावादी युग में कतिपय उल्लेखनीय गीतिनाट्यों के प्रमाण मौजूद हैं। छायावादी गीतिनाट्यों में मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ' (1928), हरिकृष्ण प्रेमी का 'स्वर्ण-विहान' (1930), भगवतीचरण वर्मा का 'तारा', उदयशंकर भट्ट के 'मत्स्यगन्धा' (1937) और 'विश्वामित्र' (1938) आदि ध्यातव्य हैं। इनमें 'अनघ' और 'स्वर्ण-विहीन' कृतियाँ गीतिनाट्य कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं मानी जा सकती लेकिन 'तारा' एक सफल गीतिनाट्य है।

छायावादोत्तर युग में धर्मवीर भारती कृत 'अन्धा युग' को एक परिपक्व व सफल गीतिनाट्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। छायावादोत्तर काल में ही सुमित्रानन्दन पन्त के गीतिनाट्य 'रजत शिखर', 'शिल्पी' और 'सौवर्ण' में संकलित हैं। आलोच्य काल में सेठ गोविन्ददास दास-कृत 'स्नेह या स्वर्ग' (1946) यूनान के एक पौराणिक आख्यान पर आधारित गीतिनाट्य है। सिद्धनाथ कुमार-कृत 'सृष्टि की साँझ और अन्य काव्य नाटक' में पाँच गीतिनाट्य संगृहीत हैं। साथ ही दुष्यन्त कुमार द्वारा रचित 'एक कण्ठ विषपायी' (1963) भी एक सफल गीतिनाट्य रचना मानी जाती है।

समकालीन परिवेश में भी प्रयोगधर्मी नाटककारों ने गीतिनाट्य की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। समकालीन गीतिनाट्यों में वीरेन्द्र नारायण का 'सूरदास', अज्ञेय का 'उत्तर प्रियदर्शी', रामेश्वर सिंह कश्यप का 'अपराजेय निराला', 'समाधान', डॉ० विनय का 'रंग-ब्रह्म', विनोद रस्तोगी का 'सूतपुत्र', भारतभूषण अग्रवाल का 'अग्निलोक', चन्द्रशेखर का 'शिवधनुष', कुंथा जैन का 'बाहुबली' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

समकालीन दौर के अधिकांश गीतिनाट्यों में अतिशय काव्यात्मकता को जगह न देकर नाटकीयता को कथ्य–भंगिमा से उत्पन्न किया गया है। इन गीतिनाट्यों में भाषा की प्रतीकात्मकता और बिम्बात्मकता ने नाटकीय सम्प्रेषणीयता में वृद्धि की है। गीतिनाट्यकारों ने अपने नाटक के लिए कथानक का चयन वर्तमान जीवन के साथ-साथ इतिहास, पुराण, स्वदेशी व विदेशी मिथकों आदि से किया है लेकिन किसी भी रचनाकार ने अतीतजीविता का विशेष परिचय नहीं दिया है। कथावस्तु चाहे अतीत से चुनी हो, चाहे वर्तमान से, जोड़ा हमेशा उसे वर्तमान की समस्याओं और सरोकारों से ही है।

1.4.2.1. हिन्दी नाटकों में गीत-योजना

प्रयोग सिद्धि के निमित्त नाट्य में गीतों की संरचना अथवा काव्यात्मकता का अपना महत्त्व है। भारतीय नाट्य परम्परा के अनुसार नाट्य प्रयोग के प्रथम चरण पूर्वरंग का मंगलारम्भ गीत-गायन से होता है। भरतमुनि के अनुसार गीत नाट्य प्रयोग के अंग के साथ ही उसकी सफलता में भी सहायक होते हैं। मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति का साक्षात् रूप गीत भारतीय नाट्य साहित्य में प्रारम्भ से ही विद्यमान रहा है। आधुनिक हिन्दी नाट्य साहित्य में भी काव्यात्मकता अथवा गीति की उपस्थिति अपनी पूर्व परम्पराओं के परिणामस्वरूप ही बनी रही है। उदाहरणार्थ 'आनन्दरघुनन्दन' नाटक का आरम्भ तथा समापन सूत्रधार के भजन से होता है जिसे नान्दी पाठ तथा भरतवाक्य की परम्परा का ही परिणाम कहा जा सकता है। इसके अन्तर्गत शास्त्रीय संगीत की पद्धति के साथ लोकधुनों पर आधारित गीतों की संरचना हुई है। अमानत-कृत 'इन्दरसभा' गीतिनाट्य भी ग़ज़ल, शास्त्रीय संगीत तथा नृत्य के समन्वित प्रारूप के कारण जनसामान्य में अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। इससे भारतेन्दु युग से पहले भी नाट्य विधाओं में गीत, काव्यों तथा ग़ज़ल प्रधान रचनाओं के निहितार्थ गीत योजना की महत्ता प्रमाणित होती है।

भारतेन्दुयुगीन नाट्यगीतों में युगीन समस्याओं का सजीव चित्रण उपलब्ध होता है । उदाहरण के लिए 'भारत-दुर्दशा' का आरम्भ जिस लावनी से होता है वह देश की साम्प्रतिक दशा का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करती है । देश की दुर्दशा से दुखी होकर भारतेन्दु कहते हैं –

रोअहू सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई॥

नाटकीय प्रभावान्विति में अभिवृद्धि तथा कार्य व्यापार को गत्यात्मकता प्रदान करने की दृष्टि से उपयुक्त गीत हिन्दी की नाट्य रचनाओं में सहज ही प्रयुक्त हुए हैं । जैसे 'सती-प्रताप' के भोगी सत्यवान् के हृदयस्थ संघर्ष को 'क्यों फकीर बन आया रे मेरे द्वारे जोगी' तथा 'श्रीदामा' में सहज सरला पत्नी को न देखकर चिन्तातुर श्रीदामा के हृदयस्थ भाव 'कहाँ गई मेरी राम मढ़ैया' आदि में मार्मिक शब्दों से संवलित गीतों में सहज, स्पष्ट तथा एकान्त वातावरण को स्पन्दित करने में अपूर्व सहायता मिलती है । प्रभावी गीत योजना से जहाँ नाटक में कथा प्रवाह को गति देने, आकस्मिक मोड़ देने आदि में सहायता मिलती है वहीं उनसे नाटक का सम्पूर्ण कथानक, लक्ष्य तथा अन्तर्मय वातावरण स्पष्ट हो उठता है ।

भारतेन्दु युग के नाट्य-गीत शास्त्रीय संगीत, लोकधुनों तथा पारसी नाट्य शैली के अनुरूप संरचित होकर तत्कालीन जन सामान्य की रुचियों को तुष्ट कर रहे थे । शास्त्रीय संगीत तथा आंचलिक गीतों की दृष्टि से भारतेन्दु युग की नाट्य रचनाएँ समृद्ध कही जा सकती हैं । जहाँ तक द्विवेदी युग की नाट्य कृतियों में गीतों की नियोजना का प्रश्न है तो वहाँ गीतों की रचना भारतेन्दुयुगीन विचार शैली के अनुरूप तो हुई है, पारसी रंगमंच का प्रभाव भी उन पर देखा जा सकता है । वस्तुवर्णन की दृष्टि से द्विवेदीयुग के नाट्यगीतों के सर्जना स्थूल जगत् तथा सुधार सम्बन्धी विषयों के वर्णन में अधिक रही ।

हिन्दी नाट्य साहित्य में प्रसंगानुकूल प्रभावशाली गीतों की संरचना करने में आधुनिक युग के नाटककारों में जयशंकर प्रसाद का नाम सर्वोपरि है । उन्होंने नाट्य क्षेत्र में प्रचलित पूर्व मान्यताओं को औचित्य के आधार पर स्वीकार किया है । कहना गलत न होगा कि विचक्षण रचनाकार प्रसाद के नाट्यगीतों की विशिष्टता गीत के मूलभूत तत्त्वों यथा - संवेदना, रागात्मकता, आत्मीयता, अन्तरंगता, स्थिति एवं विषयानुकूल सहज, सरल, शब्द, भाषा, लय, ताल आदि के कारण तो है ही, प्रकृति के प्रेम तथा सौन्दर्यमय रूपों की चित्रमयता के कारण समग्र नाट्य साहित्य भारतीय इतिहास की गौरवमयी परम्परा का आख्यान प्रस्तुत करता है । हिन्दी नाटकों में गीत-विधान-सम्बन्धी प्रसाद शैली का अनुसरण आगे चलकर हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द आदि की रचनाओं में न्यूनाधिक मात्रा में हुआ है ।

पाँचवें दशक के पूर्व हिन्दी नाटकों में गीत-विधान व संयोजना अपने निश्चित लक्ष्य के निमित्त होता था। वहाँ आह्लादकारी गीतों द्वारा जटिल कथा-विधान के साथ भाषिक संवादों में घटित चारित्रिक घात-प्रतिघात अथवा सघन नाट्यात्मक अनुभूतियों से पाठकों अथवा प्रेक्षकों को निकालकर सरल व सहज स्थितियों में लाने के

उपक्रम भी नियोजित थे लेकिन पाँचवें दशक के बाद नाट्यगीत काव्यात्मकता में परिणति होते गए तथा गीतों का स्थान उस पद्यात्मक काव्य ने ग्रहण कर लिया जो वस्तुतः कविता की भाँति बोले जाने के लिए लिखे जाने लगे थे। हिन्दी में कतिपय नाटकों की तो पूरी तरह से काव्य में लिखने की परम्परा विकसित हुई और 'अन्धा युग' इस प्रवृत्ति का अच्छा निदर्शन सिद्ध हुआ। कालान्तर में इसी दृष्टि से अभिप्रेरित होकर गिरिजाकुमार माथुर ने 'पृथ्वीकल्प', नरेश मेहता ने 'संशय की एक रात', दुष्यन्त कुमार ने 'एक कण्ठ विषपायी', भारतभूषण अग्रवाल ने 'अग्निलीक' आदि गीतिनाट्यों अथवा काव्य नाटकों की रचना की। समकालीन नाटककारों में मणि मधुकर, गोविन्द चातक, मृणाल पाण्डेय, मुद्राराक्षस, मृदुला गर्ग आदि नाटककारों ने गीतों को विविध रूप में प्रस्तुत किया है। चूँकि, नाट्यगीत पात्रों की मानसिक स्थितियों, आकांक्षाओं के साथ स्थिति एवं वातावरण को भी व्याख्यायित करते हैं इसलिए प्रारम्भ से ही हिन्दी नाटकों में गीतयोजना व उसकी प्रस्तुति का उसकी नाट्यात्मकता में अपना विशेष महत्त्व रहा है, लेकिन उसके स्वरूप में युगानुरूप अपेक्षित परिवर्तन हुए हैं।

1.4.2.2. संवेदना एवं शिल्प

कतिपय उल्लेखनीय सीमाओं के बावजूद परम्परागत व शास्त्रीय हिन्दी नाट्य परम्परा का अनुसरण करते हुए गीतिनाट्यों का संवेदना व शिल्प-विधान अपनी विकास-यात्रा में निरन्तर गतिशील रहा है। यथार्थवाद से अतियथार्थवादी विचार परम्पराओं के अनुसरण में हिन्दी गीतिनाट्य प्रकृतवाद, स्वच्छन्दतावाद, अस्तित्ववाद, यथास्थितिवाद आदि विभिन्न वादों, चिन्तन-धाराओं के साथ वैश्वीकरण के व्यापक प्रभाव को देने में एक मायने में रोचक व समर्थ रहा है। निस्सन्देह गीतिनाट्यों की कथावस्तु में हुए अन्यान्य परिवर्तनों में अनेकानेक साहित्यिक वादों, विचार-सरणियों की निश्चित भूमिका रही है इसलिए ठीक-ठीक परम्परागत शिल्प-विधान का अनुपालन करने की अपेक्षा नाटककार भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य-तन्त्र के मिश्रित रूप को अथवा उन्हें अल्पाधिक मात्रा में समन्वित करने लगे हैं। संवेदना और शिल्प के आलोक में हिन्दी गीतिनाट्य की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ निम्नलिखित हैं –

i. सामान्य जन को अपने जीवन परिवेश के प्रति सजग करने में हिन्दी गीतिनाट्यों के प्रदर्शन का योगदान सराहनीय है।
ii. गीतिनाट्य के कथानक में, पात्रों में और यहाँ तक कि शीर्षक में भी प्रायः प्रतीकात्मकता का निर्वाह किया जाता है।
iii. गीतिनाट्य में भाषा की विशेष भूमिका रहती है क्योंकि भावों के सम्प्रेषण में सारे सूत्रों का संचालन वही करता है।
iv. गीतिनाट्य चेतना में काव्यात्मकता का एक समूचा भूगोल निहित होता है इसलिए रचनाकार इस विधा में प्रायः प्रभावी संवादों के निमित्त मनोवेगों एवं मनःस्थितियों की तीव्र एवं सशक्त व्यंजना के लिए प्रश्नवाचक वाक्यों, उक्तियों, विस्मयादिबोधक चिह्नों, वाक्य की लम्बाई को छोटा-बड़ा करने जैसे उपायों का आश्रय लिया जाता है।

v. नाटकीय अभिचार हेतु रचनात्मक स्तर पर गीतिनाट्य में विभिन्न सन्दर्भों को मूलतः गीतात्मक शैली में प्रस्तुत किया जाता है। इस विधा में गीत अथवा कविता केवल दृश्य ही प्रस्तुत नहीं करते अपितु उनमें अभिप्राय भी समाहित होते हैं।

vi. शिल्प के आधार पर गीतिनाट्यों की प्रधान शैली गीत अथवा काव्यात्मकता है लेकिन उसमें प्रसंग के अनुरूप आलोचनात्मक टिप्पणी प्रधान संवाद का नया आयाम भी जुड़ा रहता है।

1.4.3. गीतिनाट्य में नाट्य रस एवं भावाभिव्यंजना

भारतीय काव्यशास्त्र में रस-स्वरूप की प्रतिष्ठापनात्मक स्पृहा मूलतः नाट्य के सन्दर्भ में ही हुई थी। रस के वस्तुनिष्ठ, भावमय तथा आनन्दमय स्वरूप में 'आनन्दरूप रस' का विवेचन ही सर्वाधिक विस्तार से हुआ तथा अभिनवगुप्त जैसे समर्थ आचार्य द्वारा प्रत्यावर्त्तित व प्रतिष्ठापित होने के कारण बहुधा मान्य भी रहा है। विचक्षण नाटककार जयशंकर प्रसाद के अनुसार नाट्यपयोगी काव्यमें आत्मा की अनुभूति रस के रूप में प्रतिष्ठित हुई है।

शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत, रौद्र, करुण, बीभत्स और भयानक नामक आठ रसों में प्रमुख स्थायी मनोवृत्तियाँ ही रसत्व को प्राप्त होती हैं। आत्मा की अनुभूति व्यक्ति और चरित्र-वैचित्र्य को लेकर ही अपनी सृष्टि करती है इसलिए गीतिनाट्य अपनी विषयवस्तु की परिपक्वता के साथ-साथ रस एवं भावाभिव्यंजनाओं की जीवन्तता को भी सिद्ध करता है। वैसे तो रस और भावाभिव्यंजना की उपस्थिति व स्वरूप को लेकर नाट्यालोचकों में मतैक्य नहीं है फिर भी जैसा कि डॉ॰ गोविन्द चातक का मानना है कि वर्तमान युग में जटिलताओं से भरे संघर्षपूर्ण मानव जीवन को सार्थक ढंग से चित्रित कर उसे सामयिकता और सहज ढंग से प्रासंगिकता प्रदान करना गीतिनाट्यकर्म की प्रधानता मानी जा सकती है। इस परिप्रेक्ष्य में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे आलोचक तो यहाँ तक कहते हैं कि रस को प्रधानता देने वाले नाटककार प्रायः चरित्र का ध्यान नहीं रखते।

काव्यात्मकता व गीतिपरक सीमांकन के बावजूद पात्रों और परिस्थितियों के चित्रांकन व प्रस्तुति मेंहिन्दी गीतिनाट्यों की रस और भावाभिव्यंजना एक दूसरे के पूरक बनकर, चरित्र व वैचित्र्य के आधार पर रूपक बनकर सम्पूर्ण कथानक की सृष्टि करते हैं। उदाहरणार्थ नीलदेवी, अनघ, तारा, अन्धा युग, स्नेह या स्वर्ग, एक कण्ठ विषपायी आदि कृतियों में नाट्य रस और भावाभिव्यंजना का यथोचित मूल्यांकन किया जा सकताहै।

1.4.4. प्रमुख गीतिनाट्य : संक्षिप्त परिचय

हिन्दी गीतिनाट्य आधुनिक युग की देन है। ऐसा स्वीकार किया जाता है कि अंग्रेजी से रंगमंच से प्रभावित होकर कतिपय पारसियों ने भारत में अपनी नाट्य-मण्डलियाँ स्थापित की थीं। इस प्रकार की नाट्य-मण्डलियों में 'अल्फ्रेड थियोट्रिकल कंपनी', 'न्यू अल्फ्रेड थियेट्रिकल कंपनी' तथा 'एलेक्जेंड्रिया थियेट्रिकल कंपनी' आदि विशेष उल्लेखनीय कंपनियां थीं। वैसे यहाँ इन व्यावसायिक कंपनियों का व्यावसायिक लक्ष्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि इनके द्वारा अभिनीत नाटकों में निम्न कोटि का सन्दर्भ और अभिनय हुआ

करता था। लेकिन आगे चलकर भारतेन्दु युग में हिन्दी नाटकों का भरपूर विकास हुआ और अनेकानेक विषयों पर तत्युगीन उत्कृष्ट नाट्य-रचनाएँ रची गईं। गीतिनाट्य रचनाओं के प्रयास भी भारतेन्दु युग में देखे जा सकते हैं लेकिन भारतेन्दु युग के बाद ही हिन्दी नाटकों में क्रान्तिकारी परिवर्तन होने आरम्भ हुए। उदाहरणार्थ जयशंकर प्रसाद ने गम्भीर ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति को प्रस्तुत करने वाले कई ऐतिहासिक नाटक लिखे। गीतिनाट्य परम्परा में भी प्रसाद की महत्त्वपूर्ण कृति 'करुणालय' उल्लेखनीय है। तब से लेकर आज तक विषयवस्तु की विविधता और शैलीगत वैशिष्ट्य को लेकर नाटक रचनाएँ हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। मैथिलीशरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा, धर्मवीर भारती, सेठ गोविन्ददास, दुष्यन्त कुमार आदि हिन्दी गीतिनाट्य के प्रमुख हस्ताक्षर हैं।

1.4.4.1. नीलदेवी

'नीलदेवी' भारतेन्दु रचित एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक नाटक है जिसकी रचना वर्ष 1881 ई. में हुई। अधिकांश नाट्य समीक्षक इसे विशुद्ध नाट्य कृति न मानकर एकप्रारम्भिक 'गीतिरूपक' की संज्ञा प्रदान करते हैं। इसमें भारतेन्दुजी की सुधारवादी दृष्टिकोण के साथ-साथ सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना की भी सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। इसमें परोक्ष ढंग से ही सही, लेकिन युगीन समस्याओं को जनता तक पहुँचाने की कारगर चेष्टा की गई है।

1.4.4.2. करुणालय

गीतिनाट्य परम्परा में प्रसिद्ध नाटककार जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित 'करुणालय' प्रथम नाटक माना जाता है। इसमें विभिन्न मनोदशाओं को गीति के रूप में प्रस्तुत किया गया है तथा मानवीय व्यवहारों को उनके कार्यकलापों द्वारा मानव सभ्यता और संस्कृति के विकास की गाथा प्रस्तुत की गई है लेकिन पारम्परिक आदर्शों की बहुलता और परिवेश की मुखरता के कारण यह गीतिनाट्य सामान्य स्तर से उपर नहीं उठ सका है फिर भी नाट्यशिल्प की दृष्टि से इसे विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता। इससे जयशंकर प्रसाद की रचनात्मक प्रयोगधर्मिता का प्रमाण अवश्य माना जा सकता है। इसमें अलग-अलग पात्रों पर परिवेशजनित प्रभावों के चित्रण के साथ-साथ उनकी क्रियाशीलता भी प्रभावी तरीके से अंकित हैं। नाटककार ने यथार्थ बोध और व्यंग्य को बड़े ही सहज व सरल ढंग से अपनाया है।

1.4.4.3. अनघ

'अनघ' मैथिलीशरण गुप्त रचित एक उल्लेखनीय गीतिनाट्य है। इसकी रचना 1928 ई. में हुई। नाट्य समीक्षक गीतिनाट्य की दृष्टि से प्रायः इस कृति को हीन कोटि की रचना स्वीकार करते हैं। इसमें कवित्व के साथ नाटकीय संघर्ष और प्रतीकात्मकता का सुन्दर समन्वय मिलता है। इसमें व्यक्तिगत और सामाजिक चारित्रिक विसंगतियों पर प्रकाश डाला गया है। सामाजिक नीरवता के निहितार्थ सर्वत्र फैली अशान्ति, हिंसा-प्रतिहिंसा, द्वेष, संघर्ष आदि को दूर करने के लिए रूमानी ढंग का समाधान प्रस्तुत किया गया है।

1.4.4.4. तारा

'तारा' के रचयिता भगवतीचरण वर्मा हैं। यह एक सफल गीतिनाट्य रचना स्वीकार किया जाता है। इसमें रचनाकार ने आस-पास की ज़िंदगी की अनेक परतों को उघाड़कर देखने का साहसिक प्रयास किया है। साथ ही इसमें मध्यमवर्गीय जीवन अपनी विशेष भंगिमा, समस्याओं और तल्लियों के साथ उभरा है। पुरुष और नारी पात्रों के विश्लेषण में नाट्यकार की रुचि विशेष रूप से दीख पड़ती है। इस गीतिनाट्य में वर्तमान जनजीवन में व्याप्त अनास्था, उद्देश्यहीनता और विसंगतियों की भी सशक्त अभिव्यक्ति हुई है तथा जीवन की कटुता का चित्रण होने पर भी परम्परावादी ढंग से समाधान खोजने पर अधिक बल रहा है।

1.4.4.5. अन्धा युग

डॉ० धर्मवीर भारती द्वारा रचित 'अन्धा युग' एक बहुचर्चित गीतिनाट्य है। इसका प्रकाशन वर्ष 1954 ई. में हुआ। अपने प्रकाशन से लेकर आज तक यह नाट्यकृति अपनी विषयवस्तु और शिल्प के कारण उल्लेखनीय रही है। इस कृति का कथानक पौराणिक एवं प्रख्यात होने पर भी आधुनिक मानव बोध एवं संवेदना से जुड़ा हुआ है। वस्तुतः धर्मवीर भारती ने अपनी प्रखर रचनात्मक योग्यता का परिचय देते हुए मिथकीय आवरण में समसामयिक समस्याओं को प्रस्तुत कर इस गीतिनाट्य को विचार और चिन्तन के स्तर पर स्तुत्य बना दिया है। इस नाट्य कृति में जिन समस्याओं का उठाया गया है, उनके सफल निर्वाह के लिए महाभारत के उत्तरार्द्ध की घटनाओं का सहारा लिया गया है। इस रचना में महाभारत के अट्ठारहवें दिन की संध्या से लेकर प्रभास तीर्थ में कृष्ण की मृत्यु के क्षण तक के घटना काल को समेटा गया है लेकिन केवल उन्हीं पात्रों का चयन किया गया है जो कृतिकार को अपनी बात कहने के लिए आवश्यक जान पड़े हैं। पौराणिक आख्यान को नवीन भावबोध से सम्पृक्त करने में गीतिनाट्यकार को जो सफलता प्राप्त हुई है वह इस कृति की महानतम उपलब्धि कही जा सकती है।

यद्यपि अन्धा युग के पात्र पौराणिक हैं, फिर भी आधुनिक सन्दर्भों की प्रासंगिकता का वहन करते हैं। उसमें मनोवैज्ञानिक और मिथकीय धारणा का अभूतपूर्व संयोग हुआ है। वे ऐतिहासिक चरित्र होते हुए भी विशिष्ट मानसिक प्रवृत्तियों, अन्तर्ग्रन्थियों एवं दृष्टिकोणों के प्रतीक हैं। प्रतीकात्मकता अन्धा युग के नामकरण में, कथानक में व पात्रों में सर्वत्र विद्यमान है। अन्धा युग कृति महाभारत की कथा के एक अंश का पुनराख्यान मात्र न होकर मानव के अन्तर्जगत् को अभिव्यक्त करने वाली कृति के रूप में बहुप्रशंसित व बहुचर्चित रही है। इसकी भाषा भी अपनी सरलता, टोन के उतराव-चढ़ाव, लय, क्रियात्मकता आदि के कारण नाटकीय स्थितियों का जो बिम्ब प्रस्तुत करती है, उससे भी यथार्थ का नवीन पक्ष का उद्घाटित होता है।

1.4.4.6. स्नेह या स्वर्ग

यह सेठ गोविन्ददास द्वारा रचित गीतिनाट्य है। यह गीतिनाट्य वस्तुतः यूनान के एक पौराणिक आख्यान पर आधारित है जिसमें नारी के जागरूक व्यक्तित्व का भारतीय शैली में चित्रांकन हुआ है। इसमें जगह-जगह पर नारी के अधिकारों और उसकी परिस्थितियों का विश्लेषण किया गया है। शिल्पगत वैशिष्ट्य के आलोक में इसकी

संवाद योजना स्तरीय एवं प्रवाहमयी है। संवादों का प्रयोग एक ओर जहाँ कथा को गतिशील बनाता है, वहीं दूसरी ओर कथानक को भी रोचक ढंग से प्रस्तुत करता है। कुल मिलाकर रचनाकार ने उद्देश्यों को प्राप्त करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है, अतीत के पट पर वर्तमान के चित्र को अंकित किया है तथा नारी जीवन से जुड़ी समस्याओं को प्रस्तुत करने में वह पूर्णतः सफल रहा है।

1.4.4.7. एक कण्ठ विषपायी

यह दुष्यन्त कुमार की बहुचर्चित गीतिनाट्य कृति है। इसका प्रकाशन वर्ष 1963 ई. में हुआ था। इसकी कथा दक्ष यज्ञ के समय पति के समय पति के अपमान को देखकर सती के दग्ध होने पर आधारित है। सती दाह के समाचार से आहत भगवान् शंकर देवताओं से युद्ध करने के लिए तैयार हो जाते हैं। हालाँकि, विष्णु के बीच-बचाव, स्थूल गाँधीवाद, नैतिकता आदि के कारण नाटकीय संघर्षों के लिए इसमें अवकाश नहीं रह गया है। शिल्प-विधान की दृष्टि से भाषिक सपाटता न तो नाटकीय बिम्बों की पूरी तरह से सृष्टि कर पाई है और न ही वर्णनात्मकता से आगे बढ़कर कथावस्तु ओर उसकी क्रियात्मकता को उभार सकी है। डॉ० गोविन्द चातक के मतानुसार इस नाट्यकृति में कथानक का संयोग इस ढंग से किया गया है कि मानवीय संघर्षशील स्थितियों के लिए अवकाश ही नहीं रह गया है।

1.4.5. पाठ-सार

हिन्दी साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में नाटक का विकास धीमी गति से हुआ है। नाटक को अभिनय, संगीत, नृत्य तथा अन्य दृश्य कलाओं से समन्वित होना पड़ता है। इस अर्थ में गीतिनाट्य भी एक जटिल रूपविधा है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि हिन्दी नाटक की भाँति गीतिनाट्य के सन्दर्भ में भी मंच का अभाव और स्वयं नाट्य विधा का स्वरूप बहुत हद तक इसका सीमांकन तय करते हैं। चूँकि, अन्य साहित्यिक विधाओं की तरह नाट्यकृतियाँ अपनी परम्परा से विच्छिन्न नहीं हो सकी हैं इसलिए मंद प्रगति के बावजूद गीतिनाट्य के विकास की सम्भावनाएँ हैं। यह सच है कि समकालीन दौर में बहुत सारा नाट्य सृजन किसी बड़ी नाट्य सम्भावना बिम्ब प्रस्तुत नहीं कर पाया है फिर भी विगत दशकों में हिन्दी नाट्य विधा में 'प्रयोग' की चर्चा सार्थक रूप में सामने आई है। गीतिनाट्यों में ज्ञान और संवेदन का मर्म एक साथ देखा जा सकता है। गीतिनाट्यों के भाषिक-विधान में शब्दों को सूक्तियों की तरह व्यक्त करने की अद्भुत क्षमता है। इस नयेपन अथवा प्रयोगशीलता के प्रभाव में समकालीन रचनाकारों ने गीतिनाट्य-भूमि को खोजने और रचने की ओर एक बार फिर से सार्थक व प्रभावी कदम उठाया है।

1.4.6. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. ओझा, दशरथ, हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, राजपाल एंड संस, नयी दिल्ली.
2. सिंह, बच्चन, हिन्दी नाटक, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. रस्तोगी, गिरीश, बीसवीं शताब्दी का हिन्दी नाटक और रंगमंच, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली.

4. वर्मा, रामकुमार (सं.), हिन्दी नाटक और रंगमंच, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद.
5. तनेजा, जयदेव, आधुनिककालीन भारतीय नाट्य विमर्श, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.
6. द्विवेदी, रेवताप्रसाद, नाट्यशास्त्र, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला.
7. जैन, नेमीचन्द्र, आधुनिक हिन्दी नाटक एवं रंगमंच, मेकमिलन प्रकाशन, नयी दिल्ली.
8. गुप्ता, अशोक कुमार व गुप्ता, कुमार मनोज, हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, मलिक एंड कंपनी, जयपुर.

1.4.7. बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. गीतिनाट्य के स्वरूप एवं विकास पर संक्षेप में प्रकाशडालिए।
2. हिन्दी के प्रमुख गीतिनाट्यों का परिचय दीजिए।
3. गीतिनाट्य में रस और भावाभिव्यंजना पर संक्षिप्त चर्चाकीजिए।
4. “हिन्दी गीतिनाट्य आधुनिक युग की देन है।” टिप्पणी कीजिए।
5. गीतिनाट्य की संवेदना और शिल्प को स्पष्ट कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. “हिन्दी गीतिनाट्यों में आधुनिक भाव-बोध का सफलतापूर्वक रूपांकन हुआ है।” विस्तार से चर्चा कीजिए।
2. हिन्दी के प्रमुख गीतिनाट्यों का उल्लेख कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. ‘अनघ’ किसकी रचना है ?

(क) जयशंकर प्रसाद
(ख) धर्मवीर भारती
(ग) भगवती चरण वर्मा
(घ) इनमें से कोई नहीं

2. ‘अन्धा युग’ का प्रकाशन कब हुआ ?

(क) 1952 ई.
(ख) 1954 ई.
(ग) 1955 ई.

(घ) 1956 ई.

3. 'एक कण्ठ विषपायी' के रचयिता हैं –

(क) उदयशंकर भट्ट

(ख) मृणाल पाण्डेय

(ग) दुष्यन्त कुमार

(घ) मोहन राकेश

4. 'स्नेह या स्वर्ग' के रचनाकार हैं –

(क) सेठ गोविन्ददास

(ख) जयशंकर प्रसाद

(ग) धर्मवीर भारती

(घ) दुष्यन्त कुमार

5. यूनान के एक पौराणिक आख्यान पर आधारित गीतिनाट्य है –

(क) एक कण्ठ विषपायी

(ख) स्नेह या स्वर्ग

(ग) अनघ

(घ) अन्धा युग

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 1 : हिन्दी नाटक साहित्य

इकाई – 5 : नुक्कड़ नाटक : स्वरूप, सम्प्रेषण की तीव्रता, प्रमुख नुक्कड़ नाटक

इकाई की रूपरेखा

1.5.0. उद्देश्य कथन
1.5.1. प्रस्तावना
1.5.2. नुक्कड़ नाटक का स्वरूप
1.5.3. सम्प्रेषण की तीव्रता
1.5.4. प्रमुख नुक्कड़ नाटक
    1.5.4.01. मशीन
    1.5.4.02. गाँव से शहर तक
    1.5.4.03. हत्यारा और अपहरण भाईचारे का
    1.5.4.04. डीटीसी
    1.5.4.05. हल्लाबोल
    1.5.4.06. आँख बन्द और डिब्बा गोल
    1.5.4.07. जादू शिक्षा का
    1.5.4.08. औरत
    1.5.4.09. जनता पागल हो गई है
    1.5.4.10. कुकड़ू-कूँ और दुःस्वप्न
    1.5.4.11. ज़मीन
    1.5.4.12. राजा का बाजा
1.5.5. पाठ-सार
1.5.6. बोध प्रश्न
1.5.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1.5.0. उद्देश्य कथन

यह इकाई नाटक की आधुनिक धारा नुक्कड़ नाटक से सम्बन्धित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. नुक्कड़ नाटक के स्वरूप के बारे में जान सकेंगे।
ii. नाटक में सम्प्रेषण किस प्रकार पैदा किया जा सकता है, इस विषय में जान सकेंगे।
iii. भारत वर्ष में खेले जा रहे विभिन्न नुक्कड़ नाटकों का अवलोकन करेंगे।

1.5.1. प्रस्तावना

सदा की तरह आज भी रंगकर्म दो धाराओं, दो मूलभूत विचारधाराओं में विभक्त है। एक धारा के रंगकर्मी तो वे हैं जिनके लिए रंगकर्म का अर्थ है - केवल नाटक करना। उनके नाटक की कला का आमजीवन से कोई सम्बन्ध नहीं, वे देश की स्थितियों, घटनाओं, या हो रहे बदलावों से अपने को पृथक् रखना ही बेहतर समझते हैं। उनकी कला मात्र कला के लिए होती है। दूसरी ओर रंगकर्मियों की वह जमात है जो रंगकर्म को एक माध्यम बनाते हैं। अपनी बात, जनता की बात को जनता के बीच ले जाने लिए उनका नाटक होता है। वे नाटकों द्वारा देश की वर्तमान स्थिति, रोज के बदलते मूल्य, आम आदमी का दर्द, उनका संघर्ष, उनकी सामाजिक स्थिति से लोगों को रूबरू करना कराना चाहते हैं। व्याप्त अन्धविश्वास, आडम्बर, पुरानी सड़ी-गली कुरीतियों, मान्यताओं को नष्ट कर एक नयी सोच, एक नया चिन्तन, एक नयी संस्कृति पैदा करना चाहते हैं। कहने का तात्पर्य है कि एक नाटक है आत्मतुष्टि, एक विशेष अभिजात्य वर्ग के मनोरंजन का साधक, यश की प्राप्ति तो दूसरा नाटक है जो अपेक्षित है, शोषित है, दुःख में डूबे हैं उन्हें मनोरंजन देने के साथ-साथ दुःख में डूबने से रोकना, दुःख से उबरने के लिए प्रेरित करना। इस विधा का नाम है नुक्कड़ नाटक जो लोकनाट्य परम्परा को अपने भीतर समाहित करती हुई जनता के बीच अपना योगदान दे रही है।

1.5.2. नुक्कड़ नाटक का स्वरूप

नाटक की मण्डली जनता के बीच में जाकर किसी बाहरी तामझाम के अपना नाटक पेश करती है, उसे नुक्कड़ नाटक कहते हैं। इसे अंग्रेजी में (Street Play) के नाम से भी जाना जाता है क्योंकि इसे गली के कौने, चौराहे आदि पर पेश किया जाता है। सामान्य शब्दों में कहा जा सकता है कि नुक्कड़ नाटक एक ऐसी नाट्य विधा है जो अन्य परम्परागत नाटकों से भिन्न है। इसे खेलने के लिए किसी रंगमंच की आवश्यकता नहीं होती। एक ऐसा नाटक जो गली के नुक्कड़, चौराहा, मैदान, पार्क, स्कूल, ऑफिस के दफ्तरों में मंचित किया जाता है, नाटक का यह रूप नुक्कड़ कहलाया। जयदेव तनेजा ने अपनी पुस्तक में लिखा है – "मंचमुक्त सड़क या नुक्कड़ नाटकों की सक्रियता एवं प्रभावशीलता जंगल की आग की तरह फैलती जा रही है। सामाजिक सार्थक और उत्तेजक कथ्य वाले इन जनजागरण प्रधान ज़रूरी प्रदर्शनों ने जन सामान्य में नयी हलचल पैदा की है।" (हिन्दी रंगकर्म दशा और दिशा, पृ. 143)

भारतवर्ष में नुक्कड़ नाटक को लोकप्रिय बनाने का श्रेय सफ़दर हाशमी को जाता है। उनके जन्मदिवस 12 अप्रैल को देशभर में राष्ट्रीय नुक्कड़ नाटक दिवस के रूप में मनाया जाता है। हिन्दी में नुक्कड़ नाटक अधुनातन होते हुए भी कहीं न कहीं लोक नाट्यपरम्परा से जुड़ता है। तेलगू में तो बाकायदा 'बीथी भागवतम्' अर्थात् गली का नाटक नाम से नाट्यरूप प्रचलित रहा है। प्रसिद्ध रंगकर्मी शिवराम नुक्कड़ नाटक का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहते हैं – "नुक्कड़ या चौपाल सिर्फ इसलिए अस्तित्व में नहीं आए कि प्रेक्षागृह हमारी पहुँच में नही था बल्कि इसलिए आए कि प्रेक्षागृहों की पहुँच जनसाधारण तक नहीं थी और हम अपने विचार लेकर जनसाधारण के बीच पहुँचने को व्यग्र थे। हमें यह विधा कितनी ही अधुनातन दिखे, इसकी परम्परा हमारे

लोकनाटक में मौजूद है। हमारे यहाँ प्रेक्षागृह की परम्परा जितनी पुख्ता है लोकनाट्य-परम्परा भी उतनी ही पुख्ता है।" (शिवराम, जनता पागल हो गई है, भूमिका)

बर्टोल्ड ब्रेख्त ने नुक्कड़ नाटक को इस प्रकार परिभाषित किया है – "नुक्कड़ नाटक बहुत पुरानी विधा है। इसकी उत्पत्ति, इसका लक्ष्य एवं उद्देश्य घरेलू हैं इसमें कोई शक नहीं कि यह समाज के लिए महत्त्व की चीज है जो उसके सभी तत्त्वों पर छाया हुआ है।" (हिन्दी नाटक और रंगमच, ब्रेख्त का प्रभाव, डॉ० सुरेश वशिष्ठ, पृ. 52)

नुक्कड़ नाटक को परिभाषित करते हुए सफदर हाशमी कहते हैं – "नुक्कड़ नाटक आधुनिक समाज के अर्न्तविरोधों और उनकी मुखालफत का माध्यम है। नुक्कड़ नाटक एक राजनैतिक आवश्यकता के रूप में भले ही एक समय स्वीकार किया गया हो पर अब वह बढ़ते-बढ़ते राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओं तक पहुँच गया है।" (सफदर हाशमी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ. 40)

नुक्कड़ नाटक की रचना किसी लेखक के द्वारा नहीं की जाती बल्कि यह तो वर्तमान समाज की राजनैतिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर किया जाता है। नुक्कड़ नाटक के लोकप्रिय विषय जन साधारण से जुड़ी समस्याएँ और उनका निराकरण है। राजनैतिक परिस्थितियों के अन्तर्गत राजनैतिक दल अपने प्रचार व प्रसार के लिए नुक्कड़ नाटक सरीखे माध्यम को अपनाकर जनता को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। बाल-विवाह, सर्वशिक्षा अभियान, स्वच्छता, नशाबंदी, पर्यावरण, पानी का महत्त्व, दहेजप्रथा, महिलाओं का शोषण, मजदूर वर्ग का शोषण, भुखमरी, महँगाई, साम्प्रदायिकता, बलात्कार, अन्धविश्वास, जातिगत भेदभाव आदि विषयों पर वर्तमान में नुक्कड़ नाटकों के माध्यम से जनता को जागरूक किया जाता है।

नुक्कड़ नाटक एक सन्देशवाहक नाटक होता है। यह अपने में नाटक-कला की विशिष्ट विधा है। नुक्कड़ नाटक के कलाकार कम से कम समय में आते-जाते दर्शकों का ध्यान खींचते हुए उनका मनोरंजन करते हुए न केवल सामाजिक जीवन के किसी विशिष्ट पहलू, किसी विशिष्ट स्थिति को उजागर करते हैं बल्कि उनके भीतर पाये जाने वाले अन्तर्विरोध को भी उघाड़कर सामने रख देते हैं और उसी के बल पर अपनी टिप्पणी भी करते हैं। ये दर्शकों तक अपना सन्देश ही नहीं पहुँचाते बल्कि उनके दिल और दिमाग को झकझोरते भी हैं, उन्हें सोचने पर मजबूर करते हैं। इस विधा में गम्भीर विषय को हल्के-फुल्के ढंग से और भी पूरे पैनेपन के साथ पेश करना बड़ी सूझ और जानकारी की अपेक्षा रखता है। यह कला-कौशल की ही बात नहीं प्रत्युत देशवासियों के जीवन के साथ गहरे जुड़ने, उनकी समस्याओं को समझने, उनके दुःख-दर्द को महसूस करने और वैचारिक धरातल पर सामाजिक स्थिति को सही परिप्रेक्ष्य में समझने और सन्तुलित, सकारात्मक, सद्भावना पूर्ण दृष्टि अपनाने की बात है।

अन्य आधुनिक विधाओं के समान ही नुक्कड़ नाटक भी पाश्चात्य प्रभाव से आया है। इस सन्दर्भ में सफदर हाशमी लिखते हैं – "नुक्कड़ नाटकों को हम जिस रूप में जानते हैं, उसका सीधा सम्बन्ध 1917 की सोवियत क्रान्ति के तत्काल बाद के वर्ष से ही जुड़ता है। अक्टूबर क्रान्ति की पहली जयन्ती पर व्सेवोलोद मायेर्होल्द ने टेंट शो के तत्त्वों और क्रान्तिकारी कविता को मिलाकर मायकोव्सकी के 'मिस्ट्रीबूफे' को नाट्यरूप

दिया और कई हजार दर्शकों के सामने शहर के बीच प्रस्तुत किया ।" (सफदर हाशमी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ. 43)

आज नुक्कड़ नाटक स्पेन, यूनाइटेड किंग्डम, जर्मनी, पाकिस्तान, हॉलैंड, सोवियत संघ, क्यूबा, अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, नेपाल, बांग्लादेश और बहुत सारे देशों में खेला जाता है। लेकिन भारत में इसका प्रचार-प्रसार अधिक है। भारत जब स्वतन्त्र हुआ तो जनता के मन में नयी आशाएँ जाग्रत् हुईं। देशवासियों ने खुशहाल देश का सपना देखा लेकिन वास्तविकता परे थी। देश में भ्रष्टाचार, बेरोजगारी, महँगाई, अन्धविश्वास जस के तस बने रहे। इससे आम जनता पस्त हो गई।

अस्सी के दशक में जन आन्दोलन उग्र होकर सारे भारतवर्ष में होने लगे। लोगों में क्रान्तिकारी चेतना जाग्रत् हुई फलस्वरूप नुक्कड़ नाटकों का आविर्भाव हुआ। इन नाटकों ने लोगों में जागरूकता लाने का काम किया। विशेष तौर से आम जनता को उसके अधिकारों के प्रति सचेत करने, शोषण से बचने व सामाजिक स्थिति को बदलने का कार्य किया। यह वही समय था जब देश में जनाक्रोश फैलने लगा और उसी के फलस्वरूप नुक्कड़ नाटक देश में खेले जाने लगे। भारत में इसका आविर्भाव इन्हीं जन संघर्षों के कारण इप्टा के अभियान के माध्यम रूप में हुआ। स्वतन्त्रता उपरान्त वह उस जनवादी शक्ति के साथ जुड़ गया जो जनता के आर्थिक और सामाजिक उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष जारी रख रही थी। भारत 1947 में आजाद हुआ तो सत्ता की बागडोर हमारे अपने ही लोगों के हाथ में आ गई। परिणामतः धीरे-धीरे नयी व्यवस्था का आविर्भाव हुआ। सत्तादल शक्तिशाली था। इस कारण से सरकार पूर्ण बहुमत से शासन करने लगी और उसने जनमानस की उपेक्षा करनी शुरू कर दी। इससे जनमानस का आक्रोश बढ़ने के साथ धरना-प्रदर्शन व नारेबाजी शुरू हो गए। पूर्ण बहुमत वाली सरकार के कानों में जनता की आवाज नहीं पहुँच रही थी। इसी आक्रोशमय वातावरण में 1967 के आस-पास अभिव्यक्ति के नये माध्यम के रूप में नुक्कड़ नाटक का प्रादुर्भाव हुआ।

जब भी किसी नये माध्यम का प्रयोग किया जाता है तो उसका विरोध मुखरित स्वर में होता है। ऐसा ही नुक्कड़ नाटक के साथ हुआ। प्रारम्भ में इस विधा को स्वीकार नहीं किया गया लेकिन घात-प्रतिघातों को सहते-सहते धीरे-धीरे नुक्कड़ नाटक जनता के बीच लोकप्रिय हो गया। आम जनता को प्रेक्षाग्रह से विमुख कर उसकी आशा और विचारों को प्रकट करने, सरकार को जगाने हेतु अपना संगठन मजबूत करने के साथ ही इसे हथियार के रूप में प्रयुक्त किया गया।

नुक्कड़ नाटक तात्कालिक घटनाओं व प्रासंगिक समस्याओं पर केन्द्रित होता है। इसे बिना किसी लाग-लपेट के गली-मुहल्लों में भी मंचित किया जा सकता है। इसे सीधी-सादी भाषा में प्रस्तुत कर अपनी बात जनता तक पहुँचायी जा सकती है। नुक्कड़ नाटक में चौपाल, चौराहा, खुली सड़क, मैदान, प्रेक्षाग्रह, आस-पास के पेड़, खम्बे, पत्थर आदि दृश्यबन्ध होते हैं। रंगमंच की विभिन्न तकनीकों जैसे लाइट, कास्ट्यूम, मेकअप, संगीत आदि से नुक्कड़ नाटक आज भी प्रायः असम्बद्ध ही है। सफदर हाशमी के जननाट्य मंच ने नुक्कड़ नाटक की विधा को माँजा और जनोपयोगी स्वरूप दिया। सफदर हाशमी की हत्या के बाद इस विधा की ताकत और भी खुलकर

सामने आई। नुक्कड़ नाटक स्वतन्त्र सत्ता के रूप में आ गया। युवा पीढ़ी में यह विधा बहुत लोकप्रिय हुई। सफदर और उसके साथियों के सधे हुए हाथों में नुक्कड़ नाटक का विकास हुआ। उन्होंने इस विधा को हमारे सांस्कृतिक क्षेत्र में स्थापित कर दिखाया। भारत में नुक्कड़ नाटक की स्थापना सफदर हाशमी की बड़ी देन है। नुक्कड़ नाटक का जन्म जन-संघर्षों के बीच हुआ है। जन-संघर्षों के मध्य ही यह फला-फूला और विकसित हुआ। आज नुक्कड़ नाटक राष्ट्रीय जन-आन्दोलन का सशक्त माध्यम बन चुका है।

1.5.3. सम्प्रेषण की तीव्रता

नुक्कड़ नाटक का मुख्य उद्देश्य है सम्प्रेषण। किसी बात को नाटक के माध्यम से दर्शकों के सम्मुख प्रस्तुत करके नाटककार विषय को सम्प्रेषित करता है। इसका उद्देश्य है कि श्रोता या पाठक लक्षित विषय को आसानी से समझ सकें और उसके भाव को अपने हृदय में आसानी से ग्रहण कर सकें। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो नुक्कड़ नाटक का लक्ष्य आम जनता तक अपनी बात को पहुँचाना है। जनता को धूर्त, चालाक, शोषक राजनेताओं से सचेत करना ही नुक्कड़ नाटक का मुख्य उद्देश्य है। इसमें कलाकार और दर्शक का सीधा तादात्म्य हो जाता है। शम्सुल इस्लाम के अनुसार नुक्कड़ नाटक अपनी हर प्रस्तुति के साथ विकसित होता है। जब ये लोगों के बीच खेला जाता है तब लोग आलोचना करते हैं और बहुत सुझाव देते हैं जिन्हें अगली प्रस्तुतियों में शामिल किया जाता है। इस प्रकार नुक्कड़ नाटक की हरेक प्रस्तुति उसका अभ्यास होती है। और सच तो यह है नुक्कड़ नाटक सामाजिक यथार्थ से जुड़ा है इसलिए इससे तुरन्त लोगों की समस्याओं से जुड़ने की ललक होती है और इसके चलते अगर कला की सूक्ष्मताओं से ध्यान हट भी जाता है तो इसमें जुर्म क्या है? (रंग प्रक्रिया के विविध आयाम, पृ. 170)

सम्प्रेषण किसी भी नाटक विधा के लिए अहम होता है। बिना सम्प्रेषण के नाटक का मूल भाव स्पष्ट नहीं हो पाता। नुक्कड़ नाटक में सम्प्रेषण की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। नुक्कड़ नाटक जनता की समस्याओं को उजागर करने के लिए प्रस्तुत किये जाते हैं। इसी से इन्हें स्थानीय जन सामान्य की भाषा-शैली में प्रस्तुत किया जाता है। ये दर्शकों को अपनी ओर सहज ही आकर्षित करते हैं। नुक्कड़ नाटकों की लोकप्रियता का कारण स्पष्ट करते हुए सफदर हाशमी कहते हैं – "राजनैतिक चेतना से लैंस यह नाटक जब जनता के बीच पहुँचते हैं तो फौरन अपना लिए जाते हैं। जनता की भाषा में, बिना किसी तामझाम के जनता की बात करने वाले ये नाटक जनता को अपने लगते हैं, यही कारण है कि इन नाटकों को जनता का आश्रय मिलता है।" (सफदर हाशमी, दीर्घा, दिसम्बर 1985, पृ. 26)

नुक्कड़ नाटक प्रस्तुत करते समय पात्रों का जनता से सीधा संवाद होता है। इसमें कोई दृश्य परिवर्तन नही होता और न ही अंक परिवर्तन। इसमें नायक भी नहीं होता। नुक्कड़ नाटक में सभी साधारण कलाकार होते हैं जो आम आदमी होते हैं। इसके संवाद न ज्यादा सरल होते हैं और न ही बहुत कठिन, बल्कि आम जनता की भाषा में होते हैं। इनकी भाषा मजदूरों की भाषा होती है। नुक्कड़ नाटक बहुत संक्षिप्त और सटीक होते हैं। इसका कारण है कि सड़क के किनारे दर्शकों को ज्यादा देर तक रोक पाना सम्भव नहीं होता। किसी बात को अन्य तक सम्पूर्णता

में पहुँचना ही सम्प्रेषण है। इसमें सम्प्रेरक और गृहीता सामाजिक का किसी न किसी माध्यम के सहारे हृदय-संवाद चलता रहता है इसलिए इसका असर शीघ्र होता है। डॉ० रमाशंकर जेतली के अनुसार वैसे तो सम्प्रेषण जीवन के पद-पद पर चलता दिखता है यदि यह न हो तो जीवन को गति ही न मिले, उसका प्रभाव सर्वथा अवरुद्ध हो जाये। पर यह क्षेत्र कला के साधारणीकृत सम्प्रेषण का है जिसमें सम्प्रेषित वस्तु के सहारे सम्प्रेरक अपनी सम्पूर्ण सत्ता को प्रभावशाली बनाकर सामाजिक तक पहुँचाता है। साथ ही सम्प्रेषण में अपने सशक्त संकेतों के माध्यम से अभिव्यक्त छन्द के सम्पूर्ण आयोजन के साथ सामाजिक का हृदय संवाद चलता रहता है। यहाँ वह कलाकार की भावानुभूतियों, विचारों, स्वप्नों, बिम्बों ओर छन्द-सन्तुलन और संगति, लयात्मक आरोह-अवरोह, अंगों का समानुपातिक विन्यास तथा रूप आदि एवं अर्हमन्यताओं और कमियों का भी अखण्ड बुद्धि से आस्वादन करता है।"। (काव्यशास्त्र एवं कलाशास्त्र, पृ. 253, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर)

नुक्कड़ नाटक में सम्प्रेषण की तीव्रता के कारण कलाकार और दर्शक के मध्य मेल होता है। नुक्कड़ नाटक को देखते हुए दर्शक अपनी वास्तविकता की ओर उन्मुख होता है। उसे लगता है कि ये सभी घटनाएँ उसके साथ घटित हो रही है। इन नाटकों के माध्यम से आम जन-जीवन की समस्याएँ दर्शकों के सामने प्रस्तुत की जाती हैं। सम्प्रेषण की तीव्रता के कारण दर्शक उसे सहज ही में ग्रहण करता है।

1.5.4. प्रमुख नुक्कड़ नाटक

1.5.4.01. मशीन

यह जननाट्य मंच का पहला नाटक है। इसे जननाट्य मंच द्वारा 1978 में लिखा गया। जनम द्वारा इस नाटक को दो लाख मजदूरों की विशाल सभा के सामने आयोजित किया गया। यह नाटक मजदूरों की समस्याओं पर लिखा गया है। इसमें मजदूरों की संज्ञा मशीन से दी गई है। जिस प्रकार मशीन बिना रुके दिन-रात काम करती रहती है उसी तरह मजदूर भी दिन-रात काम करता है और बदले में उसे पूरी पगार भी नहीं मिल पाती तथा पिटाई भी सहनी पड़ती है।

1.5.4.02. गाँव से शहर तक

यह नाटक भी जनम द्वारा आयोजित किया गया है। इस नाटक में निम्नवर्गीय किसानों की बेचैनी को दर्शाया गया है। इस नाटक में मजदूरों की दयनीय ज़िंदगी का चित्रण है मजदूरों को पूरे दिन काम करने के पश्चात् वेतन समय पर नहीं मिलता। इस कारण रोटी कमाना मुश्किल हो गया है। बेरोजगारी, भुखमरी, महँगाई के कारण भरपेट खाना भी नहीं मिलता। इसमें अफसरों द्वारा वेतन का जबरदस्ती जमा करना आदि शोषण का विस्तार से वर्णन किया गया है। इस नाटक द्वारा मजदूरों में चेतना लाने का प्रयास किया गया है।

1.5.4.03. हत्यारा और अपहरण भाईचारे का

सफदर हाशमी द्वारा लिखित इस नाटक में साम्प्रदायिक फासीवाद को दर्शाया गया है। देश में हिन्दू-मुस्लिम और सिख तीनों के धार्मिक भाईचारे का संगठित रूप दिखाया गया है। किस तरह तीनों संगठन भाईचारे का अपहरण करते हैं, धर्म के नाम पर जनता को बेबकूफ बनाया जा रहा है, साम्प्रदायिक दंगे करवा कर निरीह जनता को परेशान किया जाता है आदि मुद्दों को इस नुक्कड़ नाटक द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान की गई है।

1.5.4.04. डीटीसी

महँगाई पर आधारित यह नाटक जननाट्य मंच द्वारा दिल्ली परिवहन निगम द्वारा बस किराये में भारी बढ़ोतरी के खिलाफ रचा गया। जनम ने जनता के सामने इस नाटक का पहला प्रदर्शन 8 फरवरी को किया। इसी दिन से बस का किराया लागू किया गया था। इस नाटक का जनता पर इतना असर हुआ कि जनता ने नाट्य कलाकारों के साथ-साथ डी.टी.सी. के विरुद्ध नारे लगाये। पुलिस ने नाटक में बाधा डालने की कोशिश की लेकिन दर्शकों ने उन्हें हूट करके भगा दिया। इस नाटक का मंचन कई बार किया गया। पुलिस ने कलाकारों को गिरफ़्तार कर लिया। नाटक में बाधा पहुँचाने और कलाकारों को गिरफ़्तार करने के विरोध में बुद्धिजीवी वर्ग द्वारा एक वक्तव्य जारी किया गया। इस वक्तव्य पर हस्ताक्षर करने वालों में भीष्म साहनी, विष्णु प्रभाकर, हंसराज रहबर, एस.के. रैना, दादा पदमजी, मंजीत बाबा, विवान सुन्दरम्, रामेश्वर बूटा आदि थे। इस वक्तव्य पर फिल्मकार सईद मिर्जा व कुन्दन शाह ने भी हस्ताक्षर किये। सफदर हाशमी ने अपने एक लेख में इस बारे में लिखा है – "पुलिस रंगकर्मियों को इसलिए रोकती है क्योंकि नुक्कड़ नाटक अपनी प्रकृति में राजनीति होती है। उनका दमन इसलिए किया जाता है क्योंकि वे सामाजिक समस्याओं को उठाते और अपने दर्शकों के सामने उनका वैज्ञानिक विश्लेषण पेश करते हैं। नुक्कड़ नाटकों का दमन करते हुए पुलिस राज्यसत्ता का ही हित साध रही होती है क्योंकि राज्यसत्ता असहमति और विरोध के प्रति लगातार अधिकाधिक असहिष्णु होती जा रही है।" (सफदर हाशमी, जननाट्य मंच, दिल्ली, पृ. 41)

1.5.4.05. हल्लाबोल

इस नाटक को जननाट्य मंच द्वारा 1989 में प्रस्तुत किया गया। यह नाटक शोषित वर्ग के मजदूरों की समस्याओं पर लिखा गया है। इसमें इस बात पर बल दिया गया है कि मजदूर अपने हक के लिए लड़ें। साथ ही पुलिस की नीतियों व अवसरवादी प्रवृत्ति पर भी प्रश्न उठाया गया है कि पुलिस किस प्रकार पूँजीपतियों का साथ देकर मजदूरों को दबाने का प्रयास करती है।

1.5.4.06. आँख बन्द और डिब्बा गोल

यह नाटक राजेश कुमार और किशोर कुमार द्वारा लिखा गया है। इस नाटक में राजनीति, महँगाई और अर्थशास्त्र आदि मुद्दों पर प्रकाश डाला गया है।

1.5.4.07. जादू शिक्षा का

विवेकजी का नुक्कड़ नाटक 'जादू शिक्षा का' जिला शिक्षा केन्द्र मण्डला तथा कलापथ के कलाकारों द्वारा अनेक चौराहों पर अभिनित किया गया है। यह नुक्कड़ नाटक मध्यप्रदेश शासन के आदिवासी शिक्षा विभाग द्वारा प्रथम पुरस्कार प्राप्त है। इसे जिला पंचायत मण्डला ने पुस्तिका के रूप में प्रकाशित करवाकर वितरित भी किया है।

1.5.4.08. औरत

घरेलू हिंसा पर आधारित इस नाटक को सफदर हाशमी ने अपने साथियों के साथ मिलकर लिखा था। यह नारी की सामाजिक स्थिति पर लिखा गया नाटक है। इस नाटक द्वारा नारी पर हुए हत्याचारों का पुरजोर विरोध हुआ है। इस नाटक में औरत के जीवन की वास्तविकता को उकेरा गया है। इस नाटक में मेहनत करती औरत, शोषण की चक्की में पिसती औरत और पुरुष वर्ग की उसके प्रति मानसिकता को दर्शाया गया है। इस नाटक में उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग व निम्न वर्ग की औरतों का विश्लेषण किया गया है। इसके माध्यम से व्यक्त किया गया है कि औरत तो औरत ही होती है चाहे वह पूँजीपति हो या खाकपति। नाटक के समापन में शोषण और उत्पीड़न के खिलाफ आवाज को बुलन्द किया गया है। साथ ही यह नाटक यह सन्देश भी देता है कि जब तक संगठित नहीं होंगे तब तक अपने हक के लिए आवाज नहीं उठा पाएँगे। नाटक मण्डली द्वारा खेले गये नुक्कड़ नाटक 'औरत' को हिन्दीभाषी क्षेत्र में अपूर्व ख्याति मिली। 1980 ई. से पहले ही इस नाटक के सैकड़ों प्रदर्शन हो चुके थे बाद में भी इसके हजारों प्रदर्शन हुए। भारत के अलावा श्रीलंका, बांग्लादेश और पाकिस्तान में भी इसके अनेक प्रदर्शन हुए।

1.5.4.09. जनता पागल हो गई है

'जनता पागल हो गई है' नाटक शिवराम द्वारा रचित है। शिवराम के नाटक भारतीय लोकनाट्य परम्परा से जुड़े हुए हैं इसलिए जनता को अधिक प्रभावित करते हैं। 'जनता पागल हो गई है' नाटक जनता के साथ उद्योगपति और सरकार के छल, पुलिस के साथ सरकार के गठजोड़ तथा पूँजीवादी व्यवस्था के शोषण-तन्त्र को कदम-दर-कदम उद्घाटित करता है और अन्ततः जनता का विद्रोह दर्शाता है। आपातकाल से पूर्व इस नाटक के कई प्रदर्शन नुक्कड़ों, चौपालों पर खेले गए। 1974 के उत्तरार्द्ध में इसका प्रकाशन हुआ।

1.5.4.10. कुकड़ू-कूँ

'कुकड़ू-कूँ' नाटक शिवराम द्वारा रचित है। 'कुकड़ू-कूँ' लोकतान्त्रिक अधिकारों के हनन और सत्ता के तानाशाही चरित्र पर करारी चोट करता है। 'कुकड़ू-कूँ' नाटक आपातकाल के दौरान लिखा गया। इसमें सत्ता की तानाशाही प्रवृत्ति पर करारी व्यंग्य चोट है और उसे निर्मूल करने का सन्देश भी।

1.5.4.10. दु :स्वप्न

दुःस्वप्न नाटक शिवराम द्वारा रचित है। 'दुःस्वप्न' नाटक भी आपातकाल के दौरान लिखा गया। इसमें शोषकों के प्रति विद्रोह प्रकट किया गया है और साथ ही दर्शाया गया है कि शोषित जनता पूँजीपतियों का विरोध करती है।

1.5.4.11. ज़मीन

'ज़मीन' नाटक शिवराम द्वारा रचित है। इसमें भूमिहीनों के साथ व्यवस्था का मज़ाक और भूमि के लिए संघर्ष की कथा है। शिवराम ने जनता से आह्वान किया है कि यदि संघर्ष से जीतना है तो साहस जुटाना ही होगा। शिवराम के नाटक 'उत्तरार्द्ध', 'इबारत' और 'परिपत्र' में छपे थे।

1.5.4.12. राजा का बाजा

इस नाटक को जननाट्य मंच द्वारा लिखा गया। इसमें शिक्षा के क्षेत्र में होने वाले भ्रष्टाचार का वर्णन किया गया है। उच्च शिक्षित वर्ग व अधिकारी अपने स्वार्थ के लिए पदों का दुरुपयोग करते हैं और छात्रों के हित को अनदेखा कर उनका हक मारते हैं।

1.5.5. पाठ-सार

नुक्कड़ नाटक अन्य रंगमंचीय नाटकों से भिन्न विधा है। यह जनता के दुःख व कष्टों को प्रकट करता है। इसे खेलने के लिए किसी तामझाम की आवश्यकता नहीं होती। नाटक की मण्डली जनता के बीच जाकर बिना किसी बाहरी तामझाम के अपना नाटक पेश करती है। इसे गली के कौने, चौराहे आदि पर मंचित किया जाता है। नुक्कड़ नाटक अंग्रेजी में (Street Play) के नाम से जाना जाता है। इसमें सम्प्रेरक और गृहीता सामाजिक का किसी न किसी माध्यम के सहारे हृदय-संवाद चलता रहता है इसलिए इसका असर शीघ्र होता है। 'मशीन', 'औरत', 'हल्लाबोल', 'गाँव से शहर तक', 'हत्यारा', 'राजा का बाजा', 'जनता पागल हो गई है', 'जादू शिक्षा का' आदि विभिन्न रंगकर्मियों द्वारा लिखे गये प्रमुख नुक्कड़ नाटक हैं।

1.5.6. बोध प्रश्न

1. हिन्दी नाटकों में नुक्कड़ नाटक का स्थान निर्धारित कीजिए।
2. नुक्कड़ नाटक की परिभाषा देते हुए किन्हीं चार प्रमुख नुक्कड़ नाटक के बारे में लिखिए।
3. नुक्कड़ नाटक किसे कहते हैं? यह अपना कथ्य जनता तक किस प्रकार सम्प्रेषित करते हैं?
4. नुक्कड़ नाटक का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसके उद्भव पर प्रकाश डालिए।

1.5.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. रंग प्रक्रिया के विविध आयाम, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली
2. जनता पागल हो गई है, शिवराम, बोधि प्रकाशन, जयपुर
3. उत्तरार्द्ध, जुलाई 1989, अंक 35
4. सफदर हाशमी, दीर्घा, दिसम्बर 1985
5. काव्यशास्त्र एवं कलाशास्त्र, रमाशंकर जेतली, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर
6. सफदर, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
7. हिन्दी रंगकर्म : दशा और दिशा, जयदेव तनेजा
8. हिन्दी नाटक और रंगमंच, ब्रेख्त का प्रभाव, डॉ॰ सुरेश वशिष्ठ, तक्षशिला प्रकाशन

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 2 : रंगमंच : एक प्रदर्शनकारी कला

इकाई – 1 : रंगमंच की परिकल्पना, व्याख्या, प्रकृति तथा स्वरूप : परिचयात्मक पाठ

इकाई की रूपरेखा

2.1.0. उद्देश्य कथन
2.1.1. प्रस्तावना
2.1.2. निष्पादन कला
2.1.2.1. निष्पादन कला के विभिन्न प्रकार
2.1.2.2. रंगमंच
2.1.2.3. रंगमंच का आविर्भाव
2.1.2.4. भारत के प्राचीन रंगमंच
2.1.2.5. भारत के वर्तमान रंगमंच
2.1.2.6. चित्रपट और रंगमंच
2.1.3. रंगमंच का स्वरूप
2.1.4. रंगमंच के प्रकार
2.1.4.01. कठपुतली
2.1.4.02. विश्व में कठपुतली की शुरूआत
2.1.4.03. नृत्य-नाटक
2.1.4.04. पश्चिम में नृत्य-नाटक
2.1.4.05. संगीत-नाटक
2.1.4.06. पश्चिम में संगीत-नाटक
2.1.4.07. भारत में संगीत-नाट्य
2.1.4.08. मूकाभिनय
2.1.4.09. मूकाभिनय का स्वरूप
2.1.4.10. पश्चिम में मूकाभिनय के स्रोत
2.1.4.11. रंगमंच की अन्य विधाओं से मूकाभिनय का सम्बन्ध
2.1.5. पाठ-सार
2.1.6. बोध प्रश्न

2.1.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. रंगमंच की परिभाषा तथा परिकल्पना को समझ सकेंगे।

ii. रंगमंच की प्रकृति और स्वरूप का अध्ययन कर सकेंगे।

iii. निष्पादन कला के विभिन्न प्रकारों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

iv. रंगमंच के प्रदर्शन के आधारों को समझ सकेंगे।
v. रंगमंच के महत्त्व को आत्मसात कर सकेंगे।

2.1.1. प्रस्तावना

प्रथम खण्ड की पिछली इकाइयों में आपने नाटक के स्वरूप, तत्त्व तथा प्रकारों का अध्ययन किया है। नाटक का उद्‌भव एवं विकास, एकांकी नाटक, गीतिनाट्य और नुक्कड़ नाटक के स्वरूप को आपने समझ लिया है। प्रस्तुत खण्ड में आप प्रदर्शनकारी कला रंगमंच का परिचयात्मक पाठ पढ़ेंगे। रंगमंच की परिभाषा, परिकल्पना, तथा प्रकृति एवं स्वरूप का अध्ययन करेंगे।

2.1.2. निष्पादन कला

रंगमंच एक निष्पादन कला है। निष्पादन कलाएँ (Performing arts) वे कलाएँ हैं जिनमें कलाकार अपने शरीर भावभंगिमा, मुखमण्डल आदि के द्वारा कला का प्रदर्शन करते हैं। निष्पादन कला के विपरीत दृश्य कला में कलाकार अपनी कला-कुशलता का प्रयोग कर भौतिक वस्तुएँ जैसे - चित्र या शिल्प बनाते हैं। निष्पादन कला के अन्तर्गत कई कलाएँ मौजूद हैं। इनमें साम्यता यह है कि इन्हें प्रत्यक्ष रूप से दर्शकों के सामने प्रदर्शित कर सकते हैं।

2.1.2.1. निष्पादन कला के विभिन्न प्रकार

निष्पादन कला के अन्तर्गत मूल रूप से संगीत, नृत्य, रंगमंच और सम्बन्धित कलाएँ आती हैं। जादू, कठपुतली, सर्कस, गान, भाषण आदि इस कला के दूसरे रूप हैं। निष्पादन कला का प्रदर्शन करने वाले को कलाकार कहते हैं। ये कलाकार नायक, विदूषक, नर्तक, जादूगर, संगीतकार, गायक आदि हो सकते हैं। निष्पादक-कलाकार वे भी हैं जो इस कला को परदे के पीछे से सहारा देते हैं। यथा – लिरिसिस्ट, रंगमंच सूत्रधार आदि। कलाकारों की पहचान उनके आवरण से होती है। वे अपने पहनावे, रंगमंच के आवरण, रोशनी, शब्द आदि से पहचान पाते हैं।

2.1.2.2. रंगमंच

रंगमंच निष्पादन कला की वह शाखा है जहाँ कहानियों को दर्शकों के सामने प्रदर्शित किया जाता है। इसके अन्तर्गत सम्भाषण, संकेत, संगीत और नृत्य आदि का प्रयोग होता है। सामान्यतः रंगमंच-प्रदर्शन में संवाद का अधिक महत्त्व होता है। रंगमंच एकांकी, संगीतसभा, नृत्य, इन्द्रजाल, जादू, मूककला, शास्त्रीय नृत्य, स्टैंडअप कॉमेडी आदि रूपों में प्रदर्शित किया जाता है।

रंगमंच (थिएटर) वह स्थान है जहाँ नृत्य, नाटक, खेल आदि हो। रंगमंच शब्द रंग तथा मंच दो शब्दों के मेल से बना है। रंग इसलिए प्रयोग किया गया है कि दृश्य को आकर्षक बनाने के लिए दीवारों, छतों और पर्दों पर

विविध प्रकार की चित्रकारी की जाती है। अभिनेताओं की वेशभूषा तथा सज्जा में भी विविध रंगों का प्रयोग होता है। 'मंच' शब्द इसलिए प्रयुक्त हुआ है कि दर्शकों की सुविधा के लिए रंगमंच का तल फर्श से कुछ ऊँचा रहता है। दर्शकों के बैठने के स्थान को प्रेक्षागृह, रंगशाला या नाट्यशाला (या नृत्यशाला) कहते हैं। पश्चिमी देशों में इसे थिएटर या ऑपेरा कहा जाता है।

2.1.2.3. रंगमंच का आविर्भाव

ऐसा माना जाता है कि नाट्यकला का विकास सर्वप्रथम भारत में ही हुआ। ऋग्वेद के कुछ सूत्रों में यम और यमी, पुरूर्वा और उर्वशी आदि के कुछ संवाद हैं। इन संवादों में लोग नाटक के विकास का चिह्न पाते हैं। अनुमान किया जाता है कि इन्हीं संवादों से प्रेरणा ग्रहण कर लोगों ने नाटक की रचना की एवं नाट्यकला का विकास हुआ। कालान्तर में भरतमुनि ने उसे शास्त्रीय रूप दिया। भरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में नाटकों के विकास की प्रक्रिया को इस प्रकार व्यक्त किया है – "नाट्यकला की उत्पत्ति दैवी है अर्थात् दुःखरहित सत्ययुग बीत जाने पर त्रेतायुग के आरम्भ में देवताओं ने स्रष्टा ब्रह्मा से मनोरंजन का कोई ऐसा साधन उत्पन्न करने को कहा जिससे देवता लोग अपना दुःख भूल सकें और आनन्द प्राप्त कर सकें। परिणामस्वरूप उन्होंने ऋग्वेद से कथोपकथन, सामवेद से गायन, यजुर्वेद से अभिनय तथा अर्थवेद से रस लेकर, नाटक का निर्माण किया। विश्वकर्मा ने रंगमंच बनाया आदि-आदि।"

नाटकों का विकास चाहे जिस प्रकार हुआ हो, संस्कृत साहित्य में नाट्यग्रन्थ और तत्सम्बन्धी अनेक शास्त्रीय ग्रन्थ लिखे गए। साहित्य में नाटक लिखने की परम्परा संस्कृत आदि से होती हुई हिन्दी को भी प्राप्त हुई। पाश्चात्य विद्वानों की धारणा है कि धार्मिक कृत्यों से ही नाटकों का प्रादुर्भाव हुआ। धीरे-धीरे रंगस्थल का स्वरूप दर्शकों की संख्या एवं सुविधा की दृष्टि से अलग-अलग प्रकार का होने लगा।

2.1.2.4. भारत के प्राचीन रंगमंच

भारत में रंगमंच का इतिहास बहुत पुराना है। ऐसा माना जाता है कि छत्तीसगढ़ में स्थित रामगढ़ के पहाड़ पर महाकवि कालिदास द्वारा निर्मित एक प्राचीनतम नाट्यशाला मौजूद है। रामगढ़ सरगुजा जिले के उदयपुर क्षेत्र में है। यह अम्बिकापुर-रायपुर हाईवे पर स्थित है। कहा जाता है कि कालिदास ने अपने महाकाव्य मेघदूतम् की रचना भी रामगढ़ के पहाड़ पर ही की थी। सीतावंगा की गुफा को देखने से पुराने नाट्य-मण्डपों के स्वरूप का कुछ अनुमान हो जाता है। पाश्चात्य नाट्य-मण्डप खुले मैदानों में बनते थे।

2.1.2.5. भारत के वर्तमान रंगमंच

आधुनिक भारतीय नाट्य साहित्य का इतिहास एक शताब्दी से अधिक पुराना नहीं है। इस्लाम धर्म की कट्टरता के कारण नाटक को मुगलकाल में अधिक प्रोत्साहन नहीं मिला अतः इस काल में भारतीय परम्परा की अभिनयशालाओं अथवा प्रेक्षागारों का सर्वथा लोप हो गया किन्तु रामलीला आदि की तरह लोककला के माध्यम

से भारतीय थिएटर जीवित रहे। अंग्रेजी शासन में उनके देश की अनेक वस्तुओं ने हमारे देश में प्रवेश किया। उनके मनोरंजन के निमित्त पाश्चात्य नाटकों का भी प्रवेश हुआ। उन लोगों ने अपने नाटकों के अभिनय के लिए यहाँ अभिनयशालाओं का संयोजन किया। वे थिएटर के नाम से अधिक विख्यात हैं। इस प्रकार का थिएटर पलासी के युद्ध के बहुत पहले कलकत्ता में बन गया था। इसके बाद 1795 ई. में दूसरा थिएटर 'लेफेड फेयर' के नाम से खुला। 1812 ई. में 'एथीनियम' और 1813 ई. में 'चौरंगी' थिएटर खुले। इस प्रकार पाश्चात्य रंगमंच के सम्पर्क में सबसे पहले बंगाल आया। दूसरी ओर बंबई में पारसी लोगों ने इन विदेशी अभिनयशालाओं के अनुकरण पर भारतीय नाटकों के लिए एक नये ढंग की अभिनयशाला को जन्म दिया। ये पारसी नाटक कंपनियों का कार्य था।

2.1.2.6. चित्रपट और रंगमंच

चित्रपट (सिनेमा) के आ जाने से रंगमंच का स्थान बहुत सीमित हो गया। विशाल प्रेक्षागृहों में केवल एक छोटा-सा रंगमंच जिस पर कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर छोटे-छोटे नृत्य या एकांकी आदि खेले जा सकें, बना देना पर्याप्त समझा जाता है। पृष्ठभूमि पर रजतपट रहता है। दर्शकों के लिए अधिक स्थान रहने के कारण उपयुक्त संवातन, ध्वनि-नियन्त्रण एवं अन्य व्यवस्थाओं की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। वर्तमान में पाँच-छह हजार दर्शकों की क्षमता वाले बड़ी सुखप्रद कुर्सियों से युक्त प्रेक्षागृह सभी बड़े नगरों में बनते हैं। सिनेमा का आकर्षण अधिक होने पर भी, नाटकों के लिए उपयुक्त रंगमंच बनाने का प्रयास पाश्चात्य देशों में हो रहा है। मनोरंजन की दृष्टि से कम, शिक्षा की दृष्टि से इनकी उपयोगिता अधिक समझी गई है। शैक्षणिक रंगमंच में अमेरिका अग्रणी है। अमेरिकी शैक्षणिक रंगमंच की शाखाएँ बहुत से विश्वविद्यालयों में खुली हैं। भारत में यद्यपि सिनेमा अधिक लोकप्रिय है फिर भी यहाँ देहात अधिक होने के कारण रंगमंच के लिए अब भी पर्याप्त क्षेत्र है। यह यहाँ के सामाजिक जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग बना रहेगा। यहाँ सरकारी सहायता भी मिलती रहती है।

2.1.3. रंगमंच का स्वरूप

नाटक एक ऐसा सर्जनात्मक दृश्य-काव्य है जिसका कोई निश्चित स्वरूप अथवा परिभाषा सुनिश्चित करना कठिन है। नाटक एवं रंगमंच जीवन की भाँति निरन्तर गतिशील एवं चेतना सम्पन्न है। साहित्यिक अन्वेषण की दृष्टि से परिभाषा का निजी महत्त्व होता है। भारतीय मनीषियों ने नाटक को 'काव्येषु नाटक रम्यम्', 'दृश्य-काव्य', 'चाक्षुष यज्ञ', 'पंचम वेद', 'सभी कलाओं, विधाओं तथा वाङ्मय का समूह', 'प्रयोगमूलक कला' आदि अनेक विशेषणों से एक अलग पहचान दी है। नाटक-रंगमंच, साहित्य की सभी विद्याओं, काव्य, कथा, उपन्यास आदि के साथ भी गहनता से सम्बद्ध है। नाटकीय अनुभूति एक ऐसी काव्यात्मक अनुभूति है जो कहानी अथवा उपन्यास की विभिन्न घटनाओं से भी प्राप्त की जा सकती है किन्तु रंगमंच, कला की हर विधा में अलग-अलग ढंग से जुड़ जाती है इसीलिए यह विद्या नाटकीय होती है। इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए निर्मल वर्मा कहते हैं, "नाटकीयता की हर कला विद्या में मौजूद रहती है किन्तु हर विद्या नाटक नहीं होती।"

जब मानवीय चेतना की अन्तःसृष्टि और व्यापक अनुभूति को जीवन्तता एवं समग्रता के साथ प्रदर्शित किया जाता है तो नाटकीयता निखर कर प्रस्तुत होती है। नाटक-रंगमंच की श्रेष्ठता केवल प्रदर्शन तथा यथार्थ दर्शन में नहीं है किन्तु भावानुभूति, कल्पना, विचार-दर्शन के समन्वित सत्य, अनुरूप रंग-मिश्रण तथा रेखांकन की स्वर-मैत्री के समन्वय में है। नाटक तथा रंगमंच को अलग रूप में देखना अनुचित है। दोनों का सम्बन्ध शरीर-प्राण की भाँति अनिवार्य है। नाटक न केवल साहित्य है न केवल रंगमंच। वह अपनी शब्दार्थ-योजना में अत्यन्त सूक्ष्म और रंगमंच पर इन्द्रियगम्य प्रदर्शन के रूप में अत्यन्त स्थूल है । स्थूलता और सूक्ष्मता का यह समन्वय विलक्षण नाट्यानुभूति से जुड़ा है । इसकी पहचान केवल ऊपरी संतह से नहीं बल्कि हृदय की गहराई में उतरकर ही की जा सकती है। नाटक-रंगमंच को सर्जनात्मक अभिव्यक्ति का एक ऐसा जीवन्त तथा रसप्रद स्वरूप माना जा सकता है जिसमें संवादमूलक कथा या आलेख को अभिनेताओं द्वारा अन्य रंगशिल्पियों की सहायता से किसी रंगमंच पर दर्शक-समूह के सामने प्रदर्शित किया जाता है । यह प्रदर्शन कभी संवाद, कभी संगीत, कभी नृत्य और कभी इन सभी का समन्वित स्वरूप होता है। कभी आधुनिक संयन्त्रों से सुसज्जित रंग-भवनों में प्रस्तुत होता है और कभी खुले में, हजारों दर्शकों के बीच घिरे हुए उन्मुक्त वातावरण में। नाटक के 'नट' शब्द का अर्थ नृत्य, व्यायाम आदि है। वह अपने कार्य एवं कार्यप्रणाली से पहचाना जाता है। 'रंगमंच' शब्द आज पश्चिम के 'थिएटर' का पर्याय है। रंगमंच के तत्त्वों में से नाट्यकृतित्व, प्रस्तुतीकरण, रंगमंच, अभिनेता, वातावरण, दृश्य योजना, प्रकाश, संगीत, ध्वनि-प्रभाव आदि का रंगमंचीय कला से सम्बन्ध है। अतः नाटक एवं रंगमंच अपने शब्द-अर्थ, प्रदर्शन-प्रक्रिया आदि में परस्पर सम्बद्ध तथा अन्योन्याश्रित है।

2.1.4. रंगमंच के प्रकार

रंगमंच अनेक कलाओं को साथ लेकर चलने वाला प्रदर्शनकारी माध्यम है। रंगमंच में अनेक प्रदर्शनकारी कलाएँ समाहित हैं। रंगमंच अपने आप में सम्पूर्ण अनुभव है । यह अपनी आरम्भिक संकल्पनाओं में यथार्थवादी से शैलीबद्ध पद्धतियों को लेकर चला है। इसमें अभिनयपूर्ण मुखमुद्राएँ, शारीरिक गतियों के साथ-साथ नृत्य और संगीत भी अनिवार्य रूप से जुड़े हैं। मुखौटा, कठपुतली, संगीत, नृत्य, मूकाभिनय आदि रंगमंच के धरातल पर एक दूसरे से जुड़े हुए हैं । एक इकाई के तौर पर ये अलग-अलग भी हैं। रंगमंच से जुड़कर उसी के अंग हो जाते हैं। इनमें से प्रत्येक को कलात्मक रूप और शैली के कालगत तथा सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश के सन्दर्भों में स्पष्ट रूप से पहचाना जा सकता है।

मुखौटा मनुष्य की कल्पनाशीलता और सृजनात्मकता का सुन्दर उदाहरण है । मुखौटा मनुष्य को वह आवश्यक दूरी और छिपाव देता है जिसके बिना किसी विशेष बात को कहना असम्भव होता है। कहा भी जाता है कि मनुष्य अलग-अलग स्थितियों में अपने चेहरे पर अलग-अलग भावों के मुखौटे पहनता है। रंगमंच से जुड़कर मुखौटे 'कुछ और' हो जाते हैं । नाट्य व्यापार के अन्तर्गत ये किन्हीं विशिष्ट स्थितियों, मनःस्थितियों और परिस्थितियों को स्पष्ट एवं सम्प्रेषित करने लगते हैं। मुखौटा वह रंगयुक्ति है जो पहनने वाले के चेहरे को ढँककर उसे नयी भंगिमा और पहचान देते हैं।

भारतीय नाट्यशास्त्र में चार प्रकार के अभिनयों की चर्चा की गई है। यथा – वाचिक, आंगिक, आहार्य और सात्त्विक। इनमें से सात्त्विक अभिनय को अभिनय की कसौटी कहा गया है। मुँह पर पहने जाने के कारण मुखौटा आहार्य अभिनय के अन्तर्गत आता है। मुखौटा धारण करने से अभिनेता के सात्त्विक अभिनय की सम्भावना समाप्त हो जाती है। मुखौटे की वजह से मुख की जो विविध भाव-भंगिमाएँ हो सकती हैं, वह व्यक्त नहीं हो पातीं। रंगमंच में मुखौटे के प्रयोग की महत्ता यह है कि मानव प्रकृति में बहुत कुछ ऐसा है जो कहने या दिखाने में भाषा और भाव से सम्भव नहीं होता। ऐसे में मुखौटे का सर्जनात्मक प्रयोग एक नाटकीय अर्थ रचता है।

भारत विभिन्न संस्कृतियों का देश है। यहाँ हर प्रदेश की अपनी संस्कृति और परम्परा के अनुरूप लोकनाट्यों की अविच्छिन्न धारा हजारों सालों से बहती चली आई है। हड़प्पा संस्कृति के अवशेषों में भी मुखौटे मिले हैं। ये पक्की मिट्टी (टेरीकोटा) से बने हैं। विभिन्न लोकनाट्यों की इस धारा में मुखौटों का बड़ा महत्त्व है। लोकनाट्यरूपों में प्रयोग किए जाने वाले मुखौटे आध्यात्मिक और मिथकीय अर्थ देने के साथ नाटकीयता के तत्त्व को गहराई प्रदान करते हैं। मुखौटे भारत की कृषि-संस्कृति का भी महत्त्वपूर्ण भाग है। यहाँ के आदिवासी समाज और जनजातियों में मुखौटे उनकी आस्था और विश्वास से जुड़े हुए हैं।

2.1.4.01. कठपुतली

कठपुतली लोकप्रिय पारम्परिक रूप है। यह अपने मूल रूप के साथ-साथ समय के अनुरूप अपने आप को ढालता चला है। हजारों साल पहले प्रचलित लोककथाओं, मिथकों, एवं परम्पराओं को आज भी कठपुतली रंगमंच जीवित रखे हुए है। बलवन्त गार्गी के अनुसार – "नाटक का कोई रूप लोगों के इतना समीप नहीं जितना पुतलियों का तमाशा। बुड्ढे, जवान, बच्चे सभी कठपुतली के इस अद्‌भुत संसार की ओर खिंचे चले आते हैं। पुतलियों के नाच में बच्चा पुतलियों की कलाबाजी देखकर हँसता है। बूढ़े कहानियों में निहित ज्ञान तथा जीव रहस्य को ग्रहण करते हैं। जवान इसके रोमानी और रंगीन दृश्यों का आनन्द लेते हैं। पुतलीवाला साथ-साथ हास्यपूर्ण और तीव्र व्यंग्य भी करता जाता है। वह अतीत को वर्तमान के साथ, मृतकों को जीवितों के साथ और पुतलियों को मनुष्य के साथ जोड़ता है।"

निर्जीव वस्तुओं को नाटकीय युक्तियों के योग से मनुष्यों द्वारा संचालित करते हुए मनोरंजन करना तथा शिक्षा प्रदान करना कठपुतली रंगमंच का प्रमुख उद्देश्य है। कठपुतली में भी रंगमंच की मूल प्रकृति के समान विविध कलाओं का अनूठा संगम है। अभिनय, लेखन, आविष्कार, अभिकल्पना, चित्रकला, मूर्तिकला, दर्जी, बढ़ई आदि कलाओं के संयोग से इसका प्रदर्शन तैयार होता है।

वास्तव में कठपुतली एक ऐसी अचेतन आकृति है जो अपने जीवन्त प्रदर्शन में चेतनता का आभास देती है। कठपुतली प्रदर्शनकारी नाटकीय चरित्र तभी बन पाती है जब उसे कुशलता से संचालित किया जाता है। इसमें चुस्त संवादों का वाचन होता है। इनके अभाव में कठपुतली लकड़ी के टुकड़े और चिथड़ों से बनी एक निर्जीव वस्तु होती है। जैसे मुखौटा वास्तविक चेहरे को ढककर एक भाव का निरूपण करता है वैसे ही कठपुतली भी

कुशल अंग संचालन और संवाद अदायगी द्वारा एक अनूठे व्यक्तित्व को पेश करती है। यही रूप नाटक को मानवीय कल्पना की ऊँचाइयों पर ले जाता है। मुखौटा और कठपुतली दोनों ही अभिनय के स्तर पर ऐसी कलात्मक ऊँचाई तक पहुँच जाते हैं कि उनके समक्ष जीवन्त कलाकारों का अभिनय भी फीका पड़ जाता है। कठपुतली अपने रंग जीवन के लिए मनुष्य पर निर्भर हैकिन्तु रंगमंच में अभिनय के स्तर पर यह इंसानी अभिनेता से भी उत्कृष्ट सिद्ध हो सकती है।

2.1.4.02. विश्व में कठपुतली की शुरूआत

इस विषय में कोई निश्चित एवं स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है। संसार के प्रायः प्रत्येक भाग में कठपुतली रंगमंच की परम्परा अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आ रही है। भारत में कठपुतली की प्राचीन परम्परा का स्रोत आदिकाव्य महाभारत में मिलता है। सिन्धु सभ्यता में भी कठपुतली कला के अवशेष मिलते हैं। भरतमुनि-कृत 'नाट्यशास्त्र' एवं संस्कृत नाटकों में विद्यमानसूत्रधार नामक चरित्र में इसका मूल स्रोत माना जाता है जिसका अर्थ सूत्र अर्थात् डोर को धारण करने वाला है। प्राचीन ग्रीस के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो (428-348 ई.पू.) तथा अरस्तू (384-372 ई.पू.) ने भी कठपुतली का उल्लेख किया है। ग्रीक रंगमंच में ईपू. पाँचवीं शती में कठपुतली मनोरंजन की एक लोकप्रिय विधा थी। सर्वप्रथम कठपुतली का प्रयोग करने वाले व्यक्ति का नाम पोथेइनस (Potheinos) था जिसने लगभग 400 ई.पू. एथेंस में डायोनिसियस के उत्सव में इसका प्रदर्शन किया। कठपुतली रंगमंच एक प्रदर्शन कला के रूप में जापान, ईरान, अफगानिस्तान और इंग्लैंड आदि में आधुनिकतम रूप में विद्यमान है।

2.1.4.03. नृत्य-नाटक

मानवीय समाज में नृत्य विभिन्न समारोहों के साथ किसी न किसी रूप में जुड़ा हुआ है। समारोह चाहे राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक या अनुष्ठानिक जो भी हो, नृत्य उसका एक प्रदर्शनकारी पक्ष बन जाता है। इसी प्रकार नाटक के उद्‌भव से लेकर आज तक नृत्य उसका एक अंग रहा है। नृत्य-नाटक के माध्यम से किसी विशेष भाव या भावों को दृष्टि, मुद्रा, संकेत आदि के द्वारा सम्प्रेषित करना नृत्य नाटक कहलाता है। नृत्य-नाटक में अभिनय और नृत्य आपस में घुल-मिल जाते हैं। इसके द्वारा मानव मस्तिष्क और शरीर के मध्य कलात्मक संतुलन प्रस्तुत होता है।

नृत्य नाटक में मुख्यतः किसी एक स्थिति की कल्पना की जाती है, उसके साथ उससे जुड़ी अन्य छोटी-छोटी स्थितियों को संयोजा जाता है। नृत्य-नाटक में शब्दों का प्रयोग कम से कम होता है। सारी स्थितियों और उनसे जुड़े चरित्रों की मानसिक-शारीरिक-सामाजिक स्थितियों-प्रतिक्रियाओं की कल्पनाशीलता नृत्यमयी अभिनय चेष्टाओं द्वारा कलाकार दर्शकों के समक्ष उपस्थित होता है। नाटकीय कथ्य का अधिकांश भाग संगीत के आवश्यक वाद्य-यन्त्रों के साथ नृत्याभिनय की भाषा में ही सम्प्रेषित होता है। भारतीय नृत्य-नाटकों के विषय अधिकांश पौराणिक होते हैं। भारतीय रंग-परम्परा में नाट्य और नृत्य आरम्भिक काल से जुड़े रहे हैं।

'भरतनाट्यम्', 'ओडिसी', 'मोहिनीअट्टम्', 'कुटियट्टम्', 'कथकलि' जैसी नृत्य विधा में अभिनय पक्ष सहज ही समाया हुआ है।

2.1.4.04. पश्चिम में नृत्य-नाटक

पश्चिम में नृत्य नाटक के लिए 'बैले' शब्द प्रयुक्त होता है। वहाँ 'बैले' का उद्भव शाही दरबारों में मनोरंजन के साधन के रूप में हुआ जिसमें राजघराने के लोग और दरबारीगण बँकेट हॉल में आकर्षक पोशाक में नृत्य करते थे। यही नृत्य नाटक जब शाही दरबारों से निकलकर पेशेवर कलाकारों के पास पहुँचा तो उन्होंने 'बैले' में नृत्य की उपयुक्त भाव-भंगिमा विशेषकर शरीर के ऊपरी भाग एवं पैरों की विशेष गतियों का समावेश किया। इसी रूप में नृत्य, नाटक, संगीत, कविता और चित्रकला का अद्भुत मेल हो जाता है। 1830-1860 का समय बैले के इतिहास में रोमांटिक युग कहा जाता है। इसमें रोमांटिक साहित्य और कला के सिद्धान्तों का प्रभाव देखने को मिलता है। शास्त्रीय बैले का यूरोप के कई देशों में विकास हुआ जिसमें इंग्लैंड, इटली, फ्रांस, डेनमार्क और रूस आदि प्रमुख हैं।

2.1.4.05. संगीत-नाटक

संगीत नाट्य रंगमंच का वह रूप है जिसमें नाटक के कथ्य को मुख्यतः संगीत के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। नृत्य-नाटक की तरह संगीत नाटक को भी यथार्थवादी नाटकों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता क्योंकि वास्तविक जीवन में बातचीत कभी भी गाकर नहीं की जाती। यथार्थ में वाद्य-यन्त्रों द्वारा कोई थाप या लय भी नहीं दी जाती। फिर भी संगीत नाट्य रंगमंच की ऐसी विधा है जो बाहरी परिस्थितियों कीआन्तरिक वास्तविकताओं से सम्बन्ध रखता है। संगीत का विस्तार और उसके गहन प्रभाव में शब्दों द्वारा गढ़े गए चरित्र अधिक समर्थ एवं क्षमतावान् प्रतीत होते हैं। संगीत नाट्य में संगीत न तो पार्श्व में होता है और न केवल सहायक रूप में बल्कि इसमें संगीत का प्रयोग नाटक की प्रत्येक गति और कार्य के आगे-आगे होता है। इसमें संगीत के माध्यम से ही प्रत्येक चरित्र के मनोभाव और उससे जुड़े कार्यों की नाटकीय अभिव्यक्ति होती है।

संगीत नाट्य में नाटक की कहानी, संवाद, अन्तर्द्वन्द्व, बाहरी संघर्ष, कोमल-कठोर भाव आदि संगीत के माध्यम से ही अभिव्यक्त होता है। स्वर-ध्वनियों का उतार-चढ़ाव ही भावों की विभिन्नता और विविधता को प्रकट करता है। इस प्रकार संगीत नाट्य में संगीत और नाटकीय प्रभाव आपस में गुँथे रहते हैं। संगीत नाट्य के दो प्रमुख घटक हैं – (i) शब्द और (ii) संगीत। शब्द नाटक को उच्चरित करते हैं। संगीत के द्वारा स्पष्टता एवं प्रभावोत्पादकता उत्पन्न होती है। शब्द और संगीत का बराबर मात्रा में होना भी आवश्यक नहीं है। वास्तव में संगीत नाट्य में अभिनय का मंच के साथ, शब्द का ध्वनि के साथ और स्वर का उचित धुन के साथ अभिन्न संयोजन है।

2.1.4.06. पश्चिम में संगीत-नाटक

पश्चिम में संगीत-नाट्य एक समृद्ध नाट्य विधा के रूप में स्थापित हो चुका है । इसके लिए 'ऑपेरा' (Opera) शब्द का प्रयोग होता है किन्तु 'ऑपेरा' और 'संगीत नाटक' पूर्ण रूप से पर्यायवाची नहीं है। 'संगीत नाटक' में संगीत और गान नाटक में साथ-साथ चलते हैं । हॉलीवुड के 'म्यूज़िकल' और अधिकांश भारतीय फिल्में इसकी उदाहरण हैं । इनमें संगीत तथा गानों की प्रधानता के बावजूद उनमें तथा कहानी की प्रस्तुति में भेद किया जा सकता है । 'संगीत नाटक' में अभिनेता गा भी सकते हैं जबकि 'ऑपेरा' में ऐसे गायक होते हैं जिन्हें थोड़ा-बहुत अभिनय भी करना होता है।

'ऑपेरा' के स्रोत ग्रीक शास्त्रीय नाटकों में खोजे जा सकते हैं। इनमें कोरस गान की प्रमुख भूमिका होती थी । कोरस गान के माध्यम से नाटक के वर्णनात्मक अंश को काव्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया जाता था । सम्भवतः यहीं से प्रेरणा लेकर संगीत नाट्य की संकल्पना ने धीरे-धीरे विकसित स्वरूप ग्रहण किया होगा। 'बैले' की तरह 'ऑपेरा' का प्रारम्भ भी यूरोप के पुनर्जागरण काल में इटली में हुआ और आज तक 'ऑपेरा' की मान्य शब्दावली इटॉलियन भाषा में है।

2.1.4.07. भारत में संगीत-नाट्य

भारत में संगीत नाट्य के स्रोत मध्यकालीन किस्सागो, आल्हा-ऊदल, राजस्थान की भाट परम्परा आदि में खोजे जा सकते हैं। ये शूरवीरों की ऐतिहासिक गाथाओं का हाव-भाव तथा विभिन्न वाद्य-यन्त्रों के साथ गायन किया करते थे। वर्तमान संगीत नाट्य की शुरूआत आगा हसन अमानत के इन्दरसभा (1853) नाटक से मानी जाती है। इसमें संगीत और गीतों का सुन्दर तालमेल स्थापित किया गया था। इसके पश्चात् संगीत-नाट्य के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ टैगोर का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। उन्होंने पश्चिमी तथा भारतीय संगीत को मिलाकर रवीन्द्र संगीत की संकल्पना की । उसी के आधार पर 'वाल्मीकि प्रतिमा', 'फाल्गुनी' जैसे प्रसिद्ध संगीत-नाट्य की रचना की गई। भारत में संगीतमूलक गेय नाटकों की लम्बी परम्परा रही है। 'माच', 'नौटंकी', 'तमाशा', 'रासलीला', 'भवाई', 'जात्रा' आदि लोकनाट्य रूप इसी प्रकार के हैं। आधुनिककाल में मराठी में बसंत सबनीस के 'सैंया भये कोतवाल', विजय तेंदुलकर के 'घासीराम कोतवाल' नाटकों और हबीब तनवीर लिखित एवं निर्देशित 'आगरा बाजार', 'अन्धेर नगरी' आदि प्रस्तुतियाँ उल्लेखनीय हैं। इनमें नृत्य, समूह गान, मधुर गीतों तथा शैलीबद्ध अभिनय का सुन्दर समन्वय था । नाटक में संवाद, नृत्य और संगीत आरम्भ से ही घुले-मिले रहे हैं। पश्चिम में कालान्तर में इन तीनों अंशों ने भिन्न-भिन्न रूपों में विकसित होकर नाटक, बैले और ऑपेरा का रूप ग्रहण कर लिया किन्तु भारतीय नाटकों में सम्मिलित रूप में ही रहे । सम्भवतः इसीलिए भारत में संगीत नाट्य ऑपेरा के समान स्वतन्त्र रूप अभी नहीं ले पाया है। इस क्षेत्र में नित नए प्रयोग हो रहे हैं। वास्तव में भारत की रंग परम्परा पाश्चात्य ऑपेरा के अनुरूप नहीं है । भारतीय संगीत नाटकों में ऑपेरा को थोपना भी उचित नहीं है। भारतीय संगीत नाटकों को विकसित करने के लिए यहीं की संगीत नाट्यपरम्परा के तत्त्वों का समावेश अपेक्षित है।

2.1.4.08. मूकाभिनय

मूकाभिनय वह कला है जिसमें बोली जाने वाली भाषा का सहारा लिए बिना किसी कहानी को सुनाया जाता है। शब्द प्रयोग के बिना भाव या विचार का अभिव्यक्त किया जाता है। इसमें कलाकार अंग-संचालन तथा भाव-प्रदर्शनों का प्रयोग करके अभिनय को प्रस्तुत करता है। इसमें कलाकार का अनुभव एवं सघन कल्पना का सुन्दर समावेश होता है। मूकाभिनय कल्पना का अभ्यास है। मूकाभिनय में कलाकार की वेशभूषा, परिवेश तथा अन्य सामग्रियों के प्रयोग से सहायता मिलती है। इससे भी प्रमुख तत्त्व है - कलाकार की कल्पनाशीलता और शारीरिक प्रभाव। चार्ली चैपलिन की अनेक फिल्मों और भारत में कथकलि के सुप्रसिद्ध कलाकार रामगोपाल ने अपनी प्रस्तुतियों में मूकाभिनय के इस कठिन रूप को भली प्रकार व्याख्यायित किया है।

2.1.4.09. मूकाभिनय का स्वरूप

भारत में संस्कृत नाटकों से लेकर वर्तमान समय के नाटकों में छोटे-बड़े मूक दृश्यों की योजना देखने को मिलती है। कुछ समय पहले तक यहाँ मूकाभिनय के विषय में यह धारणा थी कि ये 30 मिनट से अधिक समय के नाटक नहीं हो सकते किन्तु अब यह धारणा समाप्त हो रही है। वास्तव में मूकाभिनय किसी भी सामान्य नाटक में हो सकता है। यह नृत्य-नाटक का तो अनिवार्य अंश है ही। अभिनेता की हरकतों, सन्दर्भों और परिवेश से मूकाभिनय संचालित एवं अभिव्यक्त होता है। प्राकृतिक हाव-भाव के द्वारा कलाकार कृत्रिमता का आभास भी नहीं होने देता। दर्शक मंत्र-मुग्ध होकर देखते रह जाते हैं। मूकाभिनय के लिए चरित्र-निरूपण प्राणभूत तत्त्व है। हाव-भाव गूँगे-बहरे लोगों की भाषा का ही रूप होते हैं। शास्त्रीय नृत्य-नाटकों में शैलीबद्ध हाव-भावों का प्रयोग किया जाता है। शैलीबद्ध हाव-भाव वे हैं जो संसार के विभिन्न मनुष्यों में सामान्य रूप से पाए जाते हैं। ये हाव-भाव मंच पर विशेष सन्दर्भ में प्रयुक्त होने के कारण शैलीबद्ध बन जाते हैं।

मूकाभिनय के सहायक उपकरण के रूप में मेकअप, वस्त्र-सज्जा, प्रकाश एवं ध्वनि विशेष रूप से सहायक होते हैं। पोशाकों के रंग भी विविध भाव-संवेदनों को उजागर करते हैं। वस्तुतः मूकाभिनय वह कला है जो एक ओर तो किसी नाटक में अभिनेता के शब्दों के सहायक रूप में कुछ और अर्थ जोड़ देता है और दूसरी ओर स्वतन्त्र रूप में भी मूकाभिनय-प्रस्तुतीकरण की अपनी अलग पहचान और प्रभाव परिलक्षित होता है।

2.1.4.10. पश्चिम में मूकाभिनय के स्रोत

पश्चिम में मूकाभिनय के तत्त्व प्राचीन ग्रीक नाटकों में मिलते हैं। सोफोक्लीज, एस्केलस, यूरीपीडीज के नाटकों में सर्वप्रथम गम्भीर मूक दृश्यों को शामिल किया गया। इनके नाटकों में भावनात्मक प्रसंगों में मूक हाव-भाव का प्रयोग किया जाता था। बाद में फ्रांस, इटली, जर्मनी, रूस आदि में भी नाटकों में इसी प्रकार के मूकाभिनय की प्रस्तुतियाँ होती थीं। शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक हैमलेट में मूकाभिनय का बड़ी कुशलता से प्रयोग किया गया है। इसके पहले इंग्लैंड के प्रथम त्रासदी गॉरबोइक (1564) में ब्रिटेन के इतिहास को दर्शाने के लिए मूकाभिनय का सहारा लिया गया। बाद में मूकाभिनय बैले में ही शामिल हुआ। स्वतन्त्र रूप में मूकाभिनय की

प्रस्तुतियाँ 18वीं शती में आरम्भ हुईं। इन नाटकों का आधार ग्रीक और रोमन मिथक तथा आख्यान होते थे। धीरे-धीरे उनमें समकालीनता का पुट भी शामिल होता गया। वर्तमान समय में मूकाभिनय पश्चिम में रंगमंच की एक स्वतन्त्र विधा है।

2.1.4.11. रंगमंच की अन्य विधाओं से मूकाभिनय का सम्बन्ध

कठपुतली, मुखौटा, नृत्य, मूकाभिनय, नाटक आदि सभी एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। जिस प्रकार मुखौटा मानवीय चेहरे को ढँककर विशेष अर्थ देता है, उसी प्रकार मूकाभिनय में विशुद्ध रूप से चेहरे को पोता जाता है। इसे 'न्यूट्रल फेस' कहते हैं। 'न्यूट्रल फेस' के द्वारा कलाकार को सबकुछ दिखाना, कहना होता है। कठपुतली की तरह मूक अभिनय में अंग-संचालन द्वारा भावों को अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है। कठपुतलीकार अपनी पुतलियों को एक व्यक्तित्व देने की कोशिश करता है। उनमें मानवीय चरित्र को उभारता है। मूक अभिनय में यह प्रयास कलाकार स्वयं अपने आप में करता है। भारत के शास्त्रीय नृत्य-नाटकों में नर्तक भी इसी रीति में कार्य करता है। इस प्रकार ये सारे रूप परस्पर मिले-जुले हैं। मूक अभिनय कलाकारों के लिए एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। इसमें अभिनेता का कोई सहायक नहीं होता। मूकाभिनय की प्रस्तुतियों में रंग-सज्जा कम से कम होती है। लगभग खाली मंच पर अभिनेता अपना कौशल दिखाते हुए दर्शक के मन में प्रवेश करता है। इसीलिए मूक अभिनय को 'हृदय की भाषा' भी कहा जाता है। मूकाभिनय में दर्शक भी मंच पर दिखाकर कही जाने वाली बात में बँधता नहीं है। यहाँ दर्शकीय कल्पना के लिए पर्याप्त अवकाश है। हर दर्शक अपनी-अपनी कल्पना के सहारे मूकाभिनय का अर्थ ग्रहण करता चलता है।

2.1.5. पाठ-सार

रंगमंच के ये सभी रूप – मुखौटा, कठपुतली, मूकाभिनय, संगीत नाटक और नृत्य-नाटक अपनी परम्पराओं, विविधताओं और स्वरूप में स्वतन्त्र होते हुए भी रंग के स्तर पर परस्पर सम्बद्ध हैं। ये रूप परिवर्तित होते हुए रंगमंच को ही समृद्ध करते हैं। मूल रूप में प्रदर्शनकारी होने के कारण ये सभी स्वतन्त्र रूप से किसी भी समसामयिक या शाश्वत विचार-विषय की अभिव्यक्ति का माध्यम बनने में समर्थ हैं। इनका प्रदर्शनकारी होना ही इन्हें रंगमंच से जोड़ता है।

आधुनिक भारतीय रंगमंच में कई कल्पनाशील रंगकर्मियों ने विभिन्न नाट्य-प्रस्तुतियों में आधुनिक जीवन के भाव-बोध को प्रासंगिक तथा प्रभावशाली ढंग से मंच पर रूपायित करने हेतु विविध रूपों का प्रयोग कलात्मक विवेक से किया है। ब. व. कारंत के 'बरनम वन' बंसी कौल के 'आला अफसर', हबीब तनवीर के 'आगरा बाजार', विजय तेंदुलकर के 'घासीराम कोतवाल' आदि नाट्य-प्रस्तुतियों में सर्जनात्मक भाव-बोध की सृष्टि रंगमंच के इन विविध रूपों के सुरुचिपूर्ण प्रयोग के द्वारा हो सकी है। रंगमंच के इतिहास का अध्ययन इस तथ्य का प्रमाण प्रस्तुत करता है कि सभी विधाएँ नाटक के इतिहास में अहम तथा अभिन्न अंग रही हैं। रंगमंच की इस

बृहत्तर परम्परा में नृत्य-नाटक, गीत-संगीत, मूकाभिनय तथा मुखौटों का प्रयोग नाटक में सहज रूप से निरन्तर होता आ रहा है।

2.1.6. बोध प्रश्न

1. निष्पादन कला से क्या अभिप्राय है ? स्पष्ट कीजिए।
2. नाटक एवं रंगमंच के अन्तस्सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए रंगमंच की प्रकृति एवं स्वरूप का विवेचन कीजिए।
3. रंगमंच के प्रमुख प्रकारों पर एक संक्षिप्तनिबन्ध लिखिए।
4. संगीत-नाटक के भारतीय एवं पाश्चात्य स्वरूप के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।
5. मूक अभिनय क्या है ? रंगमंच की अन्य विधाओं से इसके सम्बन्ध पर प्रकाश डालिए।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 2 : रंगमंच: एक प्रदर्शनकारी कला

इकाई – 2 : प्रदर्शन की विविध इकाइयाँ : मंचन, प्रदर्शन, प्रस्तुति आदि

इकाई की रूपरेखा

2.2.0. उद्देश्य कथन
2.2.1. प्रस्तावना
2.2.2. रंगमंचीय प्रदर्शन की इकाइयाँ और उद्देश्य
 2.2.2.1. नाट्य-भाषा
 2.2.2.2. ध्वन्याश्रित शाब्दिक भाषा
 2.2.2.3. संवाद योजना
 2.2.2.4. अंगाश्रित शरीर भाषा
 2.2.2.5. उपकरणाश्रित मंचीय भाषा
2.2.3. नाटककार तथा रंगमंच अभिनय
 2.2.3.1. अभिनय और निर्देशक
 2.2.3.2. नाटक का पूर्वाभ्यास
2.2.4. रंगमंचीय विविध आयाम
 2.2.4.1. निर्देशक
 2.2.4.2. अभिनेता
 2.2.4.3. रंगस्थली
 2.2.4.4. दृश्य-योजना
 2.2.4.5. रंगदीपन
 2.2.4.6. संगीत तथा ध्वनि संकेत
 2.2.4.7. रूपसज्जा
 2.2.4.8. दर्शक
2.2.5. पाठ-सार
2.2.6. बोध प्रश्न

2.2.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. रंगमंच की प्रदर्शन विषयक जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

ii. इस इकाई का प्रतिपाद्य कि मंच सज्जा एवं मंच व्यवस्था रंगमंच के लिए कैसी होनी होनी चाहिए या कैसे की जाती है, इसे समझ पाएँगे।

iii. प्रदर्शन ही किसी नाटक का उद्देश्य है। प्रदर्शन को किस प्रकार प्रभावशाली बनाया जा सकता है, यह इस पाठ से आप समझ सकते हैं।

iv. प्रस्तुति किसी भी नाटक का प्राणतत्त्व होता है। प्रस्तुति पर नाटक एवं नाटककार की सफलता निर्भर होती है। अतः प्रस्तुति रंगमंच कामहत्त्वपूर्ण अंग है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप रंगमंचीय प्रस्तुति की बारीकियों को समझ सकेंगे।

2.2.1. प्रस्तावना

इस खण्ड की प्रथम इकाई में आपने रंगमंच की परिकल्पना का अध्ययन करते हुए रंगमंच की परिभाषा, व्याख्या, इतिहास, प्रकृति तथा स्वरूप आदि का अध्ययन किया है। प्रस्तुत द्वितीय इकाई में आप रंगमंचीय प्रदर्शन की विविध इकाइयों – मंचन, प्रदर्शन, प्रस्तुति आदि का अध्ययन कर सकेंगे।

2.2.2. रंगमंचीय प्रदर्शन की इकाइयाँ और उद्देश्य

रंगमंचीय प्रस्तुतीकरण नाटक का उद्देश्य है। प्रस्तुतीकरण के लिए नाटक की संरचना के अध्ययन के साथ ही उसके अनेक इकाइयों में विभाजन की आवश्यकता होती है। इकाइयों के विभाजन से रंगमंच पर नाटक का एक सुनियोजित विधान प्रस्तुत करने में विशेष सहायता मिलती है। प्रायः प्रत्येक इकाई के मूल में एक रचनात्मक उद्देश्य निहित है। प्रत्येक उद्देश्य उस इकाई का जीवन्त भाग होता है। दूसरे शब्दों में वही उद्देश्य उस इकाई की रचना करता है और वही उद्देश्य उस इकाई की रचना का केन्द्र बिन्दु होता है। इसी सन्दर्भ में स्तानिस्लाव्सकी ने लिखा है कि "जैसे नाटक में बाहर से उद्देश्य डालना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार असम्बद्ध इकाइयों को रखना भी सम्भव नहीं है क्योंकि उद्देश्यों का तर्कसंगत धारा में समन्वित होना आवश्यक है।" इकाइयों से सम्बन्धित बातें उद्देश्यों पर भी लागू होती हैं।

यदि रंगमंचीय प्रस्तुतीकरण के उद्देश्यों पर विचार करें तो सर्वप्रथम यह बात सामने आती है किप्रायः अभिनेता / अभिनेत्री अपनी भूमिका पर विचार करने के पहले नाट्य-प्रदर्शन के सन्दर्भ में और फल प्राप्त करने के विषय में पहले सोचने लगते हैं। अपने कार्य-व्यापार की अपेक्षा फल के विषय में पहले सोचने से अभिनय पक्ष नीरस हो जाता है। इस परिस्थिति से बचने के लिए फल पर ध्यान न देकर सच्चे मन से उद्देश्य की ओर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। उद्देश्यों में निहित क्रियाशीलता विशेष महत्त्वपूर्ण है। उद्देश्य वास्तव में अभिनेता के मन में मंच पर आने के उसके अधिकार के प्रति निष्ठा जाग्रत् करता है और उन्हें प्रदर्शन के लिए प्रोत्साहित करता है। रंगमंचीय प्रदर्शन की इकाइयाँ वरीयता क्रम में निम्नवत् हैं – नाट्यभाषा, ध्वन्याश्रित शाब्दिक भाषा, संवाद योजना, अंगाश्रित शरीर भाषा, उपकरणाश्रित मंचीय भाषा।

2.2.2.1. नाट्य-भाषा

नाटक या नाट्य में प्रयुक्त भाषा नाट्य-भाषा कही जाती है। भरत के अनुसार नाटक वह है जिसमें लोक स्वभाव को अंगादि के अभिनय की सहायता से प्रदर्शित किया जाता है। अभिनवगुप्त के अनुसार नाट्य नटनीय नर्तन है। अतः भरत और अभिनवगुप्त के अनुसार नाट्य और नृत्य में अभिनय की आवश्यकता है। दोनों में ही मुखोच्चारित भाषा प्रयुक्त होती है। नृत्य में गीतों की प्रमुखता होती है। नाटक में गद्य-पद्य की सहायता से (आधुनिक सन्दर्भ में) भावाभिव्यक्ति की जाती है। मूल रूप से दोनों ही सुन्दर कला रूप है। नर्तक-नर्तकी द्वारा नृत्य में नृत्यभाषा का प्रयोग किया जाता है। नाटक में नट या नटी नाट्यभाषा से अपनी विचाराभिव्यक्ति करते हैं। इन दोनों नृत्य-नाटक की शारीरिक भाषा लगभग एक ही है। यद्यपि नृत्य की शारीरिक भाषा में संकीर्णता है और नाटक में व्यापकता। यदि छोटे-मोटे अन्तरों को छोड़ दे तो नृत्य तथा नाट्य परस्पर सम्बद्ध हैं। वेदबन्धु 'ताण्डवलक्षण' में नृत्य को नाट्य से अलग नहीं माना गया है। भरत और अभिनवगुप्त के अनुसार नृत्य नाट्य का एक अंग है। भरत के व्याख्याता हर्ष ने बताया है कि रसों और भावों को, व्यंजित करने में आँखों, कपोलों, ओष्ठों और अन्य अंगों का पूर्ण या अपूर्ण अनुकरण ही नाट्य एवं नृत्य में होता है इसलिए नाट्य तथा नृत्य को परस्पर अलग नहीं किया जा सकता। अस्तु, नृत्य एक प्रकार का नाट्य ही है। यदि आचार्यों ने नाट्य और नृत्य को अलग-अलग कला रूप नहीं माना है तो उनकी भाषा भी अलग नहीं हो सकती। अतः नाट्यभाषा की चर्चा करते हुए भाषा की संरचनात्मक विशेषताओं के साथ-साथ आंगिक, सात्त्विक आदि अभिनय को सूचित करने के लिए रचनाकारों की ओर से स्वीकृत तथा प्रयुक्त भाषेतर पद्धतियों पर भी ध्यान देना चाहिए। नाट्य रूपों में कृतिकार के मानसिक व्यापारों, उद्देश्यों एवं विचारों को दर्शकों तथा पाठकों तक पहुँचाने का कार्य मुख्य रूप से नाट्य-भाषा के माध्यम से किया जाता है। अन्य काव्य-रूपों जैसे कविता, कहानी, उपन्यास आदि साहित्यिक विधाओं की भाषा की संरचना की तुलना में नाटक की भाषा नाटकीय परिवेश के कारण अलग रहती है। नाट्यभाषा का स्वरूप, संरचना, आकार तथा उसका महत्त्व अन्य विधाओं की भाषिक संरचना पद्धति से अत्यधिक भिन्न है। नाटक को छोड़कर अन्य सभी साहित्यिक विधाएँ केवल पढ़ने के लिए रची जाती हैं अतः उनकी वाचन शैली सीधी और सरल है किन्तु नट-नटी द्वारा मंच पर जीवन्त कार्य-व्यापार के रूप में प्रस्तुत करने के उद्देश्य से संरचित वाचन शैली अभिनयोन्मुख होती है। उसका महत्त्व उत्तरोत्तर बढ़ता रहा है। सामान्यतः नाट्य-भाषा के प्रमुख दो रूप माने जाते हैं – (i) हमारे जीवन-व्यवहार की ध्वन्याश्रित शाब्दिक भाषा और (ii) अंगाश्रित शरीर भाषा। इसके अलावा रंग-प्रकाश, ध्वनि, चित्र, रंगमंचीय वस्तुएँ आदि नाट्यभाषा रूपी विशिष्ट भाषा की इकाइयाँ हैं। इन इकाइयों को मंचीय भाषा कह सकते हैं। ये तीनों – (i) ध्वन्याश्रित शाब्दिक भाषा, (ii) अंगाश्रित शरीर भाषा तथा (iii) उपकरणाश्रित मंचीय भाषा मिलकर नाट्यभाषा बनती है।

2.2.2.2. ध्वन्याश्रित शाब्दिक भाषा

नाटक की भाषा सहज सम्प्रेषणीय होना आवश्यक है। यह भाषा संवाद के रूप में अभिनेताओं के लिए लिखी जाती है। यह संवाद दो अभिनेताओं के मध्य वार्ता या एक ही अभिनेता के स्वगत कथन के रूप में भी हो सकती है। कभी-कभी अनेक अभिनेताओं द्वारा 'कोरस' के रूप में भी प्रस्तुत होती है। इसके माध्यम से अभिनेता

दर्शकों के समक्ष जीवन की भिन्न-भिन्न झाँकियाँ प्रस्तुत करते हैं। यह प्रस्तुति निश्चित समय के भीतर ही दर्शकों के समक्ष मंच पर होती है। यद्यपि देखने वाले दर्शकों की भूमिका एक है। फिर भी भावों की अभिव्यक्ति हेतु स्वीकृत ध्वन्याश्रित भाषा को आत्मसात करने में अन्तर है। दर्शकों का शैक्षणिक स्तर, भाषा-ग्रहण की क्षमता आदि में अन्तर होता है। बिम्बों, प्रतीकों को समझने की क्षमता में भी अन्तर स्वाभाविक रूप से होता है। अतः रचनाकार को अपने नाटक में ऐसी भाषा का प्रयोग करना होता है जो सरल, सहज, स्वाभाविक हो और उसे सभी स्तर के दर्शक समझने में सक्षम हों। नाटक की ध्वन्याश्रित शाब्दिक भाषा के लिए यह भी अनिवार्य है कि नाटक में दैनिक व्यवहार की भाषा प्रयुक्त हो। डॉ० गोविन्द चातक के अनुसार – "नाटक की भाषा यथार्थ के आग्रह के कारण एक ओर वह सामान्य बोलचाल के निकट होती है, दूसरी ओर संरचित, संस्कारित होने के कारण अपने सर्जनात्मक प्रयोग में सामान्य से विशिष्ट हो जाती है।" उसमें रोचकता तथा प्रसंगानुकूलता भी आवश्यक है। इसके साथ ही भाषा को प्रवाहमयी होना चाहिए। उसमें व्यंग्य, विनोद, चुटीलापन जिसे आजकल 'पंच' भी कहते हैं, कहावतों और मुहावरों आदि का प्रयोग आवश्यक तथा अनिवार्य है। प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए नाटक की भाषा यथासम्भव पात्रानुकूल होनी चाहिए। भाषा में सुबोधता, एकाग्रता तथा सूक्ष्म व्यंजना भी हो जो सुनने में स्वर एवं लय का आकर्षक संगीत रच सके। श्रेष्ठ नाटक के प्रस्तुतीकरण की भाषा का यही आधार है। संसार की सभी भाषाओं के श्रेष्ठ और उल्लेखनीय नाटककार अपने-अपने ढंग से अपने लिए अपनी भाषा का ऐसा विशेष आविष्कार करते आए हैं जो सर्वग्राह्य तथा आकर्षक हो। यह विशेष आविष्कार संवादों की रचना है। वह दर्शनीय होती है और नाट्यभाषा के स्वरूप को अभिव्यक्त करती है।

2.2.2.3. संवाद योजना

संवाद योजना को कथोपकथन या वार्तालाप भी कहते हैं। नाटक का कलेवर संवादों की सहायता से ही निर्मित होता है। संवाद के माध्यम से ही नाटक की कथा विकसित होती है। संवाद के द्वारा कथा का कथन सम्पन्न होता है। संवाद नाटक का आधारभूत प्राणतत्त्व है। संवादों से ही नाटक की नाटकीयता विकसित होती है। संवाद दो पात्रों की बातचीत है। पात्रों के आत्मकथन भी इसके अन्तर्गत आते हैं। नाटक के संवादों की भाषिक इकाइयों की दृष्टि से उसमें तीनों पुरुषों की प्रधानता रहती है। इनमें उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष बातचीत के सिलसिले में अपनी भूमिका बदलते रहते हैं। अन्य साहित्यिक विधाओं में प्रायःअन्य पुरुष की प्रधानता होती है। नाटक की भाषिक इकाइयाँ भिन्न हैं। यह नाट्यभाषा की संरचनात्मक विशेषता को प्रकट करती है। नाट्य संवाद, नाटक में अनेक सन्दर्भ उत्पन्न करता है। नाट्य संवाद के द्वारा कुछ ऐसे विचारणीय भाषिक तथा नाटकीय तत्त्वों की सृष्टि होती है जो नाटक की अभिव्यक्तिपरक प्रकार्य और शब्दों के व्याकरणिक सम्बन्धों से उत्पन्न नाट्यार्थ को प्रकट करते हैं। इस प्रकार निर्मित संवाद पुनः नई स्थिति विशेष को प्रकट करता है।

स्थिति और कार्य के आधार पर नाट्यभाषा सृजित होती है। उसका ध्वनि-संयोजन, शब्द-निर्माण, रूप-गठन, तथा वाक्य-रचना नाट्य स्थिति एवं कार्य पर निर्भर है। संवाद की भाषा प्रत्येक पात्र की आत्मा की भाषा भी है इसलिए पात्र का आत्मतत्त्व उसमें आना स्वाभाविक है। यह आत्मप्रकाशन का सशक्त माध्यम भी है। इसके द्वारा पात्रों का चरित्र प्रस्तुत होता है। इस प्रकार निर्मित-लिखित भाषा के रूप-गठन का अध्ययन-विश्लेषण तथा

सोच-विचार करने के लिए पाठकों या दर्शकों के पास पर्याप्त अवसर होता है। सामान्यतः लिखित भाषा संरचना सम्बन्धी व्याकरणिक इकाइयों से तथा वाक्य सम्बन्धी परिकल्पनाओं से युक्त रहती है। रंगमंच पर खेले जाने के कारण पात्रों के द्वारा उच्चरित संवाद दर्शक सुना करते हैं। लिखित संवाद के उच्चरित रूप को 'वाक्' कहना समीचीन है। 'वाक्' को भाषण भी कह सकते हैं। वागिन्द्रिय द्वारा उच्चरित एवं श्रवणेन्द्रिय द्वारा गृहीत भाषा का रूप 'वाक्' की कोटि में आता है। 'वाक्' या भाषण नाटक में संवाद, मात्रा, बलाघात, सुर, संगम आदि ध्वनि गुणों से युक्त रहता है। यह केवल सुनने से ही अनुभूत होता है पढ़ने से नहीं अतः ध्वन्यात्मक शाब्दिक भाषा में मौखिक एवं लिखित दोनों भाषा रूपों की सभी विशेषताएँ निहित हैं।

2.2.2.4. अंगाश्रित शरीर भाषा

नाटक सर्वप्रथम नाटककार की काल्पनिक दुनिया में, काल्पनिक रंगमंच पर काल्पनिक पात्रों द्वारा अनेक बार खेला जा चुका होता है। इसी कल्पना को वह ध्वन्यात्मक भाषा तथा भाषेतर माध्यमों से अभिव्यक्ति प्रदान करता है। नाटक की पाण्डुलिपि की प्रत्येक इकाई नाटक के क्रियांश से जुड़ी रहती है। एक सूक्ष्मदर्शी इन भाषिक इकाइयों में छिपे क्रियांशों को कुशल अभिनेताओं के इंगितों की सहायता से जो नाट्यभाषा रूपांश शरीर भाषा है, दर्शकों के समक्ष प्रदर्शित करता है।

नाट्याभिनय के सम्बन्ध में नाट्याचार्य ने वाचिक, आंगिक और सात्त्विक आदि अभिनय को सामान्य अभिनय कहा है। यदि किसी नाट्य में सात्त्विक अभिनय की प्रधानता होती है तो वह उत्कृष्ट नाट्य माना जाता है। ये सात्त्विक और आंगिक अभिनय मनोभावों पर आश्रित हैं। ये अध्वन्यात्मक भाषा से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार के अध्वन्यात्मक भाव-व्यंजित, अभिनय, अभिनेताओं के नयनों, कपोलों, दाँतों, ओष्ठों तथा अन्य अवयवों के संचालन से प्रकट होते हैं। इस अध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति में भी, भाषिक संरचना के समान एक प्रकार की स्थिरता तथा व्यवस्था है। यह व्यवस्थित अंग-संचालन ही आंगिक भाषा अर्थात् शरीर भाषा है। पात्रों के अंग-संचालन (आंगिक अभिनय) व्यवस्थित तथा पूर्व निर्धारित होते हैं अतः दूसरे अभिनेताओं के इंगितों तथा तज्जनित भावों को ग्रहण कर लेते हैं। आहार्य अभिनय से भी यही कार्य सम्पन्न होता है। एक अभिनेता जब फटी-पुरानी धोती पहनकर रंगमंच पर प्रवेश करता है तो उसका आहार्य निःशब्द भाषा की सहायता से यह स्पष्ट बताता है कि प्रस्तुत पात्र की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति क्या है। यह अर्थबोध सभी दर्शकों को समान रूप से होता है। इसका कारण यह है कि आहार्य के माध्यम से भी निःशब्द भाषा की सहायता से भावाभिव्यक्ति की जाती है। इस प्रकार की अभिव्यक्ति शरीरभाषा के द्वारा ही सम्पन्न होती है। यह नाट्यभाषा का ही अंग है।

इसके साथ-साथ नाट्यार्थ की अभिव्यक्ति करने के लिए अभिनेताओं का 'मौन' जो शरीर भाषा से जुड़ा हुआ है, बड़ी सहायता करता है। भावाभिव्यक्ति के सशक्त माध्यम के रूप में 'मौन' का भी उपयोग किया जाता है। पात्रों की बातचीत के सिलसिले में किसी एक पात्र का अचानक 'मौन' संवाद के बीच सोच-समझकर आयोजित खामोशी, दर्शकों को आकर्षक लगती है। पात्र की खामोशी में दर्शक उसका निहित अर्थ ढूँढ़ने लगते हैं। कुछ हद तक दर्शक पात्र के 'मौन' का गूढ़ार्थ समझ भी लेते हैं जिसे नाटककार अभिव्यक्त करना चाहता है।

यही नाट्यभाषा है जो मौन, हरकत, संवाद, गतिशीलता और स्थिरता का समन्वय करके अपना एक स्वतन्त्र ढाँचा रचती है। इस प्रकार आहार्य और मौन आदि अंगाश्रित शरीरभाषा से जुड़े हुए नाट्यतत्त्व हैं।

2.2.2.5. उपकरणाश्रित मंचीय भाषा

आधुनिक युग में नाट्यभाषा का प्रमुख अंग है – उपकरणाश्रित मंचीय भाषा। नाटककार अपने भावों या विचारों को अभिव्यक्ति देने के लिए ध्वन्याश्रित और अंगाश्रित भाषा के साथ-साथ उपकरणाश्रित मंचीय भाषा का प्रयोग करता है। यद्यपि यह नाटक के मंचन से सम्बन्धित कार्य होने के कारण निर्देशक पर अधिक निर्भर है फिर भी वर्तमान में नाटककार इस अंग पर विशेष ध्यान दे रहा है। प्रायः ऐसा हो जाता है कि कभी-कभी सूक्ष्मतम भावों भी अभिव्यक्ति के लिए ध्वन्यात्मक भाषा असफल सिद्ध होती है। उस समय रंगमंचीय भाषा-तत्त्वों की सहायता लेना आवश्यक हो जाता है। देखने वालों की अनुभूति और प्रस्तुत करने वाले निर्देशकों की अनुभूति अलग - अलग हो तो द्रष्टा की अनुभूतियों का साक्षात्कार पूर्ण नहीं होगा। नाटककार निर्देशक की अपेक्षा दृश्यकाव्य नाटक के दृश्यतत्त्वों की सम्प्रेषणीयता, भावव्यंजना तथा आकर्षणीयता से भलीभाँति परिचित होता है, इसीलिए इन तत्त्वों का प्रयोग करता है। वर्तमान नाटक में रंगसज्जा का विशेष महत्त्व है। रंगसज्जा नाटक में चित्रित दृश्य एवं वातावरण के अनुसार होती है। नाटक में प्रस्तुतीकरण के समय निर्देशक अपनी ओर से या नाटककार के निर्देशानुसार कई वस्तुओं का मंच पर उपयोग करता है। इन वस्तुओं का उपयोग दो कार्यों के लिए होता है – (क) नाटक के वातावरण की सृष्टि के लिए (ख) नट या नटी के उपयोग हेतु।

इन वस्तुओं का उपयोग करने के पहले नाटक के 'संकलनत्रय' सम्बन्धी तत्त्वों का ध्यान रखना चाहिए। रंगमंचीय वस्तुओं से तैयार किए गए वातावरण के साथ कथावस्तु को दर्शकों के समक्ष प्रदर्शित किया जाता है। रंगसज्जा नाटकों में यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करती है। साथ ही पात्रों के स्तर, जीवनादर्श आदि को व्यक्त करती है। मंच पर उपयुक्त एक-एक चीज अपनी 'मौन भाषा' से दर्शकों से संवाद स्थापित करती है। रंगसज्जा के समान ही रंगदीपन भी दर्शकों से संवदन करता है। यह केवल एक यान्त्रिक वृत्ति नहीं कही जा सकती। यह विशिष्ट प्रकार की भावाभिव्यक्ति है। इसके माध्यम से नाटककार और निर्देशक बहुत कुछ बातें दर्शकों को बताते हैं। रंगमंच पर तथा अभिनेताओं पर नाट्यार्थानुसार भिन्न-भिन्न रंग के प्रकाश पड़ते हैं। इससे अभिनेताओं, मंचीय वस्तुओं से युक्त रंगमंच, एक सुन्दर चित्र जैसा प्रतीत होता है। इसके साथ ही पात्रों के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के अनुसार उत्पन्न हाव-भाव आदि प्रत्येक रंगीले प्रकाश के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। नाटक में 'ध्वनि' का प्रयोग भी दर्शकों के मन में विशेष भाव उत्पन्न करने में सहायक होता है। यह भी एक विशिष्ट मंचीय साधन है।

नाटक में भावाभिव्यक्ति एवं विचार-सम्प्रेषण के लिए उपयुक्त साधनों को रेखाचित्र के द्वारा भी व्यक्त कर सकते हैं। उपर्युक्त रेखाचित्र से नाट्यभाषा का स्वरूप अधिक स्पष्ट होगा। नाटककार के द्वारा नाट्यार्थ की प्रस्तुति के लिए प्रयुक्त एक विशिष्ट अभिव्यक्ति के माध्यम को ही नाट्यभाषा की संज्ञा दी जाती है।

2.2.3. नाटककार तथा रंगमंच अभिनय

नाटक की रचना रंगमंच पर अभिनय के उद्देश्य से ही की जाती है। नाटक के अभिनय के प्रति पाश्चात्य समीक्षक अत्यधिक सजग रहे हैं। उन्होंने रंगमंच, अभिनेता, अभिनय-प्रवीणता, निर्देशक आदि विविध दृष्टियों से नाटक की मंचीय प्रस्तुति के व्यावहारिक पक्ष पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया है। प्रायः नाटक के अभिनय पक्ष में कतिपय कठिनाई आ जाती है इसलिए एक विचार यह भी व्यक्त किया गया कि नाटककार को रंगमंच से सम्बद्ध होना चाहिए। इससे वह अभिनय को ध्यान में रखकर नाटक की रचना करेगा। अधिकतर नाटककार स्वयं अभिनेता या मंच निर्देशक नहीं होते। यद्यपि विलियम शेक्सपियर नाटककार के साथ अभिनेता भी थे वहीं जॉर्ज बर्नार्ड शा नाटककार होते हुए भी रंगमंच से सर्वथा अनभिज्ञ थे।

2.2.3.1. अभिनय और निर्देशक

निर्देशक के लिए आवश्यक है कि वह नाटक के अर्थ, नाटक और नाटककार का उद्देश्य एवं रचना-शैली को भलीभाँति समझ ले तभी वह अभिनेताओं को निर्देशित कर सकता है। निर्देशक को नाटककार के विचारों को प्रमुखता देते हुए प्रस्तुति पर ध्यान देना होता है। कभी-कभी नाटक का कोई दृश्य या अंश अनभिनेय समझ कर निर्देशक या तो उसे निकाल देते हैं या संशोधित कर देते हैं। यह कार्य खतरनाक होता है। इसमें अत्यधिक सावधानी आवश्यक होती है। यह कार्य अपवादस्वरूप ही होना चाहिए, नियम रूप में नहीं।

2.2.3.2. नाटक का पूर्वाभ्यास

नाटक की सफलता उसके अभिनेताओं की सफलता है इसलिए पूर्वाभ्यास पर विशेष बल दिया जाता है। एक व्यावसायिक संस्था के लिए किसी श्रेष्ठ नाटककार के नाटक के अभिनय के लिए कम से कम छह सप्ताह का अभ्यास अपेक्षित है। किसी अव्यावसायिक संस्था को तो कम से कम तीन माह पूर्व ही अभ्यास प्रारम्भ कर देना चाहिए। यह पूर्वाभ्यास लाभप्रद प्रमाणित होता है। पूर्वाभ्यास के समय अभिनेताओं के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति नहीं होनी चाहिए। प्रत्येक बार पूर्ण नाटक का अभ्यास करना चाहिए। निर्देशक को इस बात का पूर्ण प्रशिक्षण प्रदान करना चाहिए कि अभिनेता केवल शब्दों का ही उच्चारण न करे, बल्कि उसमें निहित भाव-भंगिमाओं का भी अभिनय करे। इससे पात्र के चरित्र का पूर्ण उद्घाटन हो सकेगा। अभ्यास की परिपक्वता नाटक में विद्यमान, अभिनय-सम्बन्धी दोषों को भी समाप्त कर देती है।

2.2.4. रंगमंचीय विविध आयाम

नाटक के प्राचीन तथा अर्वाचीन विश्लेषणों में अभिनय या मंचीय प्रदर्शन नाटक का अभिन्न और महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। भरतमुनि के अनुसार – "जिस प्रकार अभिनय या प्रदर्शन नाटक की कल्पना से अभिन्न है, उसी प्रकार व्यवस्था या प्रबन्ध अभिनय या प्रदर्शन से अभिन्न है। प्रदर्शन के लिए नाटक को प्रेक्षक तक पहुँचाने के लिए उसकी पर्याप्त व्यवस्था अनिवार्य है।"

आधुनिक युग में वैज्ञानिक वयान्त्रिक उन्नति विकसित है। इससे रंगमंच पर किसी दृश्य को प्रस्तुत करना आसान हो गया है। इसके साथ ही नाट्यकला के सम्बन्ध में यह दृष्टि भी विकसित हो गई है कि कला के रूप में अभिनय का उद्देश्य केवल वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न करना नहीं है बल्कि यह एक सम्पूर्ण कला है। इस रूप में वह अपने समस्त नाटकीय उपकरणों को इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर प्रयुक्त करती है। प्रकाश व्यवस्था की उन्नति के साथ यह भी विभिन्न प्रकार के प्रकाशों में दृश्य-विधान तथा रूप-सज्जा का भी सामंजस्य बना रहे। इसी प्रकार रूपसज्जा और ध्वनि आदि में भी इस बात का ध्यान रखना होगा कि विभिन्न-दृश्यों तथा विभिन्न प्रकाश की स्थितियों में उसका उचित प्रभाव नष्ट न हो सके। वास्तव में नाट्य प्रभाव की कलात्मकता सुरक्षित होनी चाहिए।

नाटक मूलतः दृश्यकाव्य है। अतः नाट्यानुभूति केवल नाटककार के लिए ही नहीं, दिग्दर्शक, रंग-निर्देशन, अभिनेता व दर्शक आदि सभी के लिए एक ऐसा तत्त्व है जिसका आधार लेकर ये सभी अंग नाट्यकृति को सार्थकता प्रदान करते हैं। नाटक के समग्र रूप का आस्वादन मंचीय प्रस्तुतीकरण के बाद ही सम्भव होता है। नाटकीय पात्रों के साथ ही नाटककार का सम्बन्ध रंगमंचीय पात्रों के साथ भी जुड़ जाता है। अतः दोनों स्तरों पर संतुलन एवं समन्वय होना आवश्यक है।

प्रस्तुतीकरण के प्रमुख आधार सूत्रधार, दिग्दर्शक आदि होते हैं। इन्हें द्विस्तरीय तत्त्व से गुजरना पड़ता है। प्रस्तुतीकरण में नाटककार के अतिरिक्त दिग्दर्शक, अभिनेता, रंग-निर्देशक, ध्वनि व रूप सज्जाकार, दर्शक व अन्य उपकरण विशेषज्ञों के सहयोग से ही सफल नाट्यानुभूति हो पाती है। नाटक के उद्देश्य को सही तरीके से अभिनीत किया जाना चाहिए। नाटक को दर्शक तक पहुँचाने वाली सभी कलाएँ जो मंचन के प्रमुख उपकरण हैं, वे अलग-अलग रूप से निम्नवत् हैं –

2.2.4.1. निर्देशक

नाट्य सृष्टि में सहायक तत्त्वों के रूप में दृश्य-सज्जा, प्रकाश-व्यवस्था, सामग्री-संयोजन, ध्वनि, वेशभूषा, चित्रांकन आदि रंगकार्यों से सम्बद्ध रंगकर्मी मंच पर किसी न किसी रूप में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इन सभी को निर्देशित करने का कार्य निर्देशक या परिचालक का होता है। प्रस्तुतीकरण की सम्पूर्ण दृष्टि एवं दायित्व निर्देशक का होता है। रंगमंच पर वही निर्णायक अभिकर्त्ता है। वही सर्जनात्मक चयन की दिशा निर्धारित करता है। निर्देशक ही सर्वप्रथम नाट्य रचना को पढ़कर आत्मसात करता है। रचना का विवेचन, इंटरप्रिटेशन और मंचस्थ करने के साथ उसका सम्प्रेषण करता है। नाटककार जहाँ अपनी कृति को छोड़ देता है, अभिनेता, अभिकल्पक तथा परिचालक उससे आगे उसकी रचना करते हैं। निर्देशक के पास वह दृष्टि होती है जो मंच पर नाटक के घटित होने की सम्पूर्ण प्रक्रिया का साक्षात्कार कराती है। साथ ही उसे रूपायित करने के आवश्यक साधन जुटाती है। किसी भी कृति के मंचन-प्रभाव तथा निर्देशक की योग्यता, सौन्दर्यबोध, जीवनबोध एवं कलाबोध आदि में घनिष्ट सापेक्षता होती है।

2.2.4.2. अभिनेता

अभिनेता ही किसी नाट्यकृति को जीवन्तता प्रदान करते हैं। अभिनेता दर्शकों के समक्ष प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित होते हैं। वे ही अपने अभिनय द्वारा नाटककार के भावों को अभिव्यक्त करते हैं। अभिनेता का अभिनय अनुकरण मात्र नहीं है। अभिनय स्वतः एक स्वाधीन सर्जनशील कला है। अभिनेता अपने अभिनय के माध्यम से अभिनीत पात्र के चरित्र एवं कार्य को स्वयं जीता है। अंग, वाणी, वेशभूषा आदि के माध्यम से कलाकार अभिनेता उस पात्रानुकूल भाव को अभिव्यक्त करता है। अभिनेता का कुशल अभिनय दर्शक को कथा से बाँधे रहता है और दर्शक के मन-मस्तिष्क में हर्ष, शोक, भय, प्रेम आदि भावों को उत्पन्न कर देता है। संवाद, रंग-संकेत, शब्दार्थ-योजना को अभिनेता ही जीवन्त स्वरूप प्रदान करता है। अभिनेता पात्रानुकूल भाव, मुद्रा और गति का कलात्मक प्रयोग करते हुए अभिनीत पात्र के चरित्र में स्थित हो जाता है। रंगमंच निरन्तर बोलती-चलती तस्वीर का रूप धारण कर लेती है। वास्तव में नाट्यरचना का पाठेतर अर्थ मंच पर ही उजागर होता है। अभिनेता उसमें प्राण का संचार करता है। अभिनेता नाटककार से शब्द और निर्देशक से गति-सम्बन्धी निर्देश ग्रहण करता है। इन दोनों के सहयोग से वह निर्धारित सीमा के भीतर दृश्य और श्रव्य बिम्ब खड़ा करता है। वास्तव में अभिनेता अनादिकाल से चला आ रहा है। अभिकल्पक और निर्देशक का आविर्भाव रंगमंच कला में बहुत बाद में हुआ। अभिनेता ही रंगमंच का असली पर्याय है। अभिनेता को छोड़कर शेष सभी रंगकर्मी पर्दे के पीछे रहते हैं।

2.2.4.3. रंगस्थली

नाटक की विषयवस्तु के अनुरूप रंगशाला का चयन आवश्यक है। ख्याल, नौटंकी, जात्रा, भवाई, रामलीला, स्वांग आदि लोकनाट्य हो या कोई आधुनिक परिवेश को लेकर लिखी गई नाट्यकृति हो अथवा मुक्ताकाशी हो, उसे किसी न किसी स्थान की आवश्यकता तो होती ही है। प्रत्येक नाटक की अपनी प्रकृति और विषय के अनुरूप एक विशिष्ट रंगशाला की आवश्यकता होती है। संस्कृत नाट्य-परम्परा में ज्येष्ठ, मध्यम और अवर नाट्यशालाओं का निर्देश दिया गया है। ज्येष्ठ् नाट्य-मण्डप दैवी अभिनय के लिए, मध्यम नाट्य-मण्डप राजकीय (राजा) अभिनय के लिए तथा अवर नाट्य-मण्डप का प्रयोग भाण-प्रहसन जैसे नाट्यरूपों के लिए होना चाहिए। भरतमुनि ने नाट्यगृह की सूक्ष्म चर्चा की है। योरोप के इतिहास में भी भव्य-सरल ग्रीक थिएटर, चषकाकार रोमन थिएटर, पुनुरुत्थान युग की रंगशाला, शेक्सपियरकालीन नाट्यशाला, आधुनिक युग के जर्मन प्रेक्षास्थलों की चर्चा मिलती है। यह रंगशालाओं के महत्त्व को दर्शाती है।

2.2.4.4. दृश्य-योजना

सामान्यतः ग्रीक रंगमंच को सबसे पुराना रंगमंच माना जाता है। उसमें भी कुछ कौशलों का प्रयोग ही प्रचलित था। रोमन रंगमंच पर भी सम्भवतः दृश्य विधान का प्रयोग नहीं होता था। देशकाल का निरूपण प्रायः कथोपकथन के माध्यम से ही होता था। रंगमंचीय दृश्य-योजना का विकास बहुत बाद में मिस्ट्री और मिरैकल नाटकों में हुआ। उन्नीसवीं शती में जब यथार्थवादी नाटक-परम्परा का विकास हुआ तो दृश्य-विधान के क्षेत्र में

महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ सामने आयीं। यथार्थवाद की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अगणित सज्जाशैलियाँ प्रस्तुत हुईं। इस प्रकार दृश्यविधान की कला मौलिक सूझ-बूझ की प्रतीक बन गई। पश्चिमी रंगमंच की सम्पूर्ण विकासयात्रा अपनी प्रवृत्ति में हमारे आहार्य अभिनय के प्रस्थान बिन्दु की ओर लौटी है।

भारतीय रंगदृष्टि अनुकरणात्मक न होकर सदा से उद्भावनात्मक रही है। भरत ने आहार्य अभिनय के अन्तर्गत-पुस्त-अलंकार, अंग-रचना तथा संजीव का उल्लेख किया है। पुस्तविधि के द्वारा शैल, यान, विमान, रथ आदि की आकृतियाँ तथा काष्ठ, वस्त्र, चमड़ा, पत्तों आदि सामग्री से सृजित आकृतियाँ नाट्य प्रयोगों का आधार थीं। आधुनिककाल में दृश्यांकन, प्रकाश-योजना, संगीत द्वारा अधिक यथार्थ वातावरण की सृष्टि करना अनिवार्य-सा हो गया है। 'इप्टा' ने सादे काले पर्दे की भूमिका पर ही अत्यन्त सशक्त नाट्य-प्रभाव उत्पन्न करने के सफल प्रयोग किए हैं। आधुनिक प्रस्तुतियों में रंगमंच पर सर्जित दृश्यकार्य अभिकल्पक के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत आता है। दृश्यसज्जा वह मंचीय विधान है जो नाटकीय क्रिया-व्यापार की विकासमान स्थिति में देश और काल की अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न दृश्यावलियों का उपयोग करता है। दृश्ययोजना से अभिनेता के लिए आवश्यक वातावरण की सृष्टि होती है।

2.2.4.5. रंगदीपन

नाट्य-प्रस्तुति को प्रभावी बनाने के लिए प्रकाश-व्यवस्था पर पर्याप्त ध्यान देना अनिवार्य-सा हो गया है। दृश्य अभिकल्पना में प्रकाश का महत्त्वपूर्ण योग होता है। एक युग था जब मंच पर प्रकाश की इतनी सुविधाएँ उपलब्ध नहीं थी। इसीलिए नाटक के लिए भरतमुनि ने ऐसा समय निर्धारित किया था जब नैसर्गिक प्रकाश ही पर्याप्त रहता हो। पाश्चात्य प्रकाश-व्यवस्था के अन्तर्गत यूनान रंगशालाओं में मध्यकाल में आकर मोमबत्तियों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। यह रंगदीपन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी। 1783 में जब 'आरगैंडलैंप' का आविष्कार हुआ तो मिट्टी का तेल या शुद्ध किए हुए तारपीन के तेल के द्वारा मंच पर तीव्र प्रकाश की व्यवस्था की गई। 1781 ई. में 'गेस लाइट' का आविष्कार हो जाने पर रंगमंच पर प्रकाश को तीव्र और मंद करने की युक्ति का उपयोग हुआ। इस प्रकाश पर नियन्त्रण करने की विधियाँ भी काम में लाई जाने लगीं। 1816 में लाइम लाइट के आविष्कार के साथ प्रकाश को किसी बिन्दु पर केन्द्रित करने या पात्र की गति के साथ संचालित करने की विधि का प्रचार हुआ। 1808 में जब बिजली का प्रकाश आया तो सारी प्रकाश-व्यवस्था का स्वरूप ही बदल गया। विद्युत प्रकाश को नियन्त्रित, नियोजित, केन्द्रित तथा प्रवाहित करने की अनेक विधियाँ नाट्य-प्रदर्शन के सन्दर्भ में प्रचलित हो गई हैं। प्रकाश नियन्त्रण के आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों ने रंगमंच के क्षेत्र में अद्भुत क्रान्ति कर डाली है। प्रकाश के आगमन की दिशा मुखाकृतियों की दृश्यमानता को बहुत अधिक प्रभावित करती है। प्रकाश व्यवस्था और वेशभूषा में घनिष्ट तालमेल होना चाहिए। वस्त्रों के साथ प्रकाश के तालमेल के परीक्षण की व्यवस्था भी होनी चाहिए। मंच पर प्रकाश के साथ दृश्य और अभिनेता पर भी प्रकाश डालना अपेक्षित होता है। भावदशा के निर्माण में भी रंगीन प्रकाश व्यवस्था का महत्त्व होता है। वास्तव में स्थल के निर्धारण, दूरी का आभास, काल की स्थिति और गतिशीलता को व्यंजित करने में प्रकाश-योजना या रंग-दीपन का अद्भुत योगदान होता है।

2.2.4.6. संगीत तथा ध्वनि संकेत

भारतीय संगीत एवं नाटक का भी गहन सम्बन्ध सर्वविदित है । सामवेद संगीत का स्रोत है । प्राचीन भारतीय आचार्य तो संगीत के बिना नाटक की कल्पना भी नहीं करते थे। नाटक में संगीत वातावरण की सृष्टि एवं पूर्ति करता है । प्रत्येक नाट्यकृति का एक केन्द्रीय स्वर होता है, उसकी एक विशिष्ट भावभूमि होती है । यदि गीतों की लय और धुनें स्वर और भावभूमि को अधिक व्यंजक, सटीक तथा तीव्र बनाने की क्षमता रखती हैं तो संगीतकार का श्रम सफल होता है। दृश्य के अनुरूप ध्वनि नाटक के मूल भाव को अभिव्यक्त करने में सहायक होती है जैसे, हर्ष, शोक, भय आदि के दृश्यों में ध्वनि तथा संगीत का संयोजन प्रभावशाली होता है। संगीत और ध्वनि संकेतों के माध्यम से दर्शक और पात्र के मर्म को गहराई से छूकर नाट्य-प्रभाव को बहुत तीखा बनाया जाता है। प्रदर्शन के उपरान्त भी वह ध्वनि बहुत समय तक सहृदय दर्शक के मन-मस्तिष्क में झंकृत होती रहती है।

2.2.4.7. रूपसज्जा

नाट्यशास्त्र में इसका समावेश 'आहार्य' के नाम से हुआ है। वेशभूषा तथा रूपसज्जा को रसानुभूति का प्रमुख साधन माना गया है। रंगमंच पर प्रयोक्ता पात्र में प्रयोज्य पात्र का आहरण इसी प्रकार होता है । यह छद्म उत्पन्न करने वाली एक ऐसी विधि है जिसके योग से पात्र प्रेक्षक की दृष्टि में स्वभाव से प्रभाव की प्रतीति कराता है । भरत ने वेश-रचना के लिए वस्त्र, आभूषण, मान्य, प्रतिशिर, केश-विन्यास, अंग-रचना, अंगराग, अनुलेपन, आदि का विवेचन किया है । सारे आहार्य में चरित्र के अनुरूप सामंजस्य पर बल दिया है । विभिन्न वय, जाति, वर्ण, स्तर, योनि आदि के पात्रों के लिए विभिन्न कोटि, रूप और रंग का निर्धारण उन्होंने उनकी भूमिकाओं अवस्थाओं, प्रकृतियों आदि के अनुसार किया है।

वेश-विन्यास और रूपसज्जा दोनों सहयोगी कलाएँ हैं । इसमें रूपसज्जा का नाटक तथा रंगमंच के साथ अत्यधिक महत्त्व है । वास्तव में रंगमंच और नाटक की कला रूपक की पर्याय है। इस पर्याय की सफलता वेशभूषा तथा रूपसज्जा पर ही निर्भर करती है । रूपसज्जा ही वास्तव में अभिनेता का पात्र की भूमिका में रूपान्तरण करती है । वह सच्चे अर्थों में पात्र के चरित्रांकन का आधार बनती है। उसमें चरित्र की सृष्टि होती है। उसके द्वारा पात्र का चरित्र उद्घाटित होता है।

पारसी रंगमंच में चटकीली भड़कीली वेशभूषा को प्रोत्साहन मिला किन्तु आज वेशभूषा की कसौटी उसका चटकीलापन न होकर दर्शक की दृष्टि पर पड़ने वाला प्रभाव है । ऐतिहासिक नाटक, धार्मिक नाटक, सामाजिक नाटक आदि में वेशभूषाकार को विशेष सतर्कता बरतनी पड़ती है । शारीरिक बनावट, पात्र के अनुरूप आँखें, नाक, भौंहें, माथा, ठोड़ी आदि के साथ भावात्मक अभिव्यक्ति का सृजन भी रूपसज्जाकार का ही दायित्व होता है। इसमें उसकी कलात्मक दृष्टि के साथ प्रसाधन सामग्री की गुणवत्ता की जानकारी भी महत्त्वपूर्ण होती है।

2.2.4.8. दर्शक

रंगमंच पर प्रदर्शित नाटक प्रेक्षकों का रंजनकरके ही सम्पूर्ण तथा सफल होता है। यही उसका उद्देश्य भी है। रंगशाला या अभिनेता को आवृत्त करने वाली सम्पूर्ण भूमिका का अभिन्न अंग दर्शक होता है, वही निर्णायक भी होता है। दर्शक नहीं होगा तो अभिनेता अभिनय किसके लिए करेंगे ? सारी उछल-कूद, दौड़-धूप और आयोजन-संयोजन दर्शक के ही लिए होता है। संस्कृत काल में दर्शक को प्रेक्षक, सहृदय, रंगरंजक आदि संज्ञाओं से अभिहित किया जाता था। रंगभूमि का अर्धभाग प्रेक्षक के लिए छोड़ दिया जाता था। दृश्य सज्जा अधिकांशतः वाचिक या आंगिक चेष्टाओं द्वारा कल्पित करायी जाती थी – जैसे, शकुन्तला का वृक्षों को सींचना केवल आंगिक चेष्टा होती थी, पेड़-पौधे या जल नहीं होता था। ऐसे में कल्पनाशील दर्शक दृश्य के विस्तार एवं स्थिति की स्वयं कल्पना कर लेता था। उसे अभिनय रूप-रसानुभूति प्राप्त हो जाती थी। भरतमुनि के अनुसार स्वस्थ इन्द्रियों और रागात्मक वृत्ति से विहीन व्यक्ति प्रेक्षक होने का पात्र नहीं।

आज हिन्दी रंगमंच का कोई नियमित दर्शक नहीं है। हिन्दी रंगमंच के दर्शक आज तीन प्रकार के हैं–

(i) ग्रामीण दर्शक – जो नौटंकी, स्वांग आदि लोकनाट्यों से मनोरंजन करता है।
(ii) सुरुचिविहीन शहर में रहने वाले नौकरीपेशा, दूकानदार, मजदूर जो दिनभर की मेहनत के बाद हलका-फुलका मनोरंजन चाहते हैं।
(iii) बुद्धिजीवी शिक्षक, पत्रकार, डॉक्टर आदि का वर्ग ऐसा है जो स्तरहीन प्रस्तुतियों की निन्दा करता है और कुछ जीवनोपयोगी, सार्थक तत्त्वों की तलाश के साथ मनोरंजन चाहता है।

दर्शक के लिए रागप्रवण और संवेदनशील होना अनिवार्य हे। उसे समाज एवं मनोविज्ञान का भी सामान्य ज्ञान होना चाहिए। वास्तव में किसी भी कृति का मंचन किसी एक विशेष तत्त्व की देन नहीं बल्कि सभी कलाओं के सामूहिक योगदान का परिणाम होता है। उसमें सभी कलाकारों का समुचित योगदान होता है। रंगमंच की सफलता के लिए लेखन और मंचन दोनों ही अनिवार्य तत्त्व हैं।

2.2.5. पाठ-सार

रंगमंचीय प्रस्तुतीकरण नाटक का उद्देश्य है। इसके साथ रचना का उद्देश्य भी जुड़ा हुआ है। रंगमंचीय प्रदर्शन की इकाइयाँ वरीयताक्रम में नाट्यभाषा, ध्वन्याश्रित शाब्दिक भाषा, संवाद योजना, अंगाश्रित शरीर भाषा और उपकरणाश्रित मंचीय भाषा आदि हैं। अभिनय तथा निर्देशक का घनिष्ट सम्बन्ध है। नाटक का पूर्वाभ्यास आवश्यक है। मंचन के क्षेत्र में निर्देशक, अभिनेता, रंगस्थली, दृश्य-योजना, रंगदीपन, संगीत तथा ध्वनि-संकेत, रूपसज्जा एवं दर्शक का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। रंगमंच की सफलता लेखन तथा मंचन दोनों पर निर्भर है।

2.2.6. बोध प्रश्न

1. रंगमंचीय प्रदर्शन की इकाइयों से आप क्या समझते हैं? सोदाहरण समझाइए।
2. रंगमंचीय प्रस्तुतीकरण में शाब्दिक भाषा तथा संवाद योजना केमहत्त्व पर प्रकाश डालिए।
3. अभिनय तथा निर्देशक के सम्बन्ध पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
4. रंगमंच के विविध आयाम कौन्-कौन-से हैं ? संक्षिप्त परिचय दीजिए।
5. "रंगमंच की सफलता के लिए लेखन और मंचन दोनों ही अनिार्य तत्त्व हैं।" इस कथन की प्रामाणिकता सिद्ध कीजिए।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 2 : रंगमंच: एक प्रदर्शनकारी कला

इकाई – 3 : नाट्य-लेखन की समीक्षा

इकाई की रूपरेखा

2.3.00. उद्देश्य कथन
2.3.01. प्रस्तावना
2.3.02. हिन्दी नाट्य-समीक्षा
2.3.03. समीक्षा का स्वरूप-निर्धारण
2.3.04. नाट्य समीक्षक भरतमुनि
    2.3.04.1. संस्कृत काल
2.3.05. लोकनाट्य और समीक्षा
2.3.06. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और नाट्य-समीक्षा
2.3.07. द्विवेदी तथा प्रसादयुगीन नाट्य-समीक्षा
2.3.08. प्रसादोत्तरयुगीन नाट्य-समीक्षा
2.3.09. प्रसादोत्तर समीक्षा युग की उपलब्धियाँ
2.3.10. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक एवं समीक्षा
    2.3.10.1. स्वातन्त्र्योत्तर पौराणिक नाटक
    2.3.10.2. स्वातन्त्र्योत्तर ऐतिहासिक नाटक
    2.3.10.3. स्वातन्त्र्योत्तर सामाजिक नाटक
    2.3.10.4. विभिन्न भाषायी नाटकों का हिन्दी पर प्रभाव
    2.3.10.5. आधुनिक हिन्दी रंगमंचकी वर्तमान स्थिति, सम्भावना एवं समीक्षा
2.3.11. पाठ-सार
2.3.12. बोध प्रश्न

2.3.00. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. नाट्य-लेखक के भावानुरूप नाट्य-रचना के उद्देश्य को समझ सकेंगे।
ii. नाट्य-लेखन की सीमाओं तथा सम्भावनाओं का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
iii. नाट्य-लेखन की समीक्षा-पद्धति पर विचार कर सकेंगे।
iv. अन्य विधाओं की समीक्षा तथा नाट्य-लेखन की समीक्षा के अन्तर को आत्मसात कर सकेंगे।
v. नाट्य-लेखन के समीक्षा सिद्धान्तों का अध्ययन कर सकेंगे।

2.3.01. प्रस्तावना

आपने प्रस्तुत खण्ड की पिछली इकाइयों में रंगमंच की परिकल्पना, व्याख्या, प्रकृति तथा स्वरूप आदि का परिचय प्राप्त किया है। इसी क्रम में आपने प्रदर्शन की विविध इकाइयाँ – मंचन, प्रदर्शन तथा प्रस्तुति विषयक अध्ययन भी किया है। नाट्य लेखन कैसा होना चाहिए, उसकी लेखन शैली की क्या विशेषताएँ होनी चाहिए, यह समीक्षा का विषय है। साहित्य की अन्य विधाओं की तरह नाट्य-लेखन के भी समीक्षा-सिद्धान्त हैं। प्रस्तुत पाठ में आप नाट्य-लेखन की समीक्षा का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक अध्ययन कर सकेंगे।

2.3.02. हिन्दी नाट्य-समीक्षा

समीक्षा का उद्भव मानवीय प्रवृत्ति का ही परिणाम है। क्या अच्छा है, क्या बुरा है, इसकी सोच-समझ ही समीक्षा का आधार है। मनुष्य की यह प्रवृत्ति समाज, साहित्य, राजनीति, व्यवहार, आपसी सम्बन्ध, खेलकूद, मनोरंजन एवं प्रदर्शनकारी कलाएँ आदि सभी सन्दर्भों में महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। समीक्षा को भलाई, बुराई, भर्त्सना, आलोचना, समालोचना, कटु आलोचना आदि अनेक नाम भी दिये गए। समीक्षा का प्रयोग आदिकाल से ही किया जाने लगा। मानवीय सभ्यता के विकास के साथ-साथ समीक्षा का भी क्षेत्र-विस्तार होता गया। भरत के नाट्यशास्त्र में समीक्षा की एक अलग पहचान ही प्रस्तुत हुई। इसे 'नाट्य-समीक्षा' कहा गया। उस समय से आज तक इसके रूप में अनेक परिवर्तन हुए हैं। रंग-समीक्षा, व्यक्ति-समीक्षा, पुस्तक-समीक्षा, फिल्म-समीक्षा, पत्र-समीक्षा और सम्पादकीय समीक्षा आदि अनेक रूपों में समीक्षा-दृष्टि प्रस्तुत हुई है।

समीक्षा का स्वरूप-निरूपण, विशेष रूप से नाट्य क्षेत्र में नाट्य प्रस्तुतियों में, कृतियों तथा लेखों में कैसे और किस प्रकार हुआ, यह अध्ययन तथा शोध का विषय है। समीक्षा की टिप्पणियों से सुधार भी सम्भव होता है किन्तु यह सुधार नाटक की पुनः प्रस्तुति में ही हो सकता है। पुस्तक और फिल्म समीक्षा में सुधार का कोई विकल्प नहीं है अतः नाट्य-समीक्षा उपयोगी और आवश्यक दोनों है। वास्तव में सत्य का बोध ही समीक्षा का उद्देश्य या धर्म होता है। वही समीक्षा सर्वग्राही होती है जो पूर्वाग्रह से ग्रसित न हो। विद्वानों ने भी आलोचना का प्रमुख गुण उसका निष्पक्ष होना ही माना है। यदि ऐसा नहीं होगा तो समीक्षा के गौरव की तो हानि होगी, साथ ही संशय की स्थिति बनी रहेगी।

2.3.03. समीक्षा का स्वरूप-निर्धारण

वैदिक तथा पूर्ण वैदिक काल में नाट्य झाँकियाँ तथा प्रहसन प्रदर्शित होते थे। यज्ञों के मध्य प्रहसनों की प्रस्तुति होती थी। उनका उद्देश्य मात्र मनोरंजन होता था। उस समय याज्ञिक कर्मकाण्ड के मध्य, लघु नाटकीय दृश्य प्रस्तुत करके प्रबुद्ध दर्शक समूह को बिठाये रखना संयोजक की कार्य-कुशलता का प्रतीक माना जाता था। वैदिक संवाद-सूक्तों में यम-यमी, पुरुर्वा-उर्वशी, इन्द्र-वामदेव, सोम-विक्रय प्रसंग आदि ऐसी ही प्रस्तुतियों के उदाहरण हैं। यज्ञ में सम्मिलित अतिथिगण यजमान आदि उसके दर्शक होते थे इसलिए सभी प्रस्तुतियों की चर्चा भी अवश्य ही होती होगी। कुछ कार्यक्रम सुन्दर, मनोरंजक तथा कुछ हलके स्तर के, कुछ घटिया अथवा

निम्नस्तरीय भी कहे जाते होंगे। रंगशाला में अभिनय की सफलता-असफलता पर हर्ष-विषाद सूचक ध्वनियों को मौखिक समीक्षा ही माना जा सकता है। उस समय व्यावहारिक समीक्षा का मार्ग प्रशस्त नहीं था। गुण-दोष-विवेचन को ही व्यावहारिक आलोचना का रूप कहा गया होगा। उस समय नाट्य-समीक्षा होती थी या नहीं, इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। फिर भी यह कहना असत्य नहीं होगा कि उस समय मौखिक नाट्य-समीक्षा का उद्भव अवश्य हो चुका था। यह अवश्य है कि उसका कोई रूप निश्चित नहीं हो सका था।

2.3.04. नाट्य समीक्षक भरतमुनि

नाट्य-समीक्षा के लिखित रूप पर विचार करें तो भरतमुनि-कृत नाट्यशास्त्र सर्वोत्तम आधार ग्रन्थ है। यह आदि लिखित ग्रन्थ है। यद्यपि भारतीय रंग परम्परा भरतमुनि से बहुत पहले की है किन्तु उसका समृद्ध रूप हमें भरत काल में दिखाई देता है। भरतमुनि ने जैसा देखा, वैसा चित्रित किया। अतः उन्हें ही नाट्य-समीक्षा का प्रथम आचार्य माना जाना चाहिए। उन्हें रंगमंच कीसम्पूर्ण विधाओं का ज्ञान था। उन्होंने तात्कालिक सम्पूर्ण नाट्य रूपों का विस्तृत विवेचन किया है। विशेषतः मंचों के आकार-प्रकार मंच-सम्बन्धी शब्दों जैसे – रंगशीर्ष, रंगपीठ, दर्शकों हेतु वर्णानुकूल स्थान, वाद्य-यन्त्र, सूत्रधार (तौरिय), अधिपति, वेषकर, माल्यकृत, चित्रज्ञ, रजक, प्रकाशदीप, दर्शक (आमन्त्रित किए जाने वाले प्रार्थित दर्शक और स्वयं आने वाले प्रार्थक दर्शक) कहलाते थे। भरत के अनुसार स्वाभाविकता का अधिकाधिक ध्यान केवल उपकरणों में ही नहीं, अपितु आंगिक अभिनय में भी अभीष्ट था। उसमें बहुअंगलीला (ओवर एक्टिंग) वर्जित थी। रंगसज्जा का भी विस्तृत विवेचन भरत ने किया है। रंग-लेपन पात्रानुकूल हो। नाट्य समीक्षक को नाटक सम्बन्धी गहन ज्ञान एवं अनुभव आवश्यक है। भरतमुनि सिद्धहस्त आचार्य एवं समीक्षक थे। उन्होंने नाट्याचार्यों को भी उनके कर्त्तव्य के प्रति सजग किया है।

2.3.04.1. संस्कृतकाल

दूसरी शती ई.पू. के मध्य से संस्कृतकाल में भी नाट्य प्रदर्शन मात्र मनोरंजन के लिए बताया गया है। संस्कृतकाल के नाट्य समीक्षकों में पतंजलि का नाम प्रमुख है। उन्होंने अपने महाकाव्य में दो प्रकार के अभिनयों का उल्लेख किया है। काले और लाल रंगों से कंस और कृष्ण के पक्ष के अभिनेताओं को मंच पर बतलाया जाता था। भाष्य के अनुसार स्त्रियों की भूमिका पुरुष ही करते थे। उन्हें भूकंस कहते थे। भूकंस अर्थात् स्त्री की भूमिका में आया पुरुष। पतंजलि ने लिखा है कि अभिनेताओं का समाज में विशेष सम्मान नहीं था। उन्हें नैतिक दृष्टि से भ्रष्ट बताया गया है। उस समय प्रस्तुतियों पर राजकर लगता था। सभी ललित कलाओं को राज्य की ओर से प्रोत्साहन भी मिलता था। नाट्य प्रदर्शन और दर्शकवृन्द को उस समय समाज कहा जाता था। यहाँ समीक्षात्मक विवेचन का अभाव प्रतीत होता है। इस समय की प्रसिद्ध नाट्य प्रस्तुतियों में कालिदास के विक्रमोर्वशीयम्, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, शूद्रक का मृच्छकटिकम्, भवभूति का उत्तररामचरितम्, मुद्राराक्षस तथा सम्राट् हर्ष के प्रियदर्शिका, रत्नावली तथा नागानन्द आदि नाटकों की प्रस्तुति प्रमुख है। संस्कृत नाटकों में दृश्यविधान अथवा रंगमंचीय योग कम से कम था। सम्भवतः इसीलिए संस्कृत नाट्य-समीक्षा के सूत्र कहीं दृष्टिगत नहीं होते।

आधुनिक युग में ऐसे नाट्य समीक्षक हैं जिन्होंने संस्कृत नाटकों का रंगमंचीय दृष्टि से मूल्यांकन किया है इन समीक्षकों में डॉ॰ वी. राघवन, डॉ॰ सूर्यकान्त, श्री रमाशंकर तिवारी, डॉ॰ कुँवरचन्द प्रकाश सिंह, डॉ॰ रघुवंश, श्री कृष्णदास, कान्तिकिशोर भरतिया, डॉ॰ रामविलास शर्मा, बलवन्त गार्गी आदि का नाम उल्लेखनीय है । इन समीक्षकों में किसी ने कथ्य की उपादेयता पर टिप्पणी की तो किसी ने प्रयोगात्मक स्वरूप का विवेचन किया । संस्कृत नाटकों का प्रदर्शन सोद्देश्य होता था । उसमें जनहित समाहित था । इसी दृष्टिकोण को लेकर वे जनता के समक्ष अभिनीत होते थे । कहीं-कहीं समीक्षक अपना स्पष्ट मत भी पाठक के समक्ष रख देता है । वास्तव में नाट्य प्रस्तुति को देखकर समीक्षा करना और केवल नाटक को पढ़कर पुस्तकीय समीक्षा करना दोनों अलग-अलग बातें हैं । संस्कृत काल में नाट्य-समीक्षा के नाम से जानकारी अप्राप्य है ।

2.3.05. लोकनाट्य और समीक्षा

लोकमंच आदिकाल से आजतक जीवन्त स्वरूप में हमारे समक्ष उपस्थित है । यद्यपि बदलती हुई समाजिक संस्कृति का प्रभाव उस पर भी पड़ा है तथापि उसका मूल रूप आज भी सुरक्षित है। लोकमंच का गहरा प्रभाव हिन्दी नाट्य प्रस्तुतियों पर पड़ा है । हिन्दी रंगमंच ने लोक-शैली विशेषतः सूत्रधार पर आधारित नाट्य प्रस्तुतियाँ देना प्रारम्भ कर दिया है । 1970 के बाद से एक ऐसी लहर सी चल पड़ी है । लोकनाट्य मूलतः मनोरंजनप्रधान ही माने जाते हैं । उनकी निजी शैली और विशेषता होती है अतः समीक्षा के लिए आवश्यकता नहीं होती किन्तु आज के दौर में जबकि हर क्षेत्र में एक समीक्षात्मक दृष्टि करती रहती है तो लोकनाट्य भी समीक्षा से अछूता नहीं रह जाता । अनेक समीक्षकों ने लोकनाट्य के स्तर और प्रभाव को अपनी लेखनी से दिशा देने का प्रयास किया है । यदि समीक्षक लोकनाट्य का ज्ञाता है तो वह इन प्रस्तुतियों की सही तथा तुलनात्मक समीक्षा दृष्टि रख सकता है । ऐसा समीक्षक हिन्दी, मराठी, बांग्ला प्रस्तुतियों में लोकशैली के प्रयोग का सही मूल्यांकन करने में भी समर्थ हो सकता है । वास्तव में भारतेन्दु काल से हिन्दी रंग आन्दोलन की बुनियाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने डाली जिसे हिन्दी का पारसी रंगमंच कहा गया है।

2.3.06. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र औरनाट्य-समीक्षा

भारतेन्दुकाल से आलोचना का आरम्भ स्वीकार किया जाता है । अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से गद्य में निबन्धों तथा सम्पादकीय टिप्पणियों के रूप में आलोचना होने लगी थी । इस काल की व्याख्यापरक आलोचनाओं में गुण-दोष दर्शन-प्रवृत्ति प्रमुख रही । यहाँ तक कि स्वयं भारतेन्दु ने नाटक नामक लेख में यह दर्शाया है कि हमारे पुराने सिद्धान्त आज कितने उपयोगी हैं, कितने अनुपयोगी, साथ ही यह भी कि पाश्चात्य सिद्धान्तों में किन-किन का ग्रहण श्रेयस्कर होगा । इस प्रकार भारतेन्दु के 'नाटक' लेख को प्रथम सैद्धान्तिक समीक्षात्मक कृति तथा भारतेन्दु को प्रथम समीक्षक माना गया है । यह युग नाट्य प्रस्तुतियों की दृष्टि से और भी महत्त्वपूर्ण है । पारसी रंगकर्मियों ने सभी भाषाओं के रूपान्तरित नाटक प्रस्तुत कर अर्थ-प्राप्ति को अपना उद्देश्य बनाया था, उनमें चमत्कार के साथ कुछ निम्न स्तर को भी महत्त्व दिया जाने लगा था । इस प्रकार दर्शकों को शिक्षित करने के बजाय भारतीय संस्कृति के आदर्श रूपों को खेमटिए वालों की तरह मंच पर प्रस्तुत किया जाने

लगा। पारसियों को आदर्श से कोई मतलब नहीं था। वे तो नाटक के व्यापारी थे। इसी विरोधाभास ने भारतेन्दु के हृदय में भारतीय आदर्श के प्रति निष्ठा जाग्रत् एवं सजग की। उन्होंने पारसी प्रस्तुतियों का घोर विरोध किया। यहीं से (19वीं शताब्दी) वास्तविक नाट्य-समीक्षा का उदय हो गया।

नारायणप्रसाद बेताब ने पारसियों की भाषा-शैली के लिए अपनी समीक्षात्मक दृष्टि 'न खालिस उर्दू न ठेठ हिन्दी' बतलाकर रखी है। गिरीश रस्तोगी ने 'चुटीले संवाद बोलते-बोलते पद्य में बोल जाना, हल्की किस्म के शेर अपनाये जाना' कहकर साहित्य और शैलीगत अपने विचार रखे हैं। 1903 ई. में भट्टजी ने एक लेख में लिखा था – "हिन्दू जाति तथा हिन्दुस्तान को जल्द गिरा देने का सुगम से सुगम लटका यह पारसी थिएटर है जो दर्शकों को आशिकी, माशूकी का लुत्फ़ हासिल करने का बड़ा उम्दा ज़रिया है, क्या मजाल जो तमाशबीनों को कहीं से किसी बात में पुरानी हिन्दुस्तानी की झलक मन में आने पाए।" श्री जयशंकर प्रसाद ने भी इनकी प्रस्तुतियों को 'एक असम्बद्ध फूहड़ भड़ैती' लिखकर कटु भर्त्सना की है। इस प्रकार इन समीक्षाओं से कुछ पारसियों की बाह्य प्रस्तुतियों में सुधार भी हुआ। इनमें सूरविजय, व्याकुल भारत, रासमहल नाटक-मण्डली आदि के नाम गणनीय हैं। सुधार का दूसरा कारण यह भी है कि भारतेन्दु नाटक-मण्डली के प्रसिद्ध अभिनेता डॉ० वीरेन्द्रनाथ दास, कृष्ण कौल, केशवदास टंडन आदि भी इसमें सक्रिय भाग लेने लगे थे। माधव शुक्ल ने भी पारसी रंगमंच के फूहड़पन को समाप्त करने में अपना पूर्ण सहयोग दिया था। परिणामस्वरूप पारसी फूहड़पन के साथ-साथ पारसी कंपनियों का भी पतन हो गया।

1857 ई. से हिन्दी रंगमंच ने अपनी जड़ें जमाना प्रारम्भ कर दिया। अतः इस काल की समीक्षा का केवल एक स्वर था, 'हीन प्रदर्शनों का घोर विरोध'। इस युग की एक बड़ी उपलब्धि यही है कि हिन्दी रंगकर्मियों ने दर्शक-रुचि को बदल दिया। दर्शकों की रुचि परिष्कृत होकर शुद्ध साहित्यिक एवं राष्ट्रीय प्रेरणायुक्त परिस्थितियों की ओर आकर्षित हो गई। यह कार्य सहज नहीं था। उस समय की 'ब्राह्मण' नामक पत्रिका में रामनारायण त्रिपाठी, प्रतापनारायण मिश्र आदि की नाट्यालोचनाएँ प्राप्त होती हैं। उनके माध्यम से समाज-सुधार, जन-जाग्रति और राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का अभ्युदय हुआ।

भारतेन्दुकालीन नाट्यकृतियों से समीक्षात्मक दृष्टि का पता चलता है। यथा, अभिनय में अतिनाटकीयता, उच्च स्वर, संगीतपूर्ण वाणी, सुन्दर आकार-प्रकार, अनूदित नाटकों का प्रचलन, मंगलाचरण, सूत्रधार, नेपथ्य और आकाशभाषित आदि का प्रयोग संस्कृत के अनुरूप, गीत, मौन झाँकी, रामलीला-सी चित्रसज्जा, पद्यात्मक संवाद, नाट्यधर्मी मंच-सज्जा, लम्बे संवाद, अनोपयोगी कथोपकथन, लोकप्रिय गीत ध्वनियाँ, पात्रानुकूल भाषा, देशभक्ति और देशोद्धारपूर्ण कथानक, ब्रज और खड़ीबोली मिश्रित भाषा, मेलों-बाजारों में नाटक प्रस्तुत करना आदि। उस समय स्त्री पात्रों की भूमिका भी पुरुष ही करते थे। डॉ० गोविद चातक ने भारतेन्दुकालीन नाट्य-रचना की समीक्षा की है। डॉ० गिरीश रस्तोगी ने भी भारतेन्दुकालीन रंगबोध को अपनी समीक्षात्मक दृष्टि से उभारा है। श्रीकृष्णदास, डॉ० बच्चन सिंह ने भी भारतेन्दुकालीन नाटकों की समीक्षा करते हुए उसे एक नयी दिशा की खोज तथा 'क्रान्तिकारी कदम' बताया है।

2.3.07. द्विवेदी तथा प्रसादयुगीन नाट्य-समीक्षा

उत्तर भारतेन्दुकाल में खेले जाने वाले नाटक प्रायः पौराणिक थे । कुछ नाटकों में सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं की ओर भी संकेत होता था । ब्रिटिशकाल में संवादों के माध्यम से ही जन-जाग्रति उत्पन्न करने का उपक्रम किया जाता था । इस युग में राजनैतिक संकेत प्रतीकात्मक रूप में नाटक के माध्यम से प्रेषित किए जाने लगे । ऐसे आयोजन कहीं-कहीं प्रतिबन्धित भी कर दिए जाते थे । इस युग में सार्वजनिक स्थल पर मंच-निर्माण, घरों में नाट्य-प्रदर्शन, नाट्य पुनरावृत्ति, पूर्वाभ्यास, भड़कीली पोशाकें, ट्रांसफर सीन, दर्शक श्रेणियाँ, कुलीन वर्ग आदि का कला प्रेम, आमन्त्रण पत्रों का चलन, चमत्कार-प्रयोग आदि के संकेत मिलते हैं । द्विवेदीयुगीन अभिनयकला अति नाटकीयता से प्रेरित नहीं है किन्तु इन सबसे बड़ी बात यह है कि इस युग में रंगमंचीय समीक्षाओं का भी प्रचलन हो चुका था।

1920-30 तक साहित्यिक नाटकों के साथ पारसी रंगमंचीय नाटकों की धारा चलती रही थी। इस कारण इस समय के नाटकों में भी अतिनाटकीयता, दैवीशक्ति, कौतुहल चमत्कार, शोखी, छेड़छाड़, प्रेम-सम्बन्धी सस्ते गाने, कुरुचिपूर्ण हास्य आदि की प्रधानता थी । इन व्यावसायिक रंगमंचीय नाटकों ने जनरुचि को इतना विकृत कर दिया था कि आधुनिककाल में भी नाटककारों को साहित्यिक नाटकों के अनुसार गीत, ग़ज़ल का प्रयोग अनिवार्य करना पड़ा । इसलिए जयशंकर प्रसाद पर भी रचनागत शिथिलता, अराजकता, बहुउद्देशीयता, घटना प्रधानता आदि का दोषारोण किया जाता है किन्तु उस युग के कुछ आलोचकों ने कटु आलोचना करना ही अपना लक्ष्य बना लिया था । वास्तव में आलोचक को अध्येता होने के साथ ही प्रस्तुति के काल, पात्र तथा वस्तुस्थिति से भी पूर्ण अवगत होना चाहिए अन्यथा समीक्षक पूर्वाग्रही होने के आरोप से नहीं बच सकेगा । प्रसादकाल में कुछ नये रूप सामने आए जैसे – नेपथ्य में गान, कोलाहल और रणवाद्य आदि । काशी में प्रसादजी पूर्वाभ्यास के समय कलाकारों के साथ बैठा करते थे ।

समीक्षाएँ नाटक के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं । इनके द्वारा विविध विधाओं की प्रस्तुति का बोध होता है । कला का विकास होता है, साथ ही युग-बोध भी । प्रसादयुग में समीक्षात्मक माध्यम का पूर्ण अभाव प्रतीत होता है । उस समय की कुछ पत्र-पत्रिकाओं यथा – 'जागरण', 'इन्दु', 'सरस्वती', 'माधुरी', 'प्रभा', 'आज' आदि में समीक्षाओं का अपेक्षाकृत रूप द्रष्टव्य बतलाया गया है किन्तु आज ये सब पत्रिकाएँ उपलब्ध न होने के कारण उस समय के समीक्षात्मक स्वरूप की प्रस्तुति कठिन है । वास्तव में नाट्य-समीक्षा का आदिकाल छिट-पुट बिखरे सूत्रों में ही परिलक्षित होता है ।

2.3.08. प्रसादोत्तरयुगीन नाट्य-समीक्षा

जयशंकर प्रसाद के पश्चात् रंगमंचीय गतिविधियों में एक सशक्त परिवर्तन परिलक्षित होता है। इस काल में अनेक प्रकार के प्रयोग तथा परीक्षण किए गए । इस काल में अनेक कलाकारों तथा उनकी नाट्य प्रस्तुतियों की समीक्षात्मक चर्चा-परिचर्चा मौखिक एवं लिखित रूप में दिखाई देती है। इस युग के लोकविख्यात पृथ्वीराज कपूर

के लिए लिखा गया कि इनके प्रस्तुत नाटकों तथा रंगमंचीय प्रस्तुतीकरण के स्वरूप में एक स्वाभाविक विकास-क्रम है। इनमें न अतिमानवीय तत्त्व है न कोई कृत्रिम अप्राकृतिक नाटकीय चमत्कार। पृथ्वीराज कपूर के समय से ही प्रकाश उपकरणों का प्रयोग आरम्भ हो चुका था। इनके नाटकों में देशभक्ति एवं साम्प्रदायिक एकता की कलात्मक अभिव्यक्ति द्रष्टव्य है। नाटकों के संवाद स्वाभाविक तथा व्यंग्यपूर्ण शैली में होने के कारण सीधे मर्म पर प्रहार करते हैं। इनके नाटकों द्वारा साम्प्रदायिक एकता का शंखनाद फूँका जाना एक बहुत बड़ी सामाजिक एवं साहित्यिक सेवा थी। पृथ्वीराज कपूर द्वारा बार-बार ड्राप गिराकर 30-30 या 40-40 सीन दिखाने की परम्परा भी समाप्त कर दी गई। मंच सज्जा की ओर भी पृथ्वीराज विशेष ध्यान देते थे। उन्होंने बड़े-बड़े खंभों, छत्रधारी सिंहासनों तथा चित्रांकित दीवारों तक को भव्य रूप में प्रस्तुत किया। उस समय के आलोचकों ने अभिनेता निर्देशक और व्यवस्थापक पृथ्वीराज कपूर के व्यक्तिगत प्रभाव तक की ओर भी ध्यान दिया है। वास्तव में इस युग का नाट्य समीक्षक नाटक देखने वाले दर्शक से लेकर अभिनेता, वेषकार, रंग लेपन, ध्वनि, संगीत तथा प्रकाश प्रयोग आदि सभी पहलुओं तक अपनी दृष्टि दौड़ाकर बड़े एकाग्रचित्त से ध्यान देकर उनकी अच्छाई-बुराई को परख कर अपनी लेखनी का आधार बनाता था। समीक्षक स्वयं निर्देशक और व्यवस्थापकों से व्यक्तिगत भेंट करके अपनी शंकाओं का समाधान भी करता था। नाटक के सन्देश या उद्देश्य की सार्थक अभिव्यक्ति हुई या नहीं, यह भी समीक्षा का विषय होता था।

इस काल में नाट्यकला का सरकारी, गैर सरकारी स्तर पर नाट्य प्रशिक्षण भी आरम्भ हो गया था। इससे सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक ज्ञान के साथ-साथ अच्छे दर्शक, परिष्कृत समीक्षक तथा नये-नये आयाम भी दृष्टिगोचर होने लगे। इस प्रकार के चतुर्मुखी विकास के हिन्दी रंगमंच आन्दोलन में नाट्य-समीक्षा के लिए यथोचित व्यवस्था भी 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'दिनमान' तथा कई दैनिक पत्रों में पायी जाने लगी। यहाँ तक कि नियमित स्तम्भ भी प्रकाशित होने लगे अतः इस काल को पूर्णरूप से समीक्षा युग के नाम से जाना गया।

2.3.09. प्रसादोत्तर समीक्षा युग की उपलब्धियाँ

प्रसादोत्तर नाट्य-समीक्षा के युग में पत्र-पत्रिकाओं को श्रेय जाता है। इनके सहयोग से समीक्षकों में अपना अलग स्थान बनाया है। इस समय की बड़ी उपलब्धि यह हुई कि नाट्य जगत् के वैविध्य को इसने उभारा जिससे हिन्दी रंगमंच की विकसित परम्परा की अनेक विधाओं को अपनाया जाने लगा। एब्सर्ड नाटकों की प्रस्तुतियों ने कई लेखकों और प्रस्तोताओं को बहुत प्रभावित किया। मोहन राकेश के 'बीज' और 'आधे अधूरे' नाटक इसी परम्परा के द्योतक हैं। लेखन में नयापन होने से समीक्षा का स्वरूप भी बदल जाता है। नाटक अध्येताओं, समीक्षकों और लेखकों ने सम्प्रति नाटकों की कथावस्तु को मात्र 'मूड' एवं 'तर्क' का स्वरूप माना है। बिम्बवादी और अमूर्त कथावस्तु से युक्त नाटक भी मंचित हुए हैं। राजनैतिक व्यंग्य और प्रशासनिक अव्यवस्था भी आधुनिक नाटकों की कथावस्तु है। मनोवैज्ञानिक, प्रकृति प्रकोपयुक्त लघुकथा नाटक भी प्रसादोत्तर नाट्य-समीक्षा युग की विशेष देन है। इस प्रकार सर्वथा नवीन शैली के उद्भव में इस युग का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

प्रसादयुग तक नाटक और रंगमंच के मध्य जिस खाई का निर्माण हो गया था, वह प्रसादोत्तर काल में कुछ पट गई। 1960 के बाद नाट्य लेखन और रंगमंच दोनों में परिवर्तन आया। 'पहला राजा', 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस', 'अंडर सेक्रेटरी', 'मादा कैक्टस', 'रातरानी', 'दर्पण', 'आधे-अधूरे' आदि में कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से आयी नवीनता को देखा जा सकता हे। विगत 3-4 दशकों में हिन्दी नाटक ने अपनी निरर्थकता तथा कलाहीनता के घेरे को तोड़कर उल्लेखनीय सर्जनात्मक स्तर प्राप्त करने की दिशा में पर्याप्त प्रगति की है।

2.3.10. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक एवं समीक्षा

2.3.10.1. स्वातन्त्र्योत्तर पौराणिक नाटक

स्वतन्त्रता के बाद पौराणिक नाटकों का विकास एक नवीन क्रम में होने लगा। पौराणिक कथानकों में आधुनिक युगबोध का भी समावेश होने लगा। पात्रों के माध्यम से सामाजिक विसंगतियों पर भी प्रकाश डाला गया। कथास्रोत तो पुराण, रामायण और महाभारत ही रहे किन्तु कथावस्तु के द्वारा यथार्थबोध भी होने लगा। पात्रों का चरित्र मानवीय परिप्रेक्ष्य में होने लगा। निराशा में आशा का संचार कर्त्तव्य-पथ से विचलित न होना, सघन परिस्थितियों में भी धैर्य रखना, धर्म-संस्कृति की रक्षा के लिए प्राणों की बाजी लगा देना आदि बातों की शिक्षा इन नाटकों का उद्देश्य है। नवीन रंगमंचीय शिल्प का प्रभाव इन पौराणिक नाटकों पर भी पड़ा। अंक, दृश्य-विभाजन, संवाद आदि की दृष्टि से ये नाटक भी सुगठित हो गए।

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल का 'सूर्यमुख', 'कलंकी', जगदीशचन्द्र माथुर का 'पहला राजा', लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'चक्रव्यूह', 'चित्रकूट', 'अपराजित', गीत-नाट्य शैली में धर्मवीर भारती का 'अन्धा युग', दुष्यन्त कुमार का 'एक कण्ठ विषपायी', गोविन्द वल्लभ पन्त का 'ययाति', रांगेय राघव का 'स्वर्गभूमि का यात्री' आदि महत्त्वपूर्ण पौराणिक नाटक हैं।

2.3.10.2. स्वातन्त्र्योत्तर ऐतिहासिक नाटक

ऐतिहासिक नाटकों के माध्यम से राजनैतिक, सामाजिक और कलात्मक जागरूकता को प्रतिबिम्बित किया जा सकता है। ऐतिहासिक नाटक अतीत को वर्तमान के सन्दर्भ में प्रस्तुत करता है। ये नाटक काल्पनिक होते हुए भी अपने ऐतिहासिक रूप को बनाए रखते हैं। ये नाटक मौर्य्य, गुप्त, मुगल व अंग्रेजी शासनकाल को नाटक की कथावस्तु में प्रस्तुत करते हैं। स्वातन्त्र्योत्तर युग में कुछ जीवनीपरक ऐतिहासिक नाटक भी लिखे गए किन्तु अधिकतर संस्कृतिप्रधान ऐतिहासिक नाटक ही लिखे गए। इन नाटकों का उद्देश्य देश में चारित्रिक उत्थान और गौरव बनाये रखना है। स्वातन्त्र्योत्तर युग में नारी को श्रद्धा और विश्वास की दृष्टि से देखा गया है। गुरु-शिष्य, माता-पिता, राजा-प्रजा, प्रेमी-प्रेमिका के दायित्व पर भी प्रकाश डाला गया है।

संवाद छोटे, सरल, सरस और नाटकीय हैं। भाषा तत्कालीन परिवेश को प्रस्तुत करने में समर्थ है। चरित्रों में जीवन्तता है। गीतों का प्रयोग सन्दर्भों को जोड़ने के लिए किया गया है। इस प्रकार रोचकता भी आयी है। अधिकांश नाटक तीन अंकों में विभाजित हैं। महत्त्वपूर्ण नाटकों को अभिनय की दृष्टि से सफल बनाने के लिए दृश्यों में विभाजित नहीं किया गया है। इसी दृष्टि से नाटकों में दृश्य-सज्जा का प्रयोग सरल है। युद्ध के दृश्यों में नेपथ्य का प्रयोग है।

उदयशंकर भट्ट का 'शक-विजय', लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'दशाश्वमेध', 'वत्सराज', 'वैशाली में वसन्त', 'जगत् गुरु', जगदीशचन्द्र माथुर का 'शारदीया' व 'कोणार्क', मोहनराकेश का 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस', डॉ॰ रामकुमार वर्मा का 'अशोक का शोक', 'सारंग स्वर', हरिकृष्ण प्रेमी का 'अमृत पुत्री', 'कीर्तिस्तम्भ', डॉ॰ रांगेय राघव का 'बिरूढ़क', वृन्दावनलाल वर्मा का 'झाँसी की रानी', 'बीरबल पूर्व की ओर', 'ललित विक्रम' तथा हंसमयूर मणि का 'इकतारे की आँख' आदि प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक है।

2.3.10.3. स्वातन्त्र्योत्तर सामाजिक नाटक

स्वतन्त्रता के पश्चात् सामाजिक नाटकों का सृजन विविध रूपों में हुआ। सामाजिक नाटकों द्वारा समाज में घटने वाली घटनाओं को प्रस्तुत किया गया है। चीनी और पाकिस्तानी आक्रमण के दिनों में 'घाटियाँ गूँजती हैं', 'नेफा की एक शाम' जैसे युद्धपरक नाटक किये गए। विभिन्न समस्याओं को लेकर लिखे गए नाटकों में लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक अत्यधिक सफल हैं। मिश्रजी के नाटकों में प्रमुख समस्या के इर्द-गिर्द अनेक समस्याएँ उभरती हैं जिससे प्रेक्षक की बुद्धि प्रमुख समस्या की तलाश में थकित हो जाती है कि नाटक की प्रमुख समस्या क्या है। इन नाटकों में कथावस्तु का आधार विवाह, प्रेम, नैतिकता, अनैतिकता, अमीरी-गरीबी, पुराने मूल्यों का विघटन, घूसखोरी, बेरोजगारी, पति-पत्नी के कटुतापूर्ण सम्बन्ध, सेक्स, दहेज, कुण्ठा, राजनीति, वर्ग-संघर्ष आदि है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी सामाजिक नाटक प्रतीकों को माध्यम बनाकर भी लिखे गए। यद्यपि प्रतीकों का समग्र रूप से निर्वाह नहीं हुआ है। इन नाटकों में लक्ष्मीनारायण लाल का 'मादा कैक्टस', 'सूखा सरोवर', 'दर्पण', 'तीन आँखों वाली मछली', 'मिस्टर अभिमन्यू', 'कर्फ्यू', डॉ॰ शंभूनाथ सिंह का 'धरती और आकाश', 'अकेला शहर', ज्ञानदेव अग्निहोत्री का 'शुतुर्मुर्ग', ललित सहगल का 'हत्या एक आकार की' और आलोक शर्मा का 'चेहरों का जंगल' आदि प्रमुख सामाजिक प्रतीकों के आधार पर लिखे गए नाटक हैं।

द्वितीय महायुद्ध के बाद इन सामाजिक नाटकों में नवीन चेतना आयी। मनोविज्ञान का प्रभाव इन नाटकों पर सर्वाधिक पड़ा। नाटककार नाटक के माध्यम से मनुष्य का मानसिक विश्लेषण प्रस्तुत करने लगे। अभिनेयता की दृष्टि से भी यथार्थवादी रंगमंच का प्रयोग किया जाने लगा। नाटक को एक ही दृश्यबन्ध पर प्रयुक्त करने की चेष्टा नाटककारों और निर्देशकों द्वारा की जाने लगी। खुले मंच पर भी नाटक सुविधापूर्वक प्रस्तुत होने लगे। कठिन वेश और दृश्य-सज्जा का सर्वथा त्याग किया गया। प्रकाश तथा ध्वनि पर विशेष ध्यान दिया गया।

नाट्य रचना के क्षेत्र में सातवें दशक में कुछ नये प्रयोग किए गए। मिथकीय चरित्रों को आधुनिक सन्दर्भों में रूपायित किया गया। वस्तु और शिल्प दोनों ही स्तरों पर अत्यन्त नवीन प्रयोग प्रस्तुत हुए। इस दृष्टि से सुरेन्द्र वर्मा का 'सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक', 'आठवाँ सर्ग', 'द्रौपदी', गिरिराज किशोर का 'प्रजा ही रहने दो', दयाप्रकाश सिनहा का 'कथा एक कंस की', नरेन्द्र कोहली का 'शम्बुक की हत्या', शंकर शेष का 'एक और द्रोणाचार्य', लक्ष्मीकान्त वर्मा का 'एक ठहरी हुई ज़िंदगी', और डॉ॰ लक्ष्मीनारायण लाल का 'राम की लड़ाई' आदि प्रमुख नाटक हैं। सामाजिक विसंगतियाँ, उनसे जूझता मानव और उन्हें समेटता मिथकीय चरित्र तथा आज की स्थिति का आकलन करते हुए नये मूल्यों की तलाश इन नाटकों की विशेषता है। आधुनिक युग की नवीन रंगचेतना तथा जागरूकता का ही यह परिणाम है कि हमारी दृष्टि पश्चिम के नाटककारों के नवीन प्रयोगों को अन्वेषण करते हुए उसे अपने मौलिक रंगमंचीय साँचे में ढाल सकी। आज का हिन्दी रंग सर्जक प्रगतिशील तथ्यों से पूर्णतः अवगत तथा सजग रहते हुए अपनी परम्परा की ओर मुड़ा है। नयी कलात्मक दृष्टि से अपने परम्परागत नाट्य तत्त्वों को अपनाकर ही अधिक कलात्मक प्रस्तुति की जा सकती है। पूर्वी और पश्चिमी रंग परम्पराओं के समन्वय से भी हिन्दी रंगमंच प्रगति पथ पर अग्रसर है। भारतीयता की खोज, नवीन वैचारिक धरातल, रंगमंचीय नवीन प्रयोग, पाश्चात्य व भारतीय तत्त्वों का सम्मिश्रण, भाषागत नवीनता : मंचीय भाषा की खोज, लेखन में नवीन प्रयोग, आदर्श से यथार्थ की यात्रा, मूल्यों की चर्चा, मानवीय सम्बन्ध स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, रंग संकेत आदि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटकों की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

हिन्दी नाटक एवं रंगमंच की दिशा में नित नवीन प्रयोग हो रहे हैं। नुक्कड़ नाटक (जनता के बीच प्रस्तुति), कहानियों का रंगमंच (अभिनेय कहानियों की रंगमंचीय प्रस्तुति), मनोशारीरिक रंगमंच (शारीरिक अभिनय से मनोभावों का प्रदर्शन), लघुनाट्य (संक्षिप्त और एक जीवन स्थिति प्रधान), काव्य नाटक (यथा – 'अन्धा युग'), एक नटक (एकालाप अभिनय मुद्रा प्रधान नाटक, यथा – रमेश बक्षी का 'रामबाण') आदि नवीनतम प्रयोग हैं जो स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटकों की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

2.3.10.4. विभिन्न भाषायी नाटकों का हिन्दी पर प्रभाव

भारत की अन्य भाषाओं में भी होने वाली रंगमंचीय प्रस्तुतियों का प्रभाव हिन्दी पर पड़ा है। हिन्दी और बांग्ला, हिन्दी और मराठी, हिन्दी और गुजराती आदि के पारस्परिक आदान-प्रदान ने भी हिन्दी नाटक एवं रंगमंच को प्रभावित किया है। आधुनिक समय में विभिन्न भारतीय भाषायी रंगमंच अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष एवं प्रयासरत हैं। सभी को अपनेपन की तलाश है। यद्यपि पश्चिमी रंगमंच ने व्यापक रूप से एक लम्बे समय से सभी को अपने प्रभावक्षेत्र में रखा हुआ था फिर भी आज सभी भाषाएँ अपनी मौलिकता के साथ रंगमंचीय प्रस्तुति के उद्देश्य से प्रासंगिक और अपने देश, काल, पात्र के अनुकूल होना चाहती हैं। इस दिशा में सबसे पहले अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रयास बांग्ला नाटक लेखन में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने 'रक्तकरबी', 'मुक्तधारा', 'राजा' जैसे नाटकों में किया था।

इस प्रयास की मुख्य दिशा देश के पारम्परिक या लोकनाट्यों की अथवा संस्कृत नाटक एवं उसकी कल्पनाशील प्रस्तुति-शैलियों की सम्भावनाओं का अन्वेषण करने की रही है। यह प्रवृत्ति देश के सभी रंग-सक्रिय क्षेत्रों और भाषाओं में कमोबेश तीव्रता और गम्भीरता से प्रकट होती रही है। नाटक-लेखन, अभिनय, प्रस्तुति, पद्धतियाँ, दृश्य-सज्जा आदि नाट्यकला के सभी पक्षों में यह अन्वेषण-प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। विभिन्न भाषाओं में कुछ ऐसे उत्कृष्ट नाटक हैं जिन्होंने न केवल हिन्दी बल्कि एक दूसरे को प्रभावित किया है। इस रुझान का प्रभाव प्रदर्शन-पद्धतियों में और अधिक स्पष्ट रूप से मुखरित हुआ है। पारम्परिक नाट्यों के प्रादेशिक चरित्र के बावजूद उनके आधार पर निर्मित रंगमंचीय मुहावरा, प्रादेशिक और भाषायी सीमाओं से बाहर आकर लगभग एक हजार वर्षों बाद पहली बार एक अखिल भारतीय रंगमंचीय भाषा-शैली और स्वरूप ग्रहण कर रहा है, वह भी प्रादेशिक विशिष्टताओं के समन्वय के साथ।

2.3.10.5. आधुनिक हिन्दी रंगमंच की वर्तमान स्थिति, सम्भावना एवं समीक्षा

भारतीय परिवेश में अनुकरणात्मक प्रयोग अधिक हो रहे हैं। उनकी उपलब्धियाँ बहुत सीमित हैं। हिन्दी रंगमंच अभी तक पाश्चात्य अनुकरण से ही ग्रस्त है। किसी भी प्रादेशिक भाषा के नाटकों को प्रसिद्ध और लोकप्रिय बनाने के लिए हिन्दी रंगमंच के सहारे की आवश्यकता होती है अतः हिन्दी रंगमंच ने नेतृत्व तो ग्रहण किया है किन्तु हिन्दी रंगमंच स्वयं अपनी छवि को गढ़ने औरसँवारने के प्रति सजग नहीं है। पश्चिम के नाटक और शिल्प को हिन्दी रंगमंच पर उतार कर विस्तार तो मिला किन्तु अपने भारतीय जनमानस की मूल भावना से अपने को विरत करने के कारण विकृति भी आ गई। कुछ पश्चिमी कुछ प्रादेशिक नाटकों की विकृत सैक्स-प्रधानता ने भी हिन्दी रंगमंच की छवि को बहुत क्षति पहुँचाई है। वर्तमान में एक बिखराव और आधारहीनता की स्थिति भी दिखाई देती है। आवश्यकता है अपनी पुरानी विरासत को पुनः सँजोने की। यदि प्राचीन भारतीय रंगमंचीय विरासत का अनुशीलन करके उसे ठीक रूप में नवीन पद्धति के साथ समन्वित करके प्रस्तुत किया जाए तो आज के युग में यह एक बड़ी उपलब्धि होगी। भारत नगरों में नहीं, गाँवों में बसता है, अतः रंगमंच की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि ग्रामीण जनता के बीच भी भव्य रंगमंचीय प्रस्तुति हो सके। यह एक आदर्श स्थिति होगी। आज ग्रामीण जनता अपने मनोरंजन के लिए लोकनाट्यों पर ही निर्भर है, सिनेमा उनके लिए सुलभ नहीं।

वर्तमान में हिन्दी नाटक संक्रमण काल जैसी स्थिति से गुजर रहा है। अनास्था, कुण्ठा, तनाव, देहरस की लिप्सा, विवाह-बन्धन से मुक्ति और स्वच्छन्द भोगेच्छा के दुर्दमनीय भावों की खोज में भटकता हुआ नाटक का पात्र स्वच्छन्द विलास की ओर तेजी से दौड़ रहा है। संयम, शील, मर्यादा, नैतिकता, परम्परा, आस्था आदि को विकास और उन्नति के मार्ग का कण्टक समझकर उनसे दूर भागने का प्रयास कर रहा है। वास्तव में हिन्दी रंगमंच को हिन्दीभाषी प्रदेश की सांस्कृतिक पूर्तियों और आकांक्षाओं का प्रतीक बनना होगा। नाटक अभिनय, अभिनेता और रंगमंच कला के एक सशक्त माध्यम के रूप में हमारी परम्परा में रहे हैं। अतः आज आवश्यकता है कि हम अच्छे नाटक, अच्छा अभिनय और श्रेष्ठ एवं स्वस्थ मनोरंजन देकर दर्शक को रंगमंच की ओर उन्मुख करें।

स्वातन्त्र्योत्तर नाट्य-समीक्षा उपर्युक्त देशी-विदेशी मानकों के बीच अपनी दिशा तलाशती नज़र आती है। अभिनय, अभिनेयता, प्रयोग, टेक्निक आदि का प्रभाव वर्तमान समीक्षा चिन्तन पर भी पड़ा है। फिर भी कुल मिलाकर तथाकथित आधुनिकता की दौड़ में समीक्षक भी यह तय नहीं कर पा रहे हैं कि किसे अच्छा या खराब कहें और क्यों। कारण यह कि सभी पक्षों के अपने-अपने तर्क हैं। अतः मूल बात यही होती है कि नाटक अपने कथ्य से क्या प्रस्तुत करना चाहता है और वह उसे प्रस्तुत कर पाया या नहीं। नित नवीन सामाजिक समस्याएँ और प्रगतिशीलता के साँचे में ढले हुए नवीन तथ्यात्मक प्रयोग व्यापक बहस का विषय बने हुए हैं। ऐसे में हिन्दी नाट्य-समीक्षा भी बहुआयामी विचारों एवं मंथनों के दौर से गुजर रही है।

आज यदि मनोरंजन एक उद्योग के रूप में विकसित हो रहा है तो उसके पीछे जीविकोपार्जन की दृष्टि से नाट्य सहित समस्त कलारूपों का महत्त्व सुस्पष्ट है। भारत जैसे विशाल देश में यदि कृषि के समानान्तर किसी क्षेत्र में बहुत बड़ी संख्या में लोग आजीविका की पूर्ति कर रहे हैं तो वह नाट्यकला और शिल्प का क्षेत्र ही है। नाट्य की सौन्दर्यानुभूति समस्त जीवन-दर्शन के साथ समन्वित है। वर्तमान में रंगमंच समीक्षा, कला समीक्षा की एक विशिष्ट विधा के रूप में स्थापित है। यह समीक्षा प्रदर्शनकारी कला जैसे नाट्य या नृत्य-नाट्य के सम्बन्ध में लिखी या कही जाती है। एक रंग समीक्षक समाचार-पत्र, पत्रिका, टेलीविजन या वेबसाइटों के लिए किसी नाट्य या प्रदर्शनकारी कला का विश्लेषण और लेखा-जोखा करता है। इसके लिए उसे रंगमंच की विशेषताओं के साथ उसकी सामयिक प्रवृत्तियों से अच्छी तरह परिचित होना चाहिए। उसका सशक्त लेखकीय कौशल से सम्पन्न होना भी अनिवार्य है। कुछ समीक्षक पूर्णकालिक या शौकिया तौर पर किसी प्रकाशन से जुड़े होते हैं, कुछ फ्रीलांसर के रूप में अनुबन्ध के आधार पर कार्य करते हैं। अधिकांश बड़े अखबार रंग-समीक्षा और अन्य कलारूपों को कवरेज देते हैं। रंग-समीक्षक का लेखन साहित्यिक व्याख्या के माध्यम से पाठकों के मानस में रंगमंच के प्रति सामान्य जागरूकता लाने में सहायक सिद्ध होता है। रंग-समीक्षा को हिन्दी में यथोचित स्थान नहीं मिला। जब रंगमंच ही अपने अस्तित्व की तलाश में जुटा हो तो रंग-समीक्षा का संकट समझा जा सकता है। आज देखा जा रहा है कि रंग-समीक्षा कहीं प्रस्तुति विवरण मात्र बनकर रह जाती है या कहीं ब्रोशर में दिये गए विवरण का पुनः कथन, दोनों ही स्थितियाँ अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण हैं। हिन्दी रंग-समीक्षा रंगकर्मियों के लिए तो उत्साहवर्धक सिद्ध हुई है किन्तु रंगमंच की ओर दर्शक उत्साहित हों, यह कम ही देखा जा रहा है। ऐसे में रंग-समीक्षक का दायित्व बढ़ जाता है। समीक्षक को सेतु के रूप में भी कार्य करना होगा। रंग एवं कला-समीक्षा की भाषा का विकास हिन्दी में विलम्ब से हुआ। यह अभी भी प्रक्रियाधीन दिखाई दे रही है। रंग-समीक्षा में शब्दावली की समस्या रही है। अभी भी हम एक हद तक अनुवाद पर निर्भर हैं। रंग-समीक्षा ऐसी हो जो दर्शक और पाठक को समृद्ध तथा उसकी समझ को विकसित करे।

2.3.11. पाठ-सार

समीक्षा का उद्भव मानवीय प्रवृत्ति का ही परिणाम है। समीक्षा का स्वरूप-निरूपण विशेष रूप से नाट्य-प्रस्तुतियों, कृतियों तथा लेखों में कैसे और किस प्रकार हुआ, यह अध्ययन एवं शोध का विषय है। वैदिक और पूर्व वैदिककाल में नाट्य-झाँकियाँ और प्रहसन प्रदर्शित होते थे। प्रथम नाट्य-समीक्षक भरतमुनि को ही माना जा

सकता है। संस्कृतकाल के नाट्य समीक्षकों में पतंजलि का नाम प्रमुख है। लोकनाट्य अपने आदिकाल से आज तक अपने जीवन्त स्वरूप में उपस्थित हैं। हिन्दी रंगमंच आन्दोलन की बुनियाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने डाली। समीक्षा का आरम्भ भी भारतेन्दु काल से ही माना जाता है। अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से गद्य में निबन्धों तथा सम्पादकीय टिप्पणियों के रूप में आलोचना का प्रारम्भ हुआ। उत्तर भारतेन्दुकाल में खेले जाने वाले नाटक पौराणिक थे। प्रसादोत्तरकाल में अनेक प्रकार के प्रयोग तथा परीक्षण किए गए। नाट्य-समीक्षा के क्षेत्र में पत्र-पत्रिकाओं का योगदान महत्त्वपूर्ण रहा। स्वातन्त्र्योत्तर काल में पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक नाटकों के साथ नुक्कड़ नाटक, कहानियों का रंगमंच, मनोशारीरिक रंगमंच, लघुनाट्य, काव्यनाटक, एक नटक आदि नवीनतम प्रयोग किए गए। विभिन्न भाषायी नाटकों का भी हिन्दी नाटकों पर प्रभाव पड़ा। भारतीय परिवेश में अनुकरणात्मक प्रयोग अधिक हो रहे हैं। स्वातन्त्र्योत्तर नाट्य-समीक्षा देशी-विदेशी मानकों के बीच अपनी दिशा तलाशती नजर आती है। आधुनिकता की दौड़ एवं तथाकथित प्रगतिशीलता के चक्रव्यूह में हिन्दी नाट्य-समीक्षा भी भ्रमित होकर अपनी राह खोज रही है।

2.3.12. बोध प्रश्न

1. हिन्दी नाट्य-समीक्षा के इतिहास पर प्रकाश डालिए।
2. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और नाट्य-समीक्षा पर एक निबन्ध लिखिए।
3. द्विवेदी तथा प्रसादयुगीन नाट्य-समीक्षा का स्वरूप निर्धारित कीजिए।
4. प्रसादोत्तर नाट्य-समीक्षा एवं उसकी उपलब्धियों का विवेचन कीजिए।
5. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटकों के प्रकार कौन-कौन से हैं ? किसी एक का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
6. हिन्दी रंगमंच की समीक्षा की वर्तमान स्थिति एवं सम्भावना पर प्रकाश डालिए।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 2 : रंगमंच: एक प्रदर्शनकारी कला

इकाई – 4 : भरत के नाट्यशास्त्र में वर्णित अभिनय

इकाई की रूपरेखा

2.4.0. उद्देश्य कथन
2.4.1. प्रस्तावना
2.4.2. अभिनय
2.4.3. अभिनय के प्रकार
- 2.4.3.1. आंगिक अभिनय
  - 2.4.3.1.1. शरीरज अभिनय
    - 2.4.3.1.1.1. शिरोऽभिनय
    - 2.4.3.1.1.2. हस्ताभिनय
    - 2.4.3.1.1.3. वक्षाभिनय
    - 2.4.3.1.1.4. पार्श्वाभिनय
    - 2.4.3.1.1.5. कट्याभिनय
    - 2.4.3.1.1.6. पादाभिनय
  - 2.4.3.1.2. मुखज अभिनय
    - 2.4.3.1.2.1. दृष्टि अभिनय
    - 2.4.3.1.2.2. भ्रू अभिनय
    - 2.4.3.1.2.3. नासिका अभिनय
    - 2.4.3.1.2.4. अधर अभिनय
    - 2.4.3.1.2.5. कपोल अभिनय
    - 2.4.3.1.2.6. चिबुक अभिनय
  - 2.4.3.1.3. चेष्टाकृत अभिनय
    - 2.4.3.1.3.1. बाहु अभिनय
    - 2.4.3.1.3.2. उदर व पीठ अभिनय
    - 2.4.3.1.3.3. उरू अभिनय
    - 2.4.3.1.3.4. जंघाभिनय
- 2.4.3.2. वाचिक अभिनय
  - 2.4.3.2.1. स्वर
  - 2.4.3.2.2. स्थान
  - 2.4.3.2.3. वर्ण
  - 2.4.3.2.4. काकु
  - 2.4.3.2.5. अलंकार
  - 2.4.3.2.6. अंग
- 2.4.3.3. आहार्य अभिनय

2.4.3.3.1. पुस्त नेपथ्य
2.4.3.3.2. अलंकार
2.4.3.3.3. अंग-रचना
2.4.3.3.4. संजीव नेपथ्य विधान
2.4.3.4. सात्त्विक अभिनय
2.4.4. बोध प्रश्न
2.4.5. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

2.4.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. भरतमुनि द्वारा रचित नाट्यशास्त्र में वर्णित अभिनय के बारे में जानेंगे।
ii. नाटक में अभिनय का क्या महत्त्व है, इसे समझ सकेंगे।
iii. आंगिक, वाचिक, आहार्य व सात्त्विक अभिनय से भलीभाँति परिचित हो सकेंगे।

2.4.1. प्रस्तावना

भरतमुनि-कृत नाट्यशास्त्र ग्रन्थ 400 ई. के पूर्व का माना जाता है। यह 36 अध्यायों में विभक्त है। इसमें नाटक से सम्बन्धित सभी विषयों का विशद् विवेचन किया गया है। भरत ने अपने इस ग्रन्थ में नाटक के सभी तत्त्वों जैसे – गायन, वादन, नृत्य, संगीत, चित्रकला, रूपक, अभिनय, रस, रंगमंच आदि का बड़े ही सटीक ढंग से वर्णन किया है। नाट्यशास्त्र में नाट्यकला (शास्त्रीय रंगमंच) के सभी पहलुओं की चर्चा की गई है।

2.4.2. अभिनय

नाटक दृश्य काव्य है। इसकी रचना रंगमंच को ध्यान में रखकर की जाती है। अभिनय के माध्यम से ही नाटक का अर्थ दर्शकों तक पहुँचाया जाता है। अभिनय का शाब्दिक अर्थ है – 'पहुँचाना' अर्थात् नाटक की सामग्री को पूर्ण अभिव्यक्ति की ओर पहुँचाना।

'अभिनय' का व्युत्पत्तिपरक अर्थ –

नाटक शब्द की व्युत्पत्ति 'नट' धातु से हुई है। हृदय-स्थित रत्यादि भाव की प्रकाशक आंगिक चेष्टाओं द्वारा प्रकृत अनुकृति कर किसी विषय का, व्यक्ति के भावादि के प्रदर्शन को अभिनय कहते हैं। आचार्य भरतमुनि ने अभिनय शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बतलायी है – अभिनय शब्द 'अभि' उपसर्गपूर्वक 'णीञ' धातु से 'अच' प्रत्यय होकर बना है। 'अभिनय' शब्द का अर्थ होता है कि किसी पद या शब्द के भाव को मुख्य अर्थ तक पहुँचा देना अर्थात् दर्शकों या सामाजिकों के हृदय में भाव या अर्थ से अभिभूत करना। आचार्य विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' में अभिनय की परिभाषा इस प्रकार दी है – "भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः।" अर्थात् अवस्था का

अनुकरण ही अभिनय है। कहने का तात्पर्य है अभिनेता द्वारा शरीर, मन एवं वाणी से अभिनेय (नाटक के पात्रों) की अवस्थाओं का अनुकरण ही अभिनय है। दशरूपककार ने भी 'अवस्थानुकृति' को नाट्य कहा है। हिन्दी साहित्य कोश में अभिनय की परिभाषा इस प्रकार दी गई है – "मन के क्रोधादि को प्रकट करने वाली आंगिक चेष्टाओं द्वारा किसी विषय अथवा व्यक्ति का प्रकृत अनुकरण करके प्रदर्शित करने को अभिनय कहते हैं।"

नाटक श्रव्यकाव्य भी है और दृश्यकाव्य भी। इसे 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' भी कहा जाता है। यह नेत्रेन्द्रिय व श्रवणेन्द्रिय होने के कारण मनोहर लगने से विशिष्ट माना जाता है। सामाजिक को रसानुभूति की ओर ले जाने वाली क्रिया ही अभिनय कहलाती है। नाट्यशास्त्र के अनुसार जिसके सांगोपांग प्रयोग द्वारा नाट्य के नानाविध अर्थों का सामाजिक को विभावन या रसास्वादन कराया जाय, उसे अभिनय कहते हैं –

विभावयति यस्माच्च नानार्थानिह प्रयोगतः।
शाखाङगोपाङगसंयुक्तस्तस्मातभिनयः स्मृत ॥

अभिनयदर्पणकार के अनुसार "अभिनय एक वह कला है जिसके द्वारा नट अभिनेय रामादि के क्रिया-कलापों, वेश-भूषा, विविध चेष्टाओं एवं भाव-भंगिमाओं को रंगमंच पर प्रदर्शित कर दर्शकों का मनोरंजन करता है। रंगमंच पर घूमघूम कर भाव-मुद्राओं का प्रदर्शन करता है। संयम के साथ उचित स्थल पर काकु, यति आदि का संयोजन कर उचित ढंग से वाक्याभिनय करता है। पात्रों के अनुरूप, देशकालोचित, वेश-भूषा एवं साज-सज्जा का संयोजन करता है और अभिनेय पात्रों के मानसिक भावों का प्रकाशन करता है। अभिनय की पूर्ण सफलता की दृष्टि से अभिनय अनुकरण नैपुण्य, दृश्य-सौष्ठव, श्रुति-माधुर्य एवं परिहास इन चार गुणों का होना परमावश्यक माना गया है।" (– अभिनयदर्पण, पृ. 22-23)

2.4.3. अभिनय के प्रकार

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में अभिनय के चार प्रकार बतलाये हैं – आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। देह और मुख द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाले अभिनय को आंगिक अभिनय कहते है। वाणी द्वारा काव्य एवं संवाद बोले जाने को वाचिक अभिनय कहते हैं। मंच सज्जा एवं वेश-विन्यास आहार्य अभिनय होता है। सात्त्विक अभिनय में मन के अन्तस्थ भावों का प्रकाशन होता है। यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। अभिनयदर्पणकार ने इन चारों प्रकार के अभिनय को नटराज शिव के चार रूप बताया है। समस्त भुवन जिसका आंगिक अभिनय है, समस्त वाङ्मय जिसका वाचिक अभिनय हैं, समस्त नक्षत्र मण्डल जिसका आहार्य अभिनय है, वे शिव स्वयं सात्त्विक रूप हैं –

आङ्गिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्गमयम्।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्विकं शिवम्॥

(– अभिनयदर्पण, 1)

अभिनय के प्रकार

आंगिक			वाचिक	आहार्य	सात्त्विक
शरीरज	चेष्टाकृत	मुखज			
सिर हस्त वक्षःस्थल पार्श्व कटि पाद	स्कन्ध बाहु पीठ उदर उरू जंघा	नेत्र भ्रू नासिका अधर कपोल चिबुक	स्वर स्थान वर्ण काकु अलंकार अंग भाषा	पुस्त अलंकार अंग-रचना संजीव	स्तम्भ स्वेद रोमांच स्वरभेद वेपथु वैवर्ण्य अश्रु प्रलय

2.4.3.1. आंगिक अभिनय

शरीर के विभिन्न अंगों द्वारा तथा मन के भावों के माध्यम से जो अभिनय किया जाता है। उसे आंगिक अभिनय कहते हैं। आचार्य भरतमुनि ने आंगिक अभिनय के तीन प्रकार किये हैं – (i) शरीरज, (ii) मुखज और (iii) चेष्टाकृत। इनमें शरीरज अंगों एवं उपांगों से बना है। इसमें शरीर के अंगों जैसे शिर, हस्त, वक्ष, पार्श्व, कटि एवं पाद तथा उपांगोंजैसे नेत्र, भ्रू, नासिका, चिबुक आदि के माध्यम से जो भावाभिनय किया जाता है उसे शरीरज कहते हैं। मुखज अभिनय उपांगों द्वारा किया जाता है। भागना, तैरना, घूमना आदि चेष्टाकृत अभिनय हैं।

त्रिविधस्त्वाङ्गिको ज्ञेयः शारीरे मुखजस्तथा।
तथा चेष्टाकृतश्चैव शाखाङ्गोपाङ्गसंयुत॥

(– नाट्यशास्त्र, 8/11)

2.4.3.1.1. शरीरज अभिनय

भरतमुनि ने शरीरज अभिनय छह प्रकार का बताया है। इसमें शिर, हस्त, वक्ष, पार्श्व, कटि एवं पाद का वर्णन है।

2.4.3.1.1.1. शिरोऽभिनय

भरतमुनि ने शिरोऽभिनय के तेरह भेदों का निरूपण किया है –

(i) अकम्पित : इसमें शिर को धीरे-धीरे ऊपर और नीचे की ओर हिलाया जाता है।
(ii) कम्पित : इसमें शिर को बार-बार तेज गति से हिलाया जाता है।

(iii) धुत : इसमें शिर को धीरे-धीरे इधर-उधर हिलाना पड़ता है।

(iv) विधुत : इसमें शिर को तेजगति से शिर को हिलाना पड़ता है।

(v) परिवाहित : इसमें शिर को दोनों पार्श्वों की ओर कम्पित किया जाता है।

(vi) आधूत : इसमें शिर को तिरछा करके एक बार कम्पित किया जाता है।

(vii) अवधूत : इसमें शिर को नीचे की ओर एक बार हिलाया जाता है।

(viii) अंचित : इसमें गर्दन (ग्रीवा) को पार्श्व की ओर झुका दिया जाता है।

(ix) निहंचित : इसमें दोनों कन्धे ऊपर की ओर उठे होते हैं और ग्रीवा नीचे की ओर होती है।

(x) परावृत्त : इसमें शिर को पीछे की ओर मोड़ दिया जाता है।

(xi) उत्क्षिप्त : इसमें शिर को ऊपर की ओर उन्मुख किया जाता है।

(xii) अधोगत : इसमें शिर को नीचे की ओर झुका दिया जाता है।

(xiii) लोलित : इसमें शिर को चारों ओर घुमाया जाता है।

(– नाट्यशास्त्र, 8219-20)

2.4.3.1.1.2. हस्ताभिनय

हस्ताभिनय को सर्वोपरि स्थान देते हुए भरतमुनि ने कहा है – "नास्ति कश्चिदहस्तस्तु नाट्येऽर्थोभिनयं प्रति ।" (– नाट्यशास्त्र, 9/16) अर्थात् अभिनय की दृष्टि में कोई भी नाट्यार्थ नहीं है जिसको रूप देने में हस्ताभिनय का प्रयोग होता है। "संसार में मानव नाना भावों को अभिव्यक्ति करने के लिए हाथों की विभिन्न भाव-भंगिमाओं का संचालन करता है, किन्तु हाथों की प्रत्येक मुद्रा के मूल में भाव एवं रस की आन्तरिक प्रेरणा अवश्य रहती है।" (– भरत और भारतीय नाट्यकला, पृ. 352-353) भरतमुनि ने हस्ताभिनय के तीन भेद बतलाये हैं – (i) असंयुक्तहस्ताभिनय, (ii) संयुत हस्ताभिनय और (iii) नृत्य हस्ताभिनय।

(i) असंयुक्तहस्ताभिनय : एक हाथ से किये जाने वाले अभिनय को असंयुत कहते हैं। इसके 24 भेद किये हैं – पताक, त्रिपताक, कर्त्तरीमुख, अर्द्धचन्द्र, अराल, शक्रतुण्ड, मुष्टि, शिखर, कपित्थ, कटकामुख, सूचीमुख, पद्मकोश, सर्पशीर्ष, मृगशीर्ष, कांगुल, अलपद्म, चतुर, भ्रमर, हंसास्य, हंसपक्ष, सन्देश, मुकुल, ऊर्णनाभ, ताम्रचूर्ण। (– नाट्यशास्त्र, 9/4-7)

(ii) संयुत हस्ताभिनय : इसे दोनों हाथों को मिलाकर किया जाता है। यह असंयुक्त हस्त का विकसित एवं परिवर्तित रूप है। भरतमुनि ने इसके तेरह भेद किये हैं – अंजलि, कपोत, कर्कट, स्वस्तिक, कटकावर्धमान, उत्संग, निशद, ढोल, पुष्पुट, मकर, गजदन्त, अवहित्थ, बर्द्धमान। (– नाट्यशास्त्र, 9/8-10)

(iii) नृत्य हस्ताभिनय : हस्त एवं पाद के संयोजन से जो नृत्य होता है उसे नृत्त हस्त कहते हैं। भरतमुनि ने इसके तीस भेद किये हैं – चतुरस्र, उद्वृत्त, तलमुख, स्वस्तिक, विप्रकीर्ण, अरालखटकामुख, आविद्धवक्र, सूचीमुख, रेचित, अर्धरेचित, उत्तानवंचित, पल्लव, नितम्ब, केशबन्ध, लता, करि,

पक्षवंचित, प्रक्षप्रद्योत, गरुड़पक्ष, दण्डपक्ष, ऊर्ध्वमण्डलित, पार्श्वमण्डल, उरोमण्डलिन, उरःपाश्वार्द्धमण्डल, मुष्टिकस्वस्तिक, नलिनी पद्मकोश, उल्वण, ललित, वलित, अलनपल्लव । (– नाट्यशास्त्र, 9/11-16)

अभिनय में नाट्य और नृत्यहस्ताभिनय का महत्त्वपूर्ण स्थान है । इसके द्वारा मानव अपने मानसिक विचारों को अभिव्यक्ति प्रदान करता है । अपनी स्वीकृति व अस्वीकृति हस्त तथा अँगुलिका के द्वारा प्रदान करता है । ऐसा समझा जाता है कि मानसिक भावों को अँगुलियों द्वारा, अनुभव हथेली द्वारा, हाथ के पृष्ठ भाग से अनुभव एवं उत्तेजना को अभिव्यक्त किया जाता है । भरतमुनि ने हाथ के करण का अभिनय चार प्रकार का बताया है –

(i) आवेष्टित करण : इसमें तर्जनी आदि अँगुल्यिाँ कमल के अनुसार भीतर की ओर होती हैं ।
(ii) उद्वेष्टित करण : इसमें तर्जनी आदि सभी अँगुलियाँ क्रमशः बाहर की ओर होती हैं ।
(iii) व्यावर्त्तित करण : इसमें कनिष्ठा आदि अँगुलियाँ क्रमशः बाहर की ओर परिवर्तित होती हैं ।
(iv) परिवर्त्तित करण : इसमें कनिष्ठा आदि अँगुलियाँ क्रमशः बाहर की ओर परिवर्त्तित होती है ।

नाट्य और नृत्य में इन करणों का प्रयोग मुख, नेत्र, भौंह और मुखराग के सन्दर्भ में होता है । अभिनय का कोई भी रूप तब तक पूर्ण नहीं होता जब तक नेत्र, भ्रू तथा मुखराग आदि की व्यंजना न हो ।

(– नाट्यशास्त्र, 9/216-220)

2.4.3.1.1.3. वक्षाभिनय

इसे (उर) हृदय कहा जाता है । इसके पाँच भेद हैं –

(i) आभुग्न वक्ष : इसमें वक्ष सामने नत हो, पृष्ठ उन्नत हो, स्कन्ध झुके हुए और शिथिल हों तो आभुग्न वक्ष होता है ।
(ii) निभुग्न वक्ष : इसमें उर स्तब्ध, पृष्ठ निम्न झुका हुआ, स्कन्ध निभुग्न एवं समुन्नत हों तो 'निभुग्न' उर कहलाता है ।
(iii) प्रकम्पित : इसमें ऊपर की ओर से हृदय-कम्पन होता है ।
(iv) उद्वाहित : ऊपर उठे हुए उर को उद्वाहित उर कहते हैं ।
(v) सम उर : चतुरस्र सौष्ठव युक्त सभी अंगों के विन्यास में सम उर होताहै ।

सम्भ्रम, शोक, भय, मूर्च्छा, व्याधि, शीत, वर्षा, लज्जा, स्तम्भ, मानगृहण, विस्मय-दृष्टि, दर्प, गर्व, हँसी, रोदन, श्रम, श्वास, जम्हाई लेने आदि भावों के प्रदर्शन में इसका प्रयोग किया जाता है ।

(– नाट्यशास्त्र, 9/223-234)

2.4.3.1.1.4. पार्श्वाभिनय

पार्श्व अभिनय के भी पाँच प्रकारों का वर्णन किया गया है –

(i) नत : इसमें कटि, व्याभुजन, पार्श्व आभुग्न और स्कन्ध कुछ अपसृत हों तो 'नत' पार्श्व होता है।
(ii) समुन्नत : इसमें नत पार्श्व का ऊपरी पार्श्व विपरीत दिशा में हो और कटि, पार्श्व, स्कन्ध उठे होते हैं।
(iii) प्रसारित : उपसर्पन में नत, अपसर्पण में समुन्नत, पहर्शादि में प्रसारित ,परिवर्तित में विवर्तित ओर विनिवर्तन में अपसृत पार्श्व का विनियोग होता है।
(iv) विवर्त्तित : इसमें त्रिक को परिवर्तित कर लिया जाता है।
(v) अपसृत : विवर्त्तित पार्श्व के अपनयन से होता है।

(– नाट्यशास्त्र, 9/236-242)

2.4.3.1.1.5. कट्याभिनय

भरतमुनि ने कटि (कमर) अभिनय के पाँच भेद बताये हैं –

(i) छिन्ना : मध्य भाग में वलन होता है। इसमें व्यायाम तथा पीछे की ओर घूमकर देखा जाता है।
(ii) निवृत्ता : परांगमुख व्यक्ति की ओर जो कटि होती है उसे छिन्ना कहा जाताहै। यह गोल घूमती है।
(iii) रेचिता : जो चारों तरफ घूमती है उसे निवृत्ता कटि कहते हैं। यह भ्रमण करती है।
(iv) प्रकम्पिता : जो तिरछे आने-जाने वाली होती है। उसे रेचिता कटि कहते हैं। यह कूबड़ बौने आदि का अभिनय करती है।
(v) उद्‌वाहिता : नितम्ब एवं पार्श्व भाग से उद्‌वहन करने वाली कटि उद्‌वाहिता कहलाती है। स्थूल पुरुष व स्त्रियों के लीलापूर्ण गमन में इस कटि का प्रयोग किया जाता है।

(– नाट्यशास्त्र, 9/246)

2.4.3.1.1.6. पादाभिनय

पैरों से किया जाने वाला अभिनय पादाभिनय कहलाता है। भरतमुनि ने पादाभिनय के पाँच भेद किये हैं –

(i) उद्‌घटित : इसमें पैर के तलवे के अग्रभाग से स्थित होकर एड़ी को भूमि पर गिराया जाता है।
(ii) सम : स्वाभाविक रूप से समतल भूमि पर स्थित पाद को समपाद कहते हैं।
(iii) अग्रतल संचर : इसमें एड़ी उठी हुई और अँगूठा फैला हुआ तथा समस्त अँगुलियाँ अंचित होती हैं।
(iv) अंचित : इसमें पैर की एड़ी भूमि पर अंचित हो और पैर का अग्रतल आगे की ओर तथा सारी अँगुलियाँ फैली होती हैं।

(v) कुंचित : इसमें पैर की एड़ी ऊपर उठी हुई तथा अँगुलियाँ और मध्यभाग कुंचित होता है।

(– नाट्यशास्त्र, 10/267-280)

2.4.3.1.2. मुखज अभिनय

मुखज अभिनय दृष्टि, भ्रू, नासिका, अधर, कपोल, चिबुक उपांगों द्वारा किया जाता है।

2.4.3.1.2.1. दृष्टि अभिनय

भरतमुनि ने तीन प्रकार की दृष्टियाँ बतलायी हैं –

(i) रस दृष्टियाँ : भरत ने रसदृष्टि के आठ भेद किये हैं – कान्ता, हास्या, करुणा, रौद्री, वीरा, भयानका, बीभत्सा और अद्भुता।
(ii) स्थायी भाव दृष्टियाँ : स्थायी भाव दृष्टियाँ आठ हैं – स्निग्धा, हृष्टा, दीना, क्रुद्धा, दृप्ता, भयान्विता, जुगुप्सिता और विस्मिता।
(iii) व्यभिचारी भाव दृष्टियाँ : व्यभिचारी भाव दृष्टियाँ बीस हैं – शून्या, मलिना, श्रान्ता, लज्जान्विता, ग्लाना, शंकिता, विषण्णा, मुकुला, कुंचिता, अभितप्ता, जिह्मा, ललिता, वितर्किता, अर्धमुकुला, विभ्रान्ता, विलुप्ता, आकेकरा, विकोशा, प्रस्ता और मदिरा।

(– नाट्यशास्त्र, 8/40-95)

2.4.3.1.2.2. भ्रू अभिनय

भौंहों द्वारा विविध प्रकार के भावाभिनय को भ्रू अभिनय कहते है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में भ्रू के सात भेदों का निरूपण किया है –

(i) उत्क्षेप : भौंहों को एक साथ या बारी-बारी से उठाया जाता है।
(ii) पातन : भौंहों को धीरे-धीरे नीचे गिराना पातन होता है।
(iii) भ्रकुटि : भौंहों के मूल का एक साथ उठाना भ्रकुटि है।
(iv) चतुर : भ्रकुटियों की मधुरता या विस्तार चतुर कहलाताहै।
(v) कुंचित : एक साथ झुकाना कुंचित होता है।
(vi) रेचित : एक भौंह का ऊपर उठाना रेचित होता है।
(vii) सहज : स्वाभाविक स्थित में रहना सहज भ्रू अभिनय होता है।

(– नाट्यशास्त्र, 8/118-127)

2.4.3.1.2.3. नासिका अभिनय

नासिका द्वारा किये जाने वाले भावों को नासिका अभिनय कहा जाता है। भरत ने नासिका के छह प्रकार बताये हैं –

(i) नता : इसमें नासापुट का बार संश्लेषण किया जाता है।
(ii) मन्दा : यह नासापुट पर स्थिर होता है।
(iii) विकृष्टा : इसमें नासापुट अधिक फूला होता है।
(iv) सोच्छवासा : इसमें नासापुट में श्वांस को खींचा जाता है।
(v) विकूणिता : इसमें नासापुट सिकुड़े हुए होते हैं।
(vi) स्वाभाविकी : इसमें नासापुट स्वाभाविक रूप में होते हैं।

(– नाट्यशास्त्र, 8/130-138)

2.4.3.1.2.4. अधर अभिनय

अधर द्वारा किया गया अभिनय अधराभिनय कहा जाता है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में अधर अभिनय के छह भेद बतलाये हैं –

(i) विवर्तन : अधर का तिरछा, सिकुड़ना विवर्तन कहलाता है।
(ii) कम्पन : अधर का कम्पन होता है।
(iii) विसर्ग : अधर बाहर निकलता है।
(iv) विनिगूहन : अधर को भीतर की ओर लेना होता है।
(v) संदष्टक : होंठ को दाँतों से काटना।
(vi) समुद्ग : होंठ को बाहर की ओर करना।

(– नाट्यशास्त्र, 8/144-149)

2.4.3.1.2.5. कपोल अभिनय

कपोल की नानाप्रकार की स्थितियों को भाव प्रदान करना कपोल अभिनय कहा जाता है। भरतमुनि ने कपोल अभिनय के छह भेद किये हैं –

(i) क्षाम : क्षीण या चिपके कपोल को क्षाम कहते हैं।
(ii) फुल्ल : फूले हुए गालों को फुल्ल कहते हैं।
(iii) पूर्ण : ऊपर उठे हुए गालों को पूर्ण कहते हैं।

(iv) कम्पित : स्फुरित कपोलों का कम्पित कहते हैं।
(v) कुंचित : सिकुड़े हुए कपोल को कुंचित कहते हैं।
(vi) सम : स्वाभाविक दशा में स्थित कपोल को सम कहते हैं।

2.4.3.1.2.6. चिबुक अभिनय

चिबुक को ठोड़ी कहा जाता है। चिबुक के द्वारा किया गया अभिनय चिबुक कर्म कहा जाता है। भरतमुनि ने चिबुक को ही दन्त कहा है। चिबुक के सात भेद हैं –

(i) कुट्टन : दाँतों का किटकिटाना होता है।
(ii) खण्डन : दाँतों का बार-बार हटाना और मिलाना खण्डन होता है।
(iii) छिन्न : दाँतों का धृष्टता से मिलाना छिन्न होता है।
(iv) चुक्कित : दाँतों को दूर हटा लेना चुक्कित होता है।
(v) लेहित : जिह्वा से दाँतों को चाटना लेहित होता है।
(vi) सम : दाँतों का मिलाना सम होता है।
(vii) दष्ट : दाँतों को अधर से काटना दष्ट कहलाता है।

(– नाट्यशास्त्र, 8/150-155)

2.4.3.1.3. चेष्टाकृत अभिनय

चेष्टाकृत अभिनय प्रत्यंगों द्वारा किया जाता है।

2.4.3.1.3.1. बाहु अभिनय

बाहु अभिनय के सोलह भेद निर्धारित किये हैं – ऊर्ध्वष्थ, अधोमुख, तिर्यग्गत, अपविद्ध, प्रसारित, अंचित, मण्डलगति, स्वस्तिक, उद्वेष्टित, पृष्ठानुसारी, आविद्ध, कुंचित, नम्र, सरल, आन्दोलित, उत्सारित।

2.4.3.1.3.2. उदर व पीठ अभिनय

भरतमुनि ने उदर व पीठ अभिनय के तीन प्रकार बतलाये हैं – क्षाम, खल्व और पूर्ण।

(i) क्षाम : क्षीण उदर क्षाम, हास्य, रोदन, निश्वास और जम्हाई लेने में क्षाम अभिनय होता है।
(ii) खल्व : नत उदर, खल्व, उदर व्याधि, तपस्या, श्रम एवं भूख में खल्व अभिनय होता है।
(iii) पूर्ण : उदर और उच्छवास, व्याधि, अतिभोजन, स्थूलता आदि में पूर्ण अभिनय होता है।

(– नाट्यशास्त्र, 7/243-245)

2.4.3.1.3.3. उरू अभिनय

उरू के द्वारा किया गया अभिनय उरू कर्म कहलाता है। इसके पाँच भेद हैं –

(i) कम्पन : एड़ी के बार-बार नमन-उन्नमन से कम्पन होता है। यह अधम पात्रों की गति और लय में होता है।
(ii) वलन : इसमें जानु भीतर की ओर होता है। यह स्त्रियों की स्वच्छन्द गति में होता है।
(iii) स्तम्भन : इसमें उरू निष्क्रिय रहती है। यह भय और विषाद में होता है।
(iv) उद्वर्तन : वलित एवं आविद्ध करने से होता है। यह व्यायाम और ताण्डव में होता है।
(v) निवर्तन : पेड़ की एड़ी भीतर की ओर चली जाती है। सम्भ्रमपूर्वक भ्रमण में इसका प्रयोग होता है।

(– नाट्यशास्त्र, 9/252-258)

2.4.3.1.3.4. जंघाभिनय

भरतमुनि ने जंघा अभिनय के पाँच प्रकारों का वर्णन किया है –

(i) आवर्तित : इसमें बाँये पैर को दाहिने और दाहिने पैर को बाँये पार्श्व की ओर घुमाया जाता है। यह विदूषक के घूमने में होता है।
(ii) नत : इसमें जंघा का आकुंचन होता है। बैठना तथा गमन में नत होता है।
(iii) क्षिप्त : इसमें जंघा को बाहर की ओर फेंका जाता है। व्यायाम और ताण्डव में होता है।
(iv) उद्वाहित : इसमें जंघा को ऊपर की ओर उठाया जाता है। आविद्ध गमन होता है।
(v) परिवृत्त : इसमें जंघा को पीछे की ओर मोड़ा जाता है। ताण्डव नृत्य में प्रयोग होता है।

(– नाट्यशास्त्र, 9/252-258द)

2.4.3.2. वाचिक अभिनय

वाणी के द्वारा किया जाने वाला अभिनय 'वाचिक' अभिनय कहलाता है। भरतमुनि ने वाचिक अभिनय को नाट्य का शरीर कहा है। इसका कारण है आंगिक अभिनय के द्वारा वाणी को व्यंजित किया जाता है इसलिए वाचिक अभिनय मुख्यतः वाणी से ही सम्बन्धित है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में वाणी के छह भेद स्वीकार किये हैं –

2.4.3.2.1. स्वर

स्वर सात होते हैं – षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद। इनका प्रयोग शृंगार तथा हास्य रस में मध्यम तथा पंचम; वीर, रौद्र एवं अद्भुत रस में षडज एवं ऋषभ; करुण रस में गान्धार एवं निषाद; बीभत्स और भयानक रस में धैवत स्वरों का प्रयोग उत्तम माना गया है। (– नाट्यशास्त्र, 17/107-108)

2.4.3.2.2. स्थान

भरतमुनि ने वाणी के तीन स्थान बताये हैं – शिर, कण्ठ और उरस। शिर में दूर खड़े हुए पात्रों के द्वारा बोले जाने में प्रयोग किया जाता है। कण्ठ में थोड़ी दूर खड़े हुए पात्रों द्वारा बोले गये संवाद होते हैं। उरस में पास खड़े हुए पात्रों के द्वारा बोले गये संवाद में प्रयोग किया जाता है। (– नाट्यशास्त्र, 17/107-108)

2.4.3.2.3. वर्ण

वर्ण चार बतलाये हैं। उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, कम्पित। वर्ण का प्रयोग रसों में होता है। हास्य और शृंगार रस में उदात्त और स्वरित का; वीर, रौद्र और अद्भुत रसों में उदात्त और कम्पित का; करुण, बीभत्स और भयानक रसों में अनुदात्त एवं स्वरित का प्रयोग होता है।

2.4.3.2.4. काकु

काकु को कण्ठ्य ध्वनि भी कहते हैं। इसके द्वारा श्रोता को रस की अनुभूति होती है। जिह्वा के द्वारा इसका सम्पादन होता है।

2.4.3.2.5. अलंकार

अलंकार उच्चारण स्थान को कहा जाता है। भरतमुनि ने इनकी संख्या छह मानी है – उच्च, दीप्त, मन्द्र, नीच, द्रुत, तथा विलम्बित। इनके संयोग से काकु (कण्ठ्य ध्वनि) को पूर्ण सहयोग मिलता है।

2.4.3.2.6. अंग

भरतमुनि ने अंग के छह प्रकार बतलाये हैं – विच्छेद, अर्पण, विसर्ग, अनुबन्ध, दीपन, और प्रशमन। विच्छेद विराम को कहा जाता है। पात्रों के मनमोहक मधुर स्वरों का प्रयोग अर्पण कहलाता है। विसर्ग का मतलब वाक्य का विन्यास है। अनुबन्ध पद के बीच में विराम को कहते हैं। दीपन में स्वर तीन स्थान से उच्चारित होते हैं।

वाचिक अभिनय में वाणी के उपर्युक्त छह भेदों के साथ ही भाषा, छन्द, लक्षण और अलंकारों का भी पर्याप्त महत्त्व स्वीकार किया जाता है।

(i) भाषा : भाषा को नाट्य का शरीर कहा गया है। छन्द, लक्षण, अलंकार, गुण आदि इसके शोभा बढ़ाने वाले तत्त्व हैं। भरतमुनि ने सात प्रकार की भाषाओं का वर्णन किया है – मागधी, अवन्ती, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाहलीका और दाक्षिणात्या। (– नाट्यशास्त्र, 18/26)

(ii) छन्द : छन्द का प्रयोग लय-ताल के लिए होता है।

(iii) लक्षण : नाटक में लक्षणों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भरतमुनि ने इनकी संख्या 36 निर्धारित की है।

(iv) अलंकार : भरतमुनि ने चार अलंकारों का विवेचन किया है – उपमा, रूपक, दीपक और यमक।

उक्त सभी में शास्त्रार्थ लक्षणों को रंगमंच पर अभिनेता व अन्य पात्रों द्वारा प्रयोग किया जाता है तब वाचिक अभिनय और भी मुखर हो उठता है।

2.4.3.3. आहार्य अभिनय

अभिनय का तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान आहार्य अभिनय होता है। इसे नेपथ्य विधान भी कहते हैं। नेपथ्य रचना का विधान ही आहार्य अभिनय होता है। नाटक में अवस्था के अनुसार प्रकृतिगत वेष-विन्यास, अलंकार तथा अंग रचना आदि को आहार्य अभिनय कहा जाता है। इसमें नेपथ्य या वेशभूषा और सजावट आदि विषयों का विधान किया जाता है –

आहार्याभिनयो नाम ज्ञेयो नेपथ्यजो विधिः।
तत्र कार्यः प्रयत्नस्तु शुभमिच्छताः॥
नावस्थाः प्रकृतयः पूर्वनेपथ्य साधिताः।
अंगादिभिरभिव्यक्तिमुमगच्छन्त्यत्नतः॥

(– नाट्यशास्त्र, 23/2-3)

आहार्य अभिनय के चार प्रकार हैं। नेपथ्य की चार विधाएँ होती हैं। पुस्त रचना (नमूने की वस्तु का निर्माण), अलंकरण (सजावट), अंग रचना (शरीर को चित्रित करना) तथा संजीव (जीवित प्राणि वर्ग)।

चतुर्विधं तु नेपथ्यं पुस्तोऽलंकार एव च
तथाङ्गरचना चैव ज्ञेयः सञ्जीव च॥

(– नाट्यशास्त्र, 23/5)

2.4.3.3.1. पुस्त नेपथ्य

आहार्य अभिनय में पुस्त सबसे महत्त्वपूर्ण होता है। पुस्त का अर्थ होता है – संयोजन अर्थात् सांकेतिक पदार्थों की रचना। पुस्त नेपथ्य भी तीन प्रकार का होता है। (i) सन्धिम, (ii) व्याजिम और (iii) वेष्टिम।

(i) सन्धिम : सन्धिम का अर्थ होता है जोड़ना। नाटक के उपयोग के लिए जिन वस्तुओं का निर्माण चटाई, बाँस, चमड़ा या वस्त्र से किया जाता है उसे सन्धिम नेपथ्य कहते हैं।

(ii) व्याजिम : जिन पदार्थों का यन्त्र के द्वारा बनाया जाकर रंगमंच पर प्रयोग किया जाता है उसे व्याजिम कहा जाता है। इसमें रथ, यान विमान आदि को मंच पर कृत्रिम रूप से प्रयोग किया जाता है।

(iii) वेष्टिम : किसी चीज को आवेष्टित (लपेट कर) प्रयोग में लाया जाता है उसे वेष्टिम कहते हैं। नाटक में इस विधि का प्रयोग यान, विमान, कवच, ध्वजा आदि के लिए रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है।

(– नाट्यशास्त्र, 23/6)

2.4.3.3.2. अलंकार

पात्रों के विभिन्न अवयवों पर धारण किये जाने वाली मालाएँ, गहने तथा वस्त्रों का समायोजन ही अलंकार कहलाता है।

अलंकारस्तु विज्ञेयो माल्याभरणवाससम्।
नानाविधः समायोगोऽप्यङ्गो पाङ्गविधि॥

(– नाट्यशास्त्र, 23/10)

(i) माल्य : माला द्वारा शरीर का प्रसाधन पाँच प्रकार का होता है – वेष्टित, वित, संघात्य, ग्रन्थिम तथा प्रालम्बित।

(ii) आभूषण : शरीर पर धारण किये जाने वाले आभूषण चार प्रकार के होते हैं –

i. आवेध्य : जो शरीर को बींध कर पहनाये जाएँ।

ii. बन्धनीय : जो शरीर पर ऊपर से बाँधे जाएँ।

iii. प्रक्षेप्य : जो पहने जाएँ।

iv. आरोप्य : जो शरीर पर चढ़ाए जाएँ।

उपर्युक्त चारों अलंकारों को पुरुष, स्त्री, देश, जाति व अवस्था के अनुसार प्रसाध होता है।

(क) पुरुषों के अलंकार : पुरुष सिर पर चूड़ामणि तथा मुकुट, कानों में कुण्डल, गले में मुक्ताहार, अँगुलियों में अँगूठी, भुजा में हस्तली व वलय, कलाई में चूलिका, कुहनी के ऊपर केयूर, कटि पर तरल तथा सूत्र आदि अलंकार धारण करते हैं।

(ख) स्त्रियों के अलंकार : स्त्रियों के अंग तथा उपांग पर धारण किये जाने वाले अलंकार इस प्रकार हैं – स्त्रियों के सिर पर शिखा-पाश, शिखा-पत्र, पिण्डी पत्र, चूड़ामणि ,मकरिका, मुक्ताजाल, गवाक्ष आदि ललाट पर तिलक, गुच्छ, कानों में कुण्डल, शिखिपत्र, वेणीगुच्छ, मोचक, कर्णिका, कर्णवलय, पत्रकर्णिका, कुण्डल, कर्णमुद्रा, कर्णभूषण, रत्नजड़ित होते हैं। गालों पर तिलक तथा पत्रलेखा, वक्ष पर त्रिवेणी, नेत्रों

में अंजन (काजल), ओठों पर रंजन (रंगना), दाँतों को विविध रंग में रंजित, गले में मुक्तामाला, व्यालपंक्ति, मंजरी, रत्नमाला, रत्नसर, रत्नावलि, बाँह में अंगद तथा वलय, बाजूबंद, अँगुलियों में कटक, कलशाखा, हस्तपत्र, सुपूरक, मुद्रा अँगूठी, कटि में काँची, मेखला, रसना तथा तलक, पैर में नूपुर, किंकणीं, रत्नजाल घण्टिका, पैरों की अँगुल्यियों में अंगुलीयक तथा तिलक व महावर आदि होतेहैं।

(iii) वस्त्र विन्यास- आभीर स्त्रियों के वस्त्र नीले वर्ण के होते हैं तथा वे अपने सिर को ढक कर रखती हैं। पूर्वोत्तर देश की स्त्रियाँ सिर से पैर तक ढँक कर रखती हैं गणिकाओं के वेश उनकी इच्छानुरूप होता है। पोषित पतिका नारियों के वस्त्र मलिन होते हैं।

2.4.3.3.3. अंग-रचना

अंग रचना आहार्य अभिनचय का तीसरा रूप है। इसमें सभी पात्रों की अंग रचना की जाती है।

(i) रंग विधान : सबसे पहले अपने अंगों को वर्णो (रंग) से रंगा जाता है। भरतमुनि ने वर्ण चार प्रकार के बताये हैं – सफेद, नीला (काला), पीला तथा लाल। इनको आपस में मिलाने पर अन्य रंग भी बनाये जाते हैं। सफेद तथा पीले रंग के मिश्रण से पाण्डुरंग, सफेद तथा नीले के मिश्रण से घटेरिया (कपोत), सफेद तथा लाल के मिश्रण से गुलाबी, नीला व पीला से हरा, नीला और लाल से कत्थई, लाल और पीले से गौर रंग बनता है।

रंगों को मिलाने के पश्चात् पात्रों को प्रकृति, वय (उम्र), देश तथा जाति के अनुरूप रंगा जाता है। देवता, यक्ष, अप्सरा को गौर वर्ण; सूर्य, ब्रह्मा आदि देव पात्रों को सुनहरी रंग; चन्द्र, बृहस्पति, शुक्र, वरुण, सागर, हिमालय, गंगा आदि को श्वेत; मंगल ग्रह को लाल; बुध, अग्नि को पीला; नारायण तथा नर को श्याम; नागों को काला; दैत्य, दानव, राक्षस आदि को नीले रंग से रंगा जाता है। (– नाट्यशास्त्र, 23/92-96)

मनुष्यों में ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के गौर वर्ण; वैश्य तथा शूद्रों के श्याम वर्ण के होने चाहिए।

(ii) अंग रचना के पश्चात् वेष भी पात्रों के अनुरूप बतायेहैं – शुद्ध, विचित्र, तथा मलिन।

i. शुद्ध वेष : देवालय जाना, मांगलिक विधान व विवाह के अवसर पर शुद्ध वस्त्रों का विधान है।

ii. विचित्र : राजा, उच्च पदाधिकारी, महन्त तथा तपस्वी का होता है।

iii. मलिन : उन्मत्त, शराबी, पथिक तथा आपत्ति में डूबे व्यक्ति का होता है।

(iii) चेहरे का विधान : देवता, मनुष्य के चेहरे का विधान देश तथा जाति तथा अवस्था के अनुसार किया जाना चाहिए।

(iv) मुकुट : देवता, गन्धर्व, यक्ष, नाग तथा राक्षसों के मुकुट पार्श्वगत होते हैं। राजाओं का मुकुट मस्तकी होता है। देवताओं मे जो श्रेष्ठ होते हैं उनका मुकुट किरीटी होता है।

(v) केश विधान : राक्षस, दानव तथा दैत्यों के पीले, भूरे बाल; पिशाच, उन्मत्त (पागल) , साधु तथा प्रतिज्ञा पालन न करने वाले के लम्बे, बिखरे बाल; बौद्ध, जैन साधुओं, श्रोत्रिय ब्राह्मणों के सिर मुँड़े हुए होने चाहिए; वार-वधू, राजाधिकारी तथा शृंगारी व्यक्ति के घुँघराले बाल होने चाहिए।

2.4.3.3.4. संजीव नेपथ्य विधान

संजीव नेपथ्य रंगमंच पर प्रविष्ट होने वाले पशु आदि प्राणियों के तीन प्रकारहैं –

(i) चतुष्पद : ये चार पैरों वाले प्राणि होते हैं। इनमें गाय, घोड़ा, हिरन, सिंह आदि आते हैं।
(ii) द्विपद : ये दो पैर वाले होते हैं। इनमें मनुष्य तथा पक्षी आते हैं।
(iii) अपद : ये बिना पैर वाले होते हैं। इनमें साँप आदि रेंगने वाले जीव होते हैं।

(– नाट्यशास्त्र, 23/152-153)

2.4.3.4. सात्त्विक अभिनय

मन की एकाग्रता को प्राप्त करने वाला भाव सात्त्विक भाव कहलाता है। यह अन्तस्थ भावों का प्रकाशक है।

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभेदोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः मत्थः॥

(– नाट्यशास्त्र, 7/94)

सात्त्विक अभिनय आठ प्रकार का होता है –

(i) स्तम्भ : रुकने का भाव स्तम्भ में आता है। जैसे - हर्ष, भय, शोक, विस्मय, विषाद, रोष आदि। निश्चेष्ट होना, स्थिर होना, शून्यता तथा जड़ आकृति के समान शरीर को कड़ा करने का भाव स्तम्भ होता है।
(ii) स्वेद : क्रोध, भय, हर्ष, लज्जा, दुःख, ताप, घात, व्यायाम, श्रम, रति, धूप आदि के कारण शरीर से जल निकलना स्वेद होता है। पंखा झलना, पसीना पोंछना, हवा की अभिलाषा आदि के द्वारा स्वेद सात्त्विक भाव का अभिनय किया जाता है।
(iii) रोमांच : हर्ष, विस्मय, भय, क्रोध, शीत, स्पर्श, रोग आदि के कारण रोंगटे खड़े हो जाना ही रोमांच कहलाता है। रोमांच सात्त्विक भाव का अभिनय शरीर के बार-बार काँटे चुभने, रोंगटे खड़े होने, पुलकित होने तथा शरीर के स्पर्श के द्वारा होता है।
(iv) स्वरभेद : हर्ष, पीड़ा, भय, क्रोध, बुढ़ापा, रुक्षता, मद आदि के कारण गले का रुँध जाना स्वरभेद होता है। स्वरभेद सात्त्विक भाव का अभिनय स्वरों की भिन्नता तथा गद्गद् होने के समय होता है।
(v) वेपथु : हर्ष, भय, शीत, रोष, स्पर्श, जरा (बुढ़ापा) रोग आदि से कँपकँपी होना 'वेपथु' कहलाता है। कम्पन, स्फुरित होना तथा घबड़ाहट में 'वेपथु' सात्त्विक भाव का अभिनय किया जाता है।

(vi) वैवर्ण्य : शीत, भय, क्रोध, श्रम, रोग, क्लान्ति और ताप के कारण उत्पन्न कान्ति-मलिनता वैवर्ण्य है। नाड़ियों की पीड़ा में मुख का रंग फीका पड़ना सात्त्विक भाव अभिनय होता है।

(vii) अश्रु : आनन्द, अमर्ष, धुँआ, अंजन, जम्हाई लेने, भय, शोक, शीत रोग आदि के कारण आँखों में पानी आना 'अश्रु' है। अश्रु सात्त्विक भाव का अभिनय आँखों में आँसू भर जाने से आँसुओं को गिराने एवं पोंछने आदि के द्वारा किया जाता है।

(viii) प्रलय : श्रम, मूर्च्छा, मद, निद्रा, चोट एवं मोह आदि से प्रलय उत्पन्न होता है। प्रलय नामक सात्त्विक भाव का अभिनय निश्चेष्टता, निष्कम्प, अस्पष्ट, श्वास, भूमि-पतन आदि के द्वारा प्रयास किया जाना चाहिए।

2.4.4. बोध प्रश्न

1. अभिनय को परिभाषित करते हुए इसके प्रकारों को संक्षेप में समझाइए।
2. अभिनय के कितने प्रकार का होता है ? इनमें से किसी एक को विस्तारपूर्वक समझाइए।
3. आंगिक अभिनय किसे कहते हैं ? इसका नाटक में क्या स्थान है ?
4. आहार्य अभिनय के प्रकार सोदाहरण समझाइए।

2.4.5. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. अभिनय दर्पण, देवदत्त शास्त्री, किताब महल, इलाहाबाद
2. दशरूपकम्, धनञ्जय, चौखम्बा प्रकाशन ,वाराणसी
3. नाट्यशास्त्र, भरत, डॉ॰ पारसनाथ द्विवेद्वी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
4. भरत और भारतीय नाट्यकला, डॉ॰ सुरेन्द्रनाथ दीक्षित, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
5. साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी
6. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पोद्दार, नागरी प्रचारिणी सभा , वाराणसी

❖❖❖

खण्ड – 3 : अन्धेर नगरी

इकाई – 1 : 'अन्धेर नगरी' में व्यंग्य-विधान

इकाई की रूपरेखा

3.1.00. उद्देश्य कथन
3.1.01. प्रस्तावना
3.1.02. भारतेन्दु का व्यक्तित्व
3.1.03. भारतेन्दु का नाट्य-साहित्य
3.1.04. अन्धेर नगरी की कथावस्तु
3.1.05. प्रहसन का कलेवर और अन्धेर नगरी
3.1.06. अन्धेर नगरी में व्यंग्य-विधान
3.1.07. पाठ-सार
3.1.08. बोध प्रश्न
3.1.09. कठिन शब्दावली
3.1.10. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

3.1.00. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. नाटककार भारतेन्दु और उनके नाट्यसाहित्य से परिचित हो सकेंगे।
ii. 'अन्धेर नगरी' की कथावस्तु जानकर उससे सम्बन्धित विभिन्न पक्षों पर चर्चा कर सकेंगे।
iii. 'अन्धेर नगरी' में व्यंग्य-विधान को समझ सकेंगे।

3.1.01. प्रस्तावना

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र लिखित नाटक 'अन्धेर नगरी' के अध्ययन से पूर्व नाटककार के बारे में जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। भारतेन्दु का जन्म 9 सितंबर सन् 1850 को बनारस के एक रईस परिवार में हुआ था। इस सम्बन्ध में डॉ॰ रामविलास शर्मा का कथन बहुत ही सटीक है – "जैसे कीचड़ में कमल खिलता है वैसे ही इस अंग्रेजभक्त महाजन परिवार में भारतेन्दु का जन्म हुआ।" पाँच वर्ष के थे तभी उनकी माता का देहान्त हो गया। पिता गिरधरदास भी प्रसिद्ध कवि थे। भारतेन्दु दस वर्ष के थे तभी पिता का निधन हो गया। चंचल और उद्धत स्वभाव के भारतेन्दु ने स्वाध्याय द्वारा ज्ञान प्राप्त किया। बहुमुखी प्रतिभा के धनी भारतेन्दु ने प्रायः सभी विधाओं में रचना की। उन्हें आधुनिक हिन्दी साहित्य का जनक कहा जाता है। हिन्दी नाटक की नींव रखनेवाले भारतेन्दु ने हिन्दी रंगमंच के विकास की दिशा में बहुतमहत्त्वपूर्ण कार्य किया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850 ई.–1885 ई.) का उदय इतिहास के उस मोड़ पर हुआ जिसे पुनर्जागरण का प्रथम चरण कहते हैं। सन् 1857 के विद्रोह के बाद देश में नयी शासन व्यवस्था कायम हुई, नयी शिक्षा-प्रणाली आई, नये संचार साधन आए, सुधारवादी आन्दोलनों का श्रीगणेश हुआ तथा मध्ययुगीन जड़ता से भारतवर्ष ने स्वयं को मुक्त करने का प्रयास प्रारम्भ किया। सामाजिक जागरण एवं समष्टिगत कल्याण पर बल दिया जाने लगा। साहित्य को सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया का अनिवार्य तत्त्व माना जाने लगा। इस सन्दर्भ में नाटक की उपयोगिता को रेखांकित किया जाने लगा। सन् 1871 ई. में श्रीनिवासदास लिखित नाटक 'रणधीर प्रेममोहिनी' के प्रथम प्रदर्शन के अवसर पर प्रस्तावना लिखते हुए भारतेन्दु ने यही दृष्टिकोण रखा है – "सचमुच नाटक के प्रचार से इस भूमि का बहुत कुछ भला हो सकता है ... दिल्लगी से इन लोगों को जैसी शिक्षा दी जा सकती है, वैसी और तरह से नहीं।" 'नाटक' शीर्षक अपने निबन्ध में भारतेन्दु ने इस उपयोगिता को पुनः दुहराया है – "हे नाटक विरोधी मानवगण ! आप लोग इस चमत्कार कार्य में क्यों उत्साह नहीं बढ़ाते ... अब यही हमारी प्रार्थना है कि ... जहाँ तक हो सके इसकी उन्नति में प्रयत्न करें, जिससे हमारे इस देशवासियों का उपकार हो।" उपर्युक्त उद्धरणों में पुनर्जागरण-काल में नाटक की महत्त्वपूर्ण भूमिका को रेखांकित किया गया है।

भारतेन्दु ने समकालीन लेखकों को नाट्य-लेखन एवं उनके प्रदर्शन में सक्रिय भूमिका अदा करने के लिए प्रेरित कर एक आन्दोलन का सूत्रपात किया। नाटक का लक्ष्य केवल मनोरंजन न होकर परिवर्तन, सुधार तथा नवजागरण हो गया। भारतेन्दु का व्यक्तित्व जीवन्त था। उनके स्वभाव में ज़िंदादिली थी। रंगकर्म के प्रति उनकी रुचि दिखावटी न होकर स्वाभाविक थी। सन् 1868 ई. का वर्ष हिन्दी नाटक एवं रंगमंच के लिए ऐतिहासिक महत्त्व का था। इस वर्ष भारतेन्दु के प्रथम नाटक 'विद्यासुन्दर' का प्रकाशन हुआ। इसी वर्ष शीतलाप्रसाद त्रिपाठी के नाटक 'जानकीमंगल' का मंचन बनारस थिएटर में हुआ, जिसमें भारतेन्दु ने लक्ष्मण की भूमिका में प्रभावशाली अभिनय किया। एक बार अपने नाटक 'नीलदेवी' में उन्होंने पागल का अभिनय किया था। बलिया के मेले में उनके दो नाटक खेले गए – 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'नीलदेवी'। प्रथम नाटक में भारतेन्दु ने हरिश्चन्द्र की भूमिका में प्रभावशाली अभिनय कर दर्शकों को अभिभूत कर दिया था। सन् 1884 में उनकी प्रेरणा से काशी में 'नेशनल थिएटर' की स्थापना हुई। इस संस्था के लिए उन्होंने एक रात में अपने सदाबहार नाटक 'अन्धेर नगरी' की रचना की। सन् 1873 ई.में भारतेन्दु ने 'पेनी रीडिंग क्लब' की स्थापना की जिसकी गतिविधियों में रंगकर्म का भी समावेश था।

3.1.02. भारतेन्दु का व्यक्तित्व

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के व्यक्तित्व में तीन उल्लेखनीय गुण थे – सत्यवादिता, परिहासप्रियता और काव्य-शक्ति। उनके नाटक 'सत्य हरिश्चन्द्र' की निम्नलिखित पंक्तियाँ नायक के साथ-साथ नाटककार पर भी लागू होती हैं –

चंद्र टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार।
पै दृढ़ श्री हरिश्चन्द्र को, टरै न सत्य विचार॥

इस तथ्य की पुष्टि भारतेन्दुजी के मित्र पण्डित शीतलाप्रसाद त्रिपाठी ने निम्नलिखित दोहे में की है –

जो गुण नृप हरिचन्द्र में, जगहित सुनियत कान।
सो सब कवि हरिश्चन्द्र में, लखहु प्रतच्छ सुजान॥

('हरिश्चन्द्र', बाबू शिवनन्दन सहाय की पुस्तक से उद्धृत, पृ. 328)

'अन्धेर नगरी' नाटक के अध्ययन के सन्दर्भ में भारतेन्दु के व्यक्तित्व में अन्तर्निहित हास्य-विनोद की प्रवृत्ति पर ध्यान देना उपयोगी होगा। बचपन में वे दीवारों पर फास्फोरस से डरावनी मूर्तियाँ बना देते थे। अँधेरे में मूर्तियाँ चमकती और लोग उन्हें देखकर घबड़ा जाते, तो भारतेन्दु छिपकर उनकी घबड़ाहट का मजा लिया करते। पहली अप्रैल को लोगों को 'एप्रिल फूल' बनाकर वे आनन्दित होते थे। एक बार उन्होंने छपे हुए पत्रक वितरित कर प्रचारित किया कि विजयनगर की कोठी में एक यूरोपीय विद्वान् अलौकिक चमत्कार दिखाएगा। वह मंत्र और विज्ञान की शक्ति से सूर्य और चन्द्र को पकड़कर पृथ्वी पर खींच लाएगा। दर्शकों को वहाँ जाकर मूर्ख बनना पड़ा, क्योंकि वहाँ पर पहली अप्रैल की सूचना का फलक लगा था। एक अन्य अवसर पर प्रसिद्ध गायक के गायन का विज्ञापन किया गया कि उसका गाना सुनकर हिरन और सर्प एकत्र हो जाते हैं। पर्दा उठने पर एक मसखरा लम्बी विदूषकी टोपी लगाए उल्टा तानपूरा लिए दिखाई पड़ा। साथ ही मोटे अक्षरों में लिखा था – 'पहली अप्रैल'। वह मसखरा भारतेन्दु ही थे। एक अन्य अवसर पर डोंडी पिटवाई गई कि कल रामनगर के घाट पर एक मेम खडाऊँ पहनकर गंगा पार जाएगी। मेला-सा लग गया। अन्त में लिखित रूप में सूचना थी कि आज पहली अप्रैल है। होली के अवसर पर भी भारतेन्दुजी स्वांग करके आनन्द लिया करते थे। भारतेन्दु की हास्यप्रियता एवं व्यंग्य वृत्ति उनके नाटकों में प्रतिबिम्बित हुई है – विशेषतः 'भारतदुर्दशा', 'अन्धेर नगरी', 'प्रेमयोगिनी', 'कर्पूरमंजरी', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'विषस्य विषमौषधम्' एवं 'विद्यासुन्दर' में।

3.1.03. भारतेन्दु का नाट्यसाहित्य

जाग्रति और समाज-सुधार का लक्ष्य भारतेन्दु के नाटककार के समक्ष रहा है। लेखक के साथ-साथ वे अभिनेता और निर्देशक भी थे, इसलिए वे इस विधा का ठीक-ठीक उपयोग कर सके। उनके नाटक दो प्रकार के हैं – मौलिक और अनूदित।

भारतेन्दु-कृत मौलिक नाटक हैं – वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (1873), विषस्य विषमौषधम् (1875), प्रेमजोगिनी (1875), सत्य हरिश्चन्द्र (1875), चन्द्रावली (1876), भारत दुर्दशा (1876), भारत जननी (1877), नीलदेवी (1880), अन्धेर नगरी (1881) और सती प्रताप (1884)।

छायानुवाद : विद्यासुन्दर (1868, बांग्ला से)

भारतेन्दु-कृत अनूदित नाटक हैं – रत्नावली (1868), पाखण्ड विडम्बन (1872), धनञ्जय विजय (1873), मुद्राराक्षस (1875), कर्पूरमंजरी (1878) और दुर्लभ बन्धु (1880)।

भारतेन्दु ने बहुत गहन चिन्तन-मनन के बाद अपने समय के प्रश्नों को दृष्टि-पथ में रख कर अपने नाटकों की रचना की। उनके नाटकों की विषयवस्तु यथार्थ से जुड़ी हुई है।

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति : 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' एक प्रहसन है। इसमें व्यंग्य के माध्यम से जीवन की विकृतियों के प्रति जनता को सचेत किया गया है। इसके सभी पात्र प्रतीकात्मक हैं। 'विषस्य विषमौषधम्' संस्कृत की भाषा-शैली में रचित एकपात्रीय नाटक है। इसमें भारतीय राजाओं के विलासी तथा शोषक रूप को उद्घाटित करते हुए अंग्रेजों की कूटनीति का भी पर्दाफाश किया गया है। नाटककार ने कहावतों, चुटकुलों, मुहावरों, पदों, श्लोकों, व्यंग्य, हास्य से एकरसता को दूर कर मनोरंजन की सृष्टि की है।

सत्य हरिश्चन्द्र : 'सत्य हरिश्चन्द्र' क्षेमेश्वर के 'चण्डकौशिक' नाटक के आधार पर रचित होते हुए भी भारतेन्दु के स्पर्श से मौलिक हो उठा है। युवा पीढ़ी में चरित्र और आदर्श की स्थापना इसका लक्ष्य है। इसमें पाश्चात्य शैली का प्रभाव परिलक्षित होता है। धैर्य और करुणा के प्रभाव से पाठक / दर्शक अछूता नहीं रह पाता है।

चन्द्रावली : 'चन्द्रावली' स्त्री प्रधान नाटिका है। प्रेम और भक्ति के भावों से लबालब भरी यह कृति रासलीला लोकनाट्य के रूप में रची गई है। राधा-कृष्ण की युगल-मूर्ति के उपासक भारतेन्दु की भक्ति-भावना यहाँ साकार हुई है।

भारत दुर्दशा : 'भारत दुर्दशा' अंग्रेजी राज्य की आलोचना ही नहीं करता वरन् नाटककार की निर्भीकता और देशभक्ति को भी प्रकट करता है। इसके पात्र प्रतीकात्मक हैं। इसमें पारसी रंगमंच और लोकनाट्य नौटंकी का शिल्प अपनाया गया है।

भारत जननी : 'भारत जननी' तत्कालीन परिस्थितियों का अंकन करनेवाला काव्य-नाटक है। 'चन्द्रावली' और 'भारत जननी' में गीतिनाट्य की खूबियाँ विद्यमान हैं।

नील देवी : 'नील देवी' नारी प्रधान दुखान्त नाटक है, जिसमें भारतीय नारी सम्बन्धी गलत धारणा का खण्डन किया गया है। सरस मधुर गीतों से नाटक उत्कृष्ट बन गया है।

अन्धेर नगरी : जनप्रचलित एक छोटी-सी लोकोक्ति के आधार पर रचित यह लघु नाटक समकालीनता की सीमा को लाँघ कर क्लासिक बनने की क्षमता रखता है। प्रहसन और व्यंग्य के माध्यम से जन-विरोधी शासन-व्यवस्था पर तीखा प्रहार किया गया है। 'चौपट राजा' हर काल में होते रहते हैं।

सती प्रताप : 'सती प्रताप' में सती सावित्री के कथानक को लेकर भारतीय नारी की गरिमा का दिग्दर्शन है। भारतेन्दु इसे अधूरा छोड़ गए थे, जिसे बाद में बाबू राधा कृष्णदास ने पूरा किया था।

अनुवाद के लिए नाटक का चुनाव करते समय भारतेन्दु का उद्देश्य हिन्दी की नाट्यकला एवं भाषा का संस्कार परिष्कार करना होता था। उनके व्यक्तित्व में निहित कलाकार एवं मानवीय संवेदना भी उनके चुनाव को

प्रेरित करते थे। हर्ष की संस्कृत नाटिका 'रत्नावली' का उन्होंने अनुवाद किया, क्योंकि उसे वे कालिदास के शाकुन्तल के बाद श्रेष्ठ कृति मानते थे। 'पाखण्ड विडम्बन' कृष्ण मिश्र रचित 'प्रबोध चन्द्रोदय' के तीसरे अंक का अनुवाद है। वीररस प्रधान ओजपूर्ण नाटक 'धनञ्जय विजय' का भरतवाक्य महत्त्वपूर्ण है। इसमें लेखक ने कजरी, ठुमरी आदि के बदले नये साहित्य और कविता को अपनाने का आग्रह किया है। संस्कृत नाटककार विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' का भारतेन्दु-कृत अनुवाद मौलिक रचना लगता है। इसमें साहित्य और रंगमंच दोनों का समन्वय है। 'कर्पूरमंजरी' राजशेखर द्वारा प्राकृत भाषा में रचित इसी नाम के नाटक का अनुवाद है। 'दुर्लभबन्धु' शेक्सपीयर के 'मर्चेन्ट ऑफ वेनिस' का छायानुवाद है; क्योंकि इसमें पात्र, स्थान आदि सभी का भारतीयकरण किया गया है। 'विद्यासागर' यतीन्द्रमोहन ठाकुर के बांग्ला नाटक का अनुवाद है। इसमें एक प्रेमकथा है। प्रेम में असफल होकर नायक-नायिका आत्मघात नहीं करते। नाटककार उन्हें अन्त में मिला देता है। भारतेन्दु के मौलिक और अनूदित दोनों नाटक उनकी प्रतिभा और रंगमंच के विकास हेतु उनके प्रामाणिक प्रयासों को सिद्ध करते हैं।

3.1.04. अन्धेर नगरी की कथावस्तु

'अन्धेर नगरी' के व्यंग्य विधान पर विचार करने के पूर्व उसकी कथावस्तु से परिचित होना आवश्यक है। 'अन्धेर नगरी' की कथावस्तु एक ऐसे राज्य और उसकी शासन-व्यवस्था से सम्बन्धित है, जहाँ विवेकहीन राजा मंत्री के बुद्धिचातुर्य से परिचालित अनाफ्शनाप निर्णय लेता है। एक महन्त अपने दो शिष्यों – गोबरधनदास और नारायणदास के साथ एक नगर में पहुँचते हैं। ऊपर से वह नगर बहुत सुन्दर दिखाई देता है। वे गोबरधनदास को पश्चिम की ओर और नारायणदास को पूर्व की ओर भिक्षा माँगने के लिए भेजते हैं। वे दोनों को लोभ से बचने का उपदेश देते हैं। बाजार के दृश्य से पता चलता है कि इस सम्पन्न नगरी में हर चीज टके सेर बेची जा रही है। गोबरधनदास भिक्षा में मिले सात पैसों से साढ़े तीन सेर मिठाई खरीद कर खाता है। महन्त शिष्यों को ऐसी जगह तुरन्त छोड़ देने की सलाह देते हैं। गोबरधनदास उनकी सलाह न मानकर उसी नगरी में रहने का निर्णय लेता है। गुरु 'संकट के समय मेरा स्मरण करना' कहकर नारायणदास के साथ वहाँ से चल देते हैं।

चौथा दृश्य राजसभा का है। कल्लू बनिया की दीवार गिर जाने से किसी की बकरी मर गई। वह राजा से न्याय की प्रार्थना करता है। क्रमशः कारीगर, चूनेवाला, मिस्त्री, कसाई, गड़रिया दरबार में पेश किए जाते हैं। सब अपना अपराध दूसरे के सिर मढ़ अपना बचाव करते हैं। विवेकहीन राजा कोतवाल को फाँसी देने का हुक्म देता है। गोबरधनदास मिठाई खा-खाकर मोटा हो रहा है कि राजा के चार प्यादे उसे पकड़ने के लिए आ धमकते हैं। उसे फाँसी दी जानेवाली है, यह सुनकर वह अपने अपराध के बारे में पूछता है। बताया जाता है कि फाँसी का फंदा कोतवाल की गरदन से बड़ा होने के कारण राजाज्ञा से मोटे व्यक्ति की खोज हो रही है और मोटे होने के कारण उसकी गरदन फाँसी के लिए सर्वथा उपयुक्त है। इस संकट से उसके गुरु ही बचाते हैं। गुरु शिष्य दोनों में फाँसी चढ़ने को लेकर विवाद छिड़ जाता है। राजा के पूछने पर महन्तजी बताते हैं कि इस समय ऐसा मुहूर्त है कि जो फाँसी चढ़ेगा वो सीधा स्वर्ग जाएगा। राजा इस अवसर को हाथ से नहीं जाने देना चाहता और फाँसी चढ़ जाता है।

इस कथावस्तु में हास्य-व्यंग्य का पुट देकर भारतेन्दु ने समकालीन शासन व्यवस्था के दोषों को उजागर किया है। स्वतन्त्र भारत की शासन-व्यवस्था का यथार्थ इससे भिन्न नहीं है। इस नाटक का अर्थ और व्यंजना देश काल की सीमा से परे है। इसीलिए इसे सदाबहार, प्रासंगिकता से युक्त नाटक माना जाता है। स्वातन्त्र्योत्तर काल के रंगकर्मियों ने इसकी इस विशेषता का लाभ उठाया है।

3.1.05. प्रहसन का कलेवर और अन्धेर नगरी

जिसे हम नाटक कहते हैं वह रूपक का प्रकार है। भारतीय आचार्यों ने रूपक के दस प्रकार माने हैं – नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, अंक, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम और ईहामृग। डॉ॰ गिरिजा सिंह ने हिन्दी में नाटकों के अतिरिक्त प्रहसन की परम्परा का जन्मदाता भारतेन्दु को माना है – "उन्होंने वर्तमान आवश्यकताओं के अनुकूल प्रहसनों को जीवन का प्रतिबिम्ब और उसकी व्यंजना करने वाले माध्यम रूप में स्थापित कर उसे आधुनिक नाट्य प्रणाली के उपयुक्त बनाया। सन् 1882 में प्रकाशित 'नाटक' नामक निबन्ध में भारतेन्दु ने प्रहसन का स्वरूप स्पष्ट किया है – " 'हास्य रस का मुख्य खेल' नायक राजा वा धनी वा ब्राह्मण वा धूर्त कोई हो। इसमें अनेक पात्रों का समावेश होता है। यद्यपि प्राचीन रीति से इसमें एक ही अंक होना चाहिए, किन्तु अब अनेक दृश्य दिए बिना नहीं लिखे जाते।" वे 'अन्धेर नगरी' को प्रहसन मानते हैं। वस्तुतः इस नाटक में हास्य और व्यंग्य दोनों का मिश्रण है।

प्रहसन के नायक के सम्बन्ध में भारतेन्दुजी ने जो व्यवस्था दी है, उस सन्दर्भ में अन्धेर नगरी के नायक का निर्धारण करना चाहें तो समस्या पैदा होती है। अन्धेर नगरी का राजा 'चौपट' है अर्थात् वह बुद्धिविहीन है। उसमें कोई भी काम स्व-विवेक से करने की क्षमता नहीं है। मंत्री की सलाह को वह आँख मूँद कर स्वीकार कर लेता है। राजा एक विदूषक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मंत्री राजा की अपेक्षा अधिक चतुर चालाक है। आखिरी अंक में वह भी फाँसी पर चढ़नेवालों की होड़ में शामिल हो जाता है। यहाँ उसकी चालाकी नदारत है।

महन्त का शिष्य गोबरधनदास नाटक में सर्वत्र वर्तमान है, लेकिन उसे केन्द्रीय चरित्र नहीं कहा जा सकता। स्वतन्त्र रूप से विचार करने की क्षमता का उसमें अभाव है। वह लोभ के वशीभूत है और पेट भरना ही उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। उसका मोटापा उसके जी का जंजाल बन जाता है। महन्त के चरित्र में संयम और विवेक का संगम है। लोभग्रस्त शिष्य गोबरधनदास का उनकी तेज बुद्धि से उपजी युक्ति फाँसी के फंदे से बचाती है और फाँसी की सजा सुनानेवाला खुद फाँसी के फंदे का शिकार हो जाता है। लेकिन वह नाटक का केन्द्रीय पात्र नहीं है, क्योंकि उसकी भूमिका बहुत सीमित है। 'अन्धेर नगरी' के किसी पात्र पर नायक का ठप्पा नहीं लगाया जा सकता। इन पात्रों को नाटककार ने विशेष प्रवृत्तियों के प्रतीक के रूप में पेश किया है।

भारतेन्दु की परिभाषा प्रहसन में अनेक पात्रों का समावेश हो सकने की बात कहती है। 'अन्धेर नगरी' के दूसरे अंक में कई पात्र हैं – चूरनवाला, नारंगीवाला, हलवाई, कुंजड़िन, मुगल, पाचकवाला, मछलीवाली, ब्राह्मण, बनिया इत्यादि। ये केवल विक्रेता एवं चीजें बेचनेवाले नहीं हैं। इनको नाटककार ने एक विशेष उद्देश्य से रखा है।

वह उद्देश्य है समकालीन सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था पर तीखे व्यंग्य बाण छोड़ते हुए उसके यथार्थ का उद्घाटन करना।

प्रहसन में एक ही अंक होता है, लेकिन भारतेन्दु ने अनेक दृश्य रखने की छूट लेने की बात कही है। 'अन्धेर नगरी' में कुल छह दृश्य हैं। प्रत्येक दृश्य में अलग स्थान है। कालगत अन्तराल अधिक नहीं है।

3.1.06. अन्धेर नगरी में व्यंग्य-विधान

ऊपर हम रूपक के एक भेद प्रहसन के स्वरूप से परिचित होने के क्रम में यह देख आए हैं कि प्रहसनकार का उद्देश्य हँसाना ही नहीं, व्यंग्य के द्वारा मार्मिक चोट भी करना है। भारतेन्दु अपने नाटकों के द्वारा पाठकों एवं दर्शकों में समाजसुधार और जागरण की चेतना पैदा करना चाहते थे। 'अन्धेर नगरी' की रचना उस काल में की गई जब 1857 के गदर के बाद ब्रिटेन की रानी ने भारत का शासन ईस्ट इंडिया कंपनी से अपने हाथ में ले लिया था। सतह पर तो अमन चैन और शान्ति दिखाई दे रही थी, लेकिन उसके नीचे जो स्थिति थी, उसे भारतेन्दु ने अपने इस लघु नाटक में उजागर किया है। स्वतन्त्र भारत में जिन सपनों के साकार होने की बात सोची गई थी, उनका टूटना दिखाई पड़ा। उम्मीद और उत्साह को गहरा झटका लगा और रंगकर्मियों ने महसूस किया कि अन्धेर नगरी मिटी नहीं, आज भी वर्तमान है। इसलिए स्वतन्त्र भारत में इस नाटक की चर्चा होने लगी और इसे विभिन्न रंग-शैलियों में बार-बार खेला जाने लगा। क्या आज के राजनैतिक, सामाजिक और प्रशासनिक परिवेश से इस नाटक की संगति जुड़ती है ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमें नाटक के हास्य व्यंग्य उत्पन्न करनेवाले प्रसंगों पर दृष्टिपात करना होगा।

दूसरे दृश्य में बाजार लगा हुआ है। विभिन्न विक्रेता अपनी वस्तुएँ गा-गा कर बेच रहे हैं। चना बेचने वाला घासीराम कहता है – "चना हाकिम सब जो खाते। सब पर दूना टिकस लगाते॥" जनता पर मनमाना टैक्स लगानेवाली शासन व्यवस्था यहाँ निशाने पर है। टके सेर सब्जी और फल बेचनेवाली कुंजड़िन के वक्तव्य के अन्त में आया है – "ले हिन्दुस्तान का मेवा फूट और बैर।" हमारी इसी कमजोरी का फायदा उठाकर विदेशी किस तरह यहाँ के शासक बने यह इतिहास के पन्नों में अंकित है। इसी फूट और बैर का फायदा उठाकर अंग्रेजों ने देश का विभाजन किया। आज की निम्नस्तरीय, घटिया राजनीति इसी का प्रमाण प्रस्तुत करती है। देशहित के प्रश्नों पर राजनैतिक दलों में आम सहमति नहीं बन पाती। सब अपनी अपनी ढफली अपना-अपना राग का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। सामर्थ्य और क्षमता होने के बावजूद हमारा देश आगे नहीं बढ़ पाता। पाचकवाला मसालेदार चूरन बेच रहा है। उसके पद्यात्मक कथन की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य है– "चूरन जब से हिन्द में आया। इसका धन बल सभी घटाया॥" और "चूरन अमले सब जो खावैं। दूनी रिश्वत तुरत पचावैं॥" पहले कथन में 'चूरन' अंग्रेजी शासन का प्रतीक है तो दूसरे में भ्रष्ट नौकरशाह की ओर संकेतहै। आज के हालात तो और भी बदतर हैं। अमलों की मुट्ठी गरम किए बिना कोई काम नहीं होता। लाल फीताशाही जन-कल्याण की योजनाओं को इंच भर भी आगे नहीं बढ़ने देती।

पाचक बेचनेवाले के हमले से सम्पादक, साम्राज्यवादी शासक और पुलिस विभाग भी नहीं बच पाया है –

चूरन खावै एडिटर जात।
जिनके पेट पचै नहिं बात॥
चूरन साहेब लोग जो खाता।
सारा हिन्द हजम कर जाता॥
चूरन पूलिसवाले खाते।
सब कानून हजम कर जाते॥

उस जमाने में तो केवल अख़बार थे। आज तो टी.वी. और उसके विभिन्न न्यूज चैनल आ गए हैं। छोटी-सी बात को नमक-मिर्च लगाकर इतना बड़ा बना देते हैं कि जहाँ शान्ति हो वहाँ भी अशान्ति और तोड़-फोड़ की लहर पैदा हो जाए। शासन और मंत्रियों के भ्रष्टाचार आज छिप नहीं पाते। मीडिया की निगाह हर जगह रहती है। भ्रष्ट व्यक्ति अधिक समय तक प्रतिरोध नहीं कर पाता। या तो उसे त्यागपत्र देना पड़ता है या कानूनी कार्रवाई का सामना करना पड़ता है। जमाना बदल गया लेकिन पुलिस विभाग जस का तस है। वह कानून की रक्षा करने के बदले अपराधी की रक्षा करता है। उनसे पैसे लेकर निरपराध को यातना देता है।

जातवाले (ब्राह्मण) के कथन में पैसे को सर्वस्वी बताया गया है – 'सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ते' पैसे के लिए लोग अपनी जाति बेच देते हैं। पैसे के आगे नीति-अनीति, सत्य-असत्य का कोई मूल्य नहीं हैं – "टके के वास्ते धर्म और प्रतिष्ठा दोनों बेचें, टके के वास्ते झूठी गवाही दें।" यही बात आज वैश्वीकरण के युग पर पूरी तरह से लागू होती है। पूँजीवाद विरोधी साम्यवादी देश और वहाँ की सरकारें पूँजीवाद के तौर-तरीकों को अपना रही हैं। धन और पैसे की महिमा आज सर्वोच्च शिखर पर पहुँच चुकी है।

प्रहसन के मुख्य तत्त्व अतिरंजित शारीरिक क्रियाएँ, चरित्र और परिस्थिति की अतिरंजना, पात्रों की विसंगत, उटपटांग, बेतुकी, असामान्य और विलक्षण क्रियाएँ हैं। नाटक के चौथे दृश्य (राजसभा) में इस प्रकार की अतिरंजित और विसंगत परिस्थितियाँ वर्तमान हैं। राजा के संवाद कदम-कदम पर हास्य की छटा बिखेरते हैं। सेवक महाराज से कहता है – 'पान खाइए, महाराज !' राजा नशे में उसे 'सुपनखा आई ए महाराज !' सुनता है और भागता है। इस दृश्य में न्याय-व्यवस्था को लेकर हास्य और व्यंग्य की सृष्टि है। विवेकहीन राजा किसी को भी बिना विचार किए कोड़े लगाने और फाँसी पर चढ़ाने की सजा सुनाता है। राज दरबार में एक मुकदमा पेश हुआ है। कल्लू बनिया की दीवार गिरने से उसके नीचे दबकर किसी की बकरी मर गई। वह राजा से न्याय माँगने आता है। राजा कल्लू बनिये की दीवार को पकड़ लाने की आदेश देता है। मंत्री के यह कहने पर कि दीवार नहीं लायी जा सकती, राजा दीवार के भाई, बेटे को पकड़ लाने का आदेश देता है। यह सरासर बुद्धि का दिवालियापन है और इससे हास्य पैदा होता है। राजा 'बकरी' को 'लरकी' या 'बरकी' कहता है। कल्लू बनिया कारीगर को दोष देता है, कारीगर चूनेवाले को, चूनेवाला मिस्त्री को, मिस्त्री मशक बनानेवाले कसाई को, कसाई गड़रिए को गड़रिया कोतवाल और उनकी सवारी को। आखिर कोतवाल गिरफ्तार हो जाता है और उसे फाँसी की सजा फर्माई जाती

है। 'चट मंगनी पट ब्याह' जैसा फैसला हो गया। फाँसी की सजा के क्रियान्वयन से भी हास्य पैदा होता है। कोतवाल दुबले हैं इसलिए फाँसी का फंदा उनके गले के हिसाब से ढीला है। राजा के आदेश से मोटे तगड़े व्यक्ति की खोज शुरू हो जाती है और महन्त के शिष्य गोबरधनदास को बिना किसी कसूर के पकड़ लिया जाता है। कोतवाल और गोबरधनदास दोनों निर्दोष है, लेकिन नशेड़ी और अविवेकी राजा के आदेश से उनके आस-पास फाँसी का फंदा घूमने लगता है।

नाटक में एक ऐसी शासन-व्यवस्था और उससे जुड़ी न्याय-व्यवस्था संकेतित है जो सर्वथा संवेदनहीन और अमानवीय है। नाटककार ने प्रतीकात्मकता के माध्यम से अपना व्यंग्य-विद्रूप सम्प्रेषित किया है। वर्तमान में न्याय-व्यवस्था उन वकीलों के द्वारा संचालित है, जो कानून की बाल की खाल निकालने की कला में माहिर होते हैं। अपराधी से तगड़ी फीस लेकर वे उसे बचाने के लिए एड़ी चोटी का पसीना एक कर देते हैं। गरीब आम आदमी न्याय पाने से वंचित रह जाता है। अन्याय का प्रतिकार करने का उसके पास कोई साधन नहीं है। 'अन्धेर नगरी' का कथ्य आज भी प्रासंगिक है, इसलिए उसका प्रदर्शन और उसकी चर्चा होती है। यह तथ्य भारतेन्दु की प्रतिभा और उनकी नाट्यकला की उत्कृष्टता को प्रभावित करता है।

3.1.07. पाठ-सार

बनारस के एक रईस परिवार में जन्मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को केवल पैंतीस वर्ष की आयु मिली, जिसमें उन्होंने वह कार्य कर दिखाया जो लोग दीर्घायु होकर भी नहीं कर पाते। उन्हें आधुनिक हिन्दी साहित्य का जनक कहा जाता है। विविध विधाओं में लेखन कर उन्होंने साहित्य-सेवा का एक अनुपम इतिहास रचा। हिन्दी नाटक की नींव रखने में उनकी भूमिका अहम है। वे भारतीय नवजागरण के प्रथम चरण के काल में सक्रिय रहे। उनमें पुरातन से हटकर नूतन की ओर गतिमान होने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। उन्होंने मौलिक नाटक लिखे; संस्कृत, बांग्ला और अंग्रेजी के नाटकों के अनुवाद किए। नाटक के शास्त्रीय पक्ष को उद्घाटित करने के लिए नाटक पर निबन्ध लिखा। रंगकर्म में उनकी गहरी रुचि थी। वे नाटककार, अभिनेता, निर्देशक सब कुछ थे।

बनारस में भारतेन्दु ने 'नेशनल थिएटर' की स्थापना की। इसके लिए उन्होंने एक रात में अपने सदाबहार नाटक 'अन्धेर नगरी' की रचना की। कुल छह दृश्यों के इस नाटक की रचना प्रहसन के रूप में की है। प्रहसन के मुख्य तत्त्व अतिरंजित शारीरिक क्रियाएँ, चरित्र और परिस्थिति की अतिरंजना, पात्रों की विसंगत, उटपटांग, बेतुकी, असामान्य और विलक्षण संवाद तथा गतिविधियाँ हैं। 'अन्धेर नगरी चौपट्ट राजा' यह शीर्षक भी बहुत कुछ कह देता है। जहाँ विवेकहीन, नशे में लीन लहरी राजा का शासन हो, वहाँ मानवीय संवेदना, समानता और न्याय की रक्षा आदि मूल्यों की कल्पना कैसे की जा सकती है ? 'अन्धेर नगरी' अपने समय का दर्पण ही नहीं है वह मूल्यहीनता के अन्धकार में डूबे हर युग पर सटीक बैठता है।

चौपट राजा की न्याय-प्रणाली भी बहुत मजेदार है। किसी की दीवार गिरने से किसी की बकरी मर गई। फरियादी की शिकायत पर बेचारा कोतवाल पकड़ा जाता है, जबकि उसका दीवार और बकरी से कोई सम्बन्ध

नहीं है। राजा उसे फाँसी की सजा देता है। फाँसी का फंदा कोतवाल के गले में ढीला है, इसलिए किसी मोटे तगड़े व्यक्ति की खोज की जाती है। अन्धेर नगरी की टके सेर चीजें खाकर महन्त का शिष्य गोबरधनदास मोटा हो गया है। राजा के सिपाही उसी को बलि का बकरा बनाना चाहते हैं। महन्त की चतुराई से शिष्य की जान बच जाती है और आत्मकेन्द्रित बुद्धिहीन राजा फाँसी के फंदे में फँस जाता है। भारतेन्दु कहना चाहते हैं कि मानवीय संवेदना-रहित तानाशाह अपने ही बनाये जाल में फँस कर नष्ट हो जाते हैं। नाटक में बिम्बों और प्रतीकों का बहुत अधिक प्रयोग किया गया है। प्रहसन होने के कारण 'अन्धेर नगरी' में हास्य और व्यंग्य पर्याप्त मात्रा में है।

3.1.08. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. निम्नलिखित में से कौनसा भारतेन्दु का अनूदित नाटक नहीं है ?

(क) धनञ्जय विजय
(ख) भारत दुर्दशा
(ग) कर्पूर मंजरी
(घ) पाखण्ड विडम्बन

2. सन् 1857 के गदर के समय भारतेन्दु की उम्र कितनी थी ?

(क) पचास वर्ष
(ख) तीन वर्ष
(ग) चालीस वर्ष
(घ) सात वर्ष

3. "महाराज महाराज ! मैंने तो कोई कसूर नहीं किया, मैं तो शहर के इन्तजाम के वास्ते जाता था।" – यह संवाद 'अन्धेर नगरी' के किस दृश्य का है ?

(क) पाँचवा
(ख) पहला
(ग) छठा
(घ) चौथा

4. 'अन्धेर नगरी' रूपक के किस प्रकार के अन्तर्गत आता है ?

(क) प्रकरण
(ख) वीथी
(ग) प्रहसन

(घ) ईहामृग

5. 'अन्धेर नगरी' का दूसरा दृश्य कहाँ घटित होता है ?

(क) बाहृय प्रान्त

(ख) जंगल

(ग) राजसभा

(घ) बाजार

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. 'अन्धेर नगरी की कथावस्तु लिखिए।
2. 'अन्धेर नगरी' का नायक कौन है ? तर्कसंगत उत्तर दीजिए।
3. 'अन्धेर नगरी' के चौपट राजा की न्याय-व्यवस्था की विशिष्टताएँ बताइए।
4. 'टके सेर भाजी, टके सेर खाजा' का आशय स्पष्ट करते हुए उसकी विवेचना कीजिए।
5. 'अन्धेर नगरी' नाटक में प्रयुक्त प्रतीकों पर प्रकाश डालिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. 'अन्धेर नगरी' में आए बाजार के दृश्य की अर्थवत्ता पर प्रकाश डालिए।
2. 'अन्धेर नगरी' के पात्र 'राजा' के चरित्र की सांगोपांग विवेचना कीजिए।
3. 'अन्धेर नगरी' के व्यंग्यविधान का सोदाहरण मूल्यांकन कीजिए।
4. " 'अन्धेर नगरी' विवेकहीन अन्धी शासन व्यवस्था का प्रतीक है।" अपना तर्कसंगत अभिमत लिखिए।
5. " 'अन्धेर नगरी' में पुनरुत्थानवाद एवं प्रगतिशीलता को लेकर एकद्वन्द्व दिखाई देता है।" इस कथन की सार्थक समीक्षा कीजिए।

3.1.09. कठिन शब्दावली

चौपट्ट	:	विवेकहीन
पाचक	:	हाजमा ठीक करनेवाला
टका	:	उस समय चलने वाला एक कम मूल्य का सिक्का
रंगकर्मी	:	नाट्य-प्रदर्शन आदि से जुड़े लोग

3.1.10. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. सिंह, गिरिजा (1970). हिन्दी नाटकों की शिल्पविधि. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन. पृ. 43-44
2. नाटक, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

3. जैन, नेमिचन्द्र (सं.). हिन्दी नाटक एवं रंगमंच नयी दिल्ली : मैकमिलन प्रकाशन.
4. रस्तोगी, गिरीश. हिन्दी नाटक का आत्मसंघर्ष. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन.

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 3 : अन्धेर नगरी

इकाई – 2 : 'अन्धेर नगरी' की प्रासंगिकता

इकाई की रूपरेखा

3.2.0. उद्देश्य कथन
3.2.1. प्रस्तावना
3.2.2. प्रासंगिकता का आशय
3.2.3. भारतेन्दु का समय
3.2.4. 'अन्धेर नगरी' में अभिव्यक्त यथार्थ
3.2.5. 'अन्धेर नगरी' की प्रासंगिकता
3.2.6. पाठ-सार
3.2.7. बोध प्रश्न
3.2.8. कठिन शब्दावली
3.2.9. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

3.2.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. 'अन्धेर नगरी' के परिप्रेक्ष्य में भारतेन्दु के समय और वर्तमान समय की समीक्षा कर सकेंगे ।
ii. 'अन्धेर नगरी' की प्रासंगिकता पर चर्चा कर सकेंगे।
iii. 'अन्धेर नगरी' में यथार्थ दर्शन की विवेचना कर सकेंगे ।

3.2.1. प्रस्तावना

प्रथम इकाई में हम 'अन्धेर नगरी' में निहित व्यंग्य-विधान के बारे में जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। इस इकाई में हम 'अन्धेर नगरी' नाटक की प्रासंगिकता पर विचार करेंगे, जो साहित्यिक कृति अपने समय तक सीमित नहीं रहती वह महत्त्वपूर्ण मानी जाती है । ऐसी कृतियों के रचयिताओं को उत्कृष्ट लेखक माना जाता है । हम आगे देखेंगे कि प्रासंगिकता होती क्या है ?

भारतेन्दु के पूर्व हिन्दी में छिट-पुट नाटक ही मिलते हैं । कुल मिलाकर विश्वनाथ सिंह जू का 'आनन्दघन', गिरधरदास (भारतेन्दु के पिता) का 'नहुष' उल्लेखनीय माने जाते हैं । भारतेन्दु ने भारतीय, पाश्चात्य एवं लोक-नाट्य की परम्पराओं को ध्यान में रख अपने नाटक लिखे । वे मनोरंजन के साथ-साथ सामाजिक सुधार की भावना एवं नवजागरण की चेतना उत्पन्न करना चाहते थे। वे रंगमंच को ध्यान में रख नाटक लिख रहे थे। वे स्वयं रंगकर्म से जुड़े हुए थे । समकालीन साहित्यकारों को उन्होंने नाट्य-लेखन एवं प्रदर्शन के लिए प्रेरित किया । वे नाटक के

जरिये राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक जागरण की गति देना चाहते थे। उनके कई नाटक आज भी प्रासंगिक हैं। सर्वप्रथम हमें प्रासंगिकता का अर्थ जानना होगा। इसके बाद हमें भारतेन्दु के समय में जाना होगा अर्थात् तत्कालीन परिस्थितियों से परिचित होना होगा। इसके उपरान्त ही हम 'अन्धेर नगरी' की प्रासंगिकता पर विचार कर सकते हैं।

3.2.2. प्रासंगिकता का आशय

साहित्य और समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। साहित्यकार जिस देश, काल, समाज और परिवेश में रहता है, उनसे वह और उसकी रचना दोनों प्रभावित होते हैं। वह अपने समय के कुछ ऐसे प्रश्नों से साक्षात्कार करता है, जो आगे आनेवाली शताब्दी में ज्यों के त्यों या अधिक प्रखरता के साथ वर्तमान रहते हैं। परिवर्तित समय में उसकी रचना को पढ़ते समय लगता है कि अरे यह तो हमारे समय के प्रश्नों से जूझ रही है। ऐसे में लेखक की वह कृति पुरानी न होकर ताजा लगती है। यही उस कृति की प्रासंगिकता कहलाती है। ऐसी कृतियों को 'क्लासिक' या अमर काव्य (या साहित्य) कहा जाता है। मानवीय स्वभाव या प्रवृत्तियों के चित्रण के आधार पर भी कृतियाँ प्रासंगिकता का दर्जा प्राप्त कर लेती हैं। संस्कृत में कालिदास, भवभूति; हिन्दी में सूरदास, तुलसीदास; अंग्रेजी में शेक्सपियर; उर्दू में मीर और गालिब; रूसी में टालस्टॉय, चेखव इसी प्रकार के साहित्यकार हैं। लम्बा समय गुजर जाने के बाद भी उनकी कृतियाँ पढ़ी और सराही जाती हैं, उन पर चर्चा, परिसंवाद और शोध होते रहते हैं। वे प्रागैतिहासिक काल या खुदाई से प्राप्त प्राचीन सभ्यता से जुड़ी चीजों के रूप में नहीं देखी जाती। वे आज भी उपयोगी एवं जीवन्त मानी जाती हैं। वे आज भी हमारे मन मस्तिष्क को प्रभावित करने की क्षमता रखती हैं। इसलिए वे साहित्य के विद्यार्थियों को पढ़ायी जाती है, उन पर समीक्षाएँ लिखी जाती हैं। इन रचनाओं में कुछ चीजें समसामयिक सामाजिक मान्यताओं से जुड़ी होती हैं। आज के परिवर्तित समय में वे मूल्यहीन हो चुकी हैं। उन्हें अप्रासंगिक मानकर छोड़ दिया जाता है। तुलसीदास रचित 'रामचरितमानस' में वर्ण-व्यवस्था, ब्राह्मण की श्रेष्ठता, नारी की भर्त्सना आदि बहुत-सी चीजें अप्रासंगिक हैं, लेकिन उसमें ऐसे अनेक प्रसंग और आदर्श हैं जो आज भी महत्त्वपूर्ण यानी प्रासंगिक हैं। पुत्र-स्नेह, पितृ-भक्ति, मातृ-प्रेम, कलियुग-वर्णन के द्वारा समाज और शासन-व्यवस्था में व्याप्त मनमानी और अराजकता की तीखी आलोचना आदि बातें आज भी प्रासंगिक हैं, जबकि मानस की रचना हुए पाँच सौ वर्षों से अधिक समय व्यतीत हो चुका है। सूरदास के पदों में बाल-लीलाओं के वर्णन द्वारा वात्सल्य-रस की जो धारा बहायी गई है, उसमें भीगकर हम आज भी अपने बचपन को पुनः जी लेते हैं। शताब्दियाँ गुजर जाने के बावजूद माँ के हृदय में संतान-प्रेम कम नहीं हुआ। पशु-पक्षी भी अपने शिशुओं से स्नेह के धागों से बँधे हैं तो फिर इंसान के बारे में कहना ही क्या ! शेक्सपियर के नाटकों के प्रति आज भी आकर्षण कम नहीं हुआ है, क्योंकि उनमें मानव मन की ऊँचाईयाँ और रसातल को छूती नीचाइयाँ दोनों वर्णित हैं। वे हमारे मन, स्वभाव व प्रकृति का दर्पण हैं इसलिए वे आज भी प्रासंगिक हैं।

समकालीन साहित्यकार और उनकी कृतियाँ आगे चलकर प्रासंगिक रहेंगी या नहीं, यह तो आनेवाला समय ही बताएगा। उनकी प्रासंगिकता की जाँच उन्हीं तत्त्वों के आधार पर होगी, जिनकी चर्चा हम ऊपर कर आए

हैं। यदि वे प्रासंगिकता के निकष पर खरी नहीं उतरी तो उनका महत्त्व नित्य प्रकाशित होनेवाले अखबारों से अधिक नहीं रहेगा।

3.2.3. भारतेन्दु का समय

भारतेन्दु का जन्म सन् 1850 में हुआ था और सन् 1885 में उनका स्वर्गवास हो गया। सन् 1857 में विदेशी शासन के खिलाफ प्रथम विद्रोह हुआ तब भारतेन्दु सात वर्ष के थे। सन् 1885 में कांग्रेस की स्थापना हुई, जिसने आगे चलकर देश की आजादी प्राप्ति के संघर्ष में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। सन् 1857 के विद्रोह में नरेशों, सामन्तों के साथ ही उत्तर भारत की किसान जनता ने भी हिस्सा लिया था। विद्रोह असफल रहा लेकिन भारत में शासन करने का उत्तरदायित्व अब ब्रिटेन की महारानी और ब्रिटिश संसद के हाथ में आ गया। धीरे-धीरे देश पर अंग्रेजों की पकड़ मजबूत हो गई।

ज़मींदारी प्रथा ने किसानों का बेरहमी से शोषण करना शुरू किया। विदेशी शासन ज़मींदारों को कठपुतली बनाकर किसानों को ऐसी फसलें उगाने के लिए बाध्य कर रहे थे, जिससे किसानों का नहीं उनका फायदा हो। इंलैंड में बनी वस्तुओं को उपनिवेशों में खपाने के लिए ज़रूरी था कि देशी उद्योगों को नष्ट कर दिया जाए। अंग्रेजों की नीतियाँ इस देश के लिए घातक थी। यहाँ से कच्चा माल इंग्लैंड ले जाया जाता और वहाँ के कल-कारखानों में उत्पादित वस्तुएँ यहाँ खपायी जातीं। पश्चिम में औद्योगीकरण की प्रक्रिया आरम्भ हो गई थी। भारत में रेल यातायात प्रारम्भ किया गया जिससे औद्योगीकरण तथा आधुनिकीकरण की प्रक्रिया तेज हो। भारत में भी उद्योग धंधों का श्रीगणेश हुआ। नील, चाय और कॉफी से सम्बन्धित उद्योगों को गति मिली। सूती कपड़ा और जूट की मिलें प्रारम्भ हुई। कोयला खदानों की स्थापना हुई।

अंग्रेजों ने अपने लाभ के लिए जिस आधुनिक शिक्षा पद्धति का प्रसार किया उससे सुधारआन्दोलनों को गति मिली। मैकाले की शिक्षा नीति भारत में पश्चिमी सभ्यता के नकलचियों की जमात खड़ा करना चाहती थी, लेकिन यह शिक्षा धर्म निरपेक्ष, उदारवादी और सर्वसुलभ थी। इस शिक्षा ने राष्ट्रवाद की भावना को उभारा और राष्ट्रीय आन्दोलन की धारा प्रवाहित हो चली। इस शिक्षा ने राष्ट्रीय मुक्ति और समाजसुधार आन्दोलन में सहभागी होने वाले बुद्धिजीवी वर्ग का निर्माण किया। प्रादेशिक साहित्य में राष्ट्रीयता और जनतन्त्र की भावनाओं को उभारनेवाली आधुनिकता का प्रवेश हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ऐसे ही बुद्धिजीवी वर्ग से उभरे थे। इस बुद्धिजीवी वर्ग ने कई राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक संगठन बनाए। नयी चेतना और नये विचारों का प्रचार-प्रसार करने के लिए समाचार पत्रों और पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ किया। स्वयं भारतेन्दु ने इस कार्य को हाथ में लिया और समानधर्मा मित्रों को इस दिशा में सक्रिय होने के लिए प्रेरित किया।

आधुनिक शिक्षा ने यह बोध दिया कि अन्धविश्वासों और पुरानी रूढ़ियों से मुक्त हुए बिना समाज और देश की उन्नति सम्भव नहीं। प्रगतिशील होने का अर्थ है विवेकशीलता और जनतान्त्रिक मूल्यों को अपनाना। वर्ण-व्यवस्था और जातिवाद को विनाशकारी मानकर उनका परित्याग आवश्यक माना गया। दबी-कुचली नारी

जाति का उत्थान ज़रूरी समझा गया। इसके लिए सतीप्रथा, बाल-विवाह, बहुविवाह, बालिका-वध जैसी घृणित और घातक प्रथाओं को समाप्त करने पर जोर दिया गया। नारी शिक्षा एवं विधवा विवाह को बढ़ावा देने वाली संस्थाएँ बनायी गईं।

अंग्रेजी शासन में किसानों की दशा बद से बदतर होती गई। उन पर लगान का बोझ पड़ रहा था, जिसकी वसूली सख़्ती से की जाती थी। अंग्रेजों की नीति के फलस्वरूप हस्तशिल्प और कारीगर उद्योग पूर्णतः नष्ट हो गए, जिससे कृषि पर अधिक दबाव पड़ा। सन् 1867 और 1880 के बीच कई भीषण अकाल पड़े। किसानों की हालत ख़स्ता हो गईं। उनमें गहरा असंतोष व्याप्त हो गया। सरकार ने कानून बनाकर भारतीय प्रेस की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगा कर जनता और उनके नेताओं के मुँह बन्द कर दिए। असंतोष अन्दर ही अन्दर सुलग रहा था। यह तीव्र असंतोष डब्ल्यू.सी. बनर्जी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, आर.सी. दत्त, दादाभाई नौरोजी, जस्टिस रानाडे, गोपाल कृष्ण गोखले आदि के माध्यम से व्यक्त हो रहा था। भारतेन्दु युग के लेखकों की लेखनी भी यही कार्य कर रही थी। इन्हीं परिस्थितियों में 'अन्धेर नगरी' प्रहसन की रचना हुई।

भारतेन्दु के पैंतीस वर्षों के जीवनकाल में एक ओर है सन् 1857 का गदर और दूसरी ओर है सुधारवादी तौर-तरीका अपनाने वाली कांग्रेस का जन्म। एक ओर क्रान्तिकारिता है तो दूसरी ओर सुधारवाद। भारतेन्दु के नाट्य साहित्य में ये दोनों छोर घुले-मिले हैं। उस दमनकारी व्यवस्था में अपनी बात कहने के लिए भारतेन्दु को मिथक और प्रहसन का माध्यम अपनाना पड़ा। उनके साहित्य में साम्राज्यवाद पर गहरे व्यंग्य-बाण छोड़े गए हैं। अंग्रेजों की स्वार्थपरता और शोषण का पर्दाफाश किया गया है।

3.2.4. 'अन्धेर नगरी' में अभिव्यक्त यथार्थ

'अन्धेर नगरी' का कथानक अतिरंजित और अयथार्थ लगता है। साहित्य की गहरी अर्थवत्ता प्रदान करने की सामर्थ्य से अपरिचित पाठक के मन में प्रश्न उठ सकता है – ऐसा भी कभी हो सकता है ? क्या दुनिया में कहीं ऐसा राज्य भी हो सकता है, जहाँ हर वस्तु टके सेर मिलती हो ? ऐसा होना तो असम्भव है। एक महन्त अपने दो शिष्यों के साथ ऐसे स्थान पर पहुँचता है, जिसका नाम अन्धेर नगरी है, जहाँ भाजी और खाना दोनों का मूल्य एक ही है – एक टके में सेर भर। महन्तजी का शिष्य गोबरधनदास यह जानकर बहुत प्रसन्न होता है, और वहीं रुकने का निर्णय करता है। गुरु अपने शिष्य को सावधान करते हैं कि ऐसी जगह रहना ठीक नहीं। उसके न मानने पर वे अपने दूसरे शिष्य के साथ वहाँ से चल देते हैं। इस बीच चौपट राजा के दरबार में एक फरियादी न्याय माँगने आता है। कल्लू बनिया की दीवार गिरने से फरियादी की बकरी मर गई। बकरी की मौत के लिए क्रमशः कल्लू, कारीगर, चूनेवाला, मिस्त्री, कसाई, गड़ेरिया को दोषी के रूप में पेश किया जाता है। इनमें से प्रत्येक स्वयं को निर्दोष बताते हुए दूसरे पर दोषारोपण करता है। गड़ेरिया कोतवाल को दोषी बताता है जिनकी सवारी देखने के चक्कर में उसने कसाई को बड़ी भेड़ बेच दी। चौपट राजा बिना सोच-विचार किए कोतवाल को मृत्युदण्ड दे देता है अर्थात् कोतवाल को फाँसी दी जानी है, लेकिन फाँसी का फंदा उनके गले में ढीला होने के कारण किसी मोटी गरदनवाले की खोज शुरू हो जाती है। गोबरधनदास अन्धेर नगरी में रहकर खूब मोटा-तगड़ा हो गया है। सिपाही उसे

पकड़कर फाँसी देने के लिए ले चलते हैं । प्राणों के संकट की इस घड़ी में गोबरधनदास अपने गुरु को याद करता है । वे प्रगट होते हैं । उनकी युक्ति काम आती है और राजा फाँसी पर चढ़ जाता है । महन्तजी झूठ-मूठ में यह घोषित करते हैं कि इस समय ऐसा मुहूर्त है कि जो फाँसी चढ़ेगा वह सीधा स्वर्ग जाएगा । राजा ने यकीन कर लिया और स्वर्ग जाने की उतावली में सबको धकिया कर फाँसी के फंदे का वरण कर लिया । इस अयथार्थ कथानक को यथार्थवाद के निकष पर खारिज करने के बदले इसकी आन्तरिक अर्थवत्ता पर ध्यान देना होगा ।

भारतेन्दु ने इस प्रहसन के माध्यम से तत्कालीन शासन-व्यवस्था एवं न्याय-प्रणाली से सम्बन्धित यथार्थ को दर्शाया है । आज भी पुरानी पीढ़ी के बचे-खुचे बुजुर्ग अपने बाप-दादों से सुने हुए अनुभव के आधार पर वर्तमान मँहगाई को कोसते हुए अंग्रेजी राज की तारीफ करते हैं । सतह पर अमन-चैन देखकर आन्तरिक अन्याय और असमानता का अनुमान नहीं लगाया जा सकता । भारतेन्दु की ही एक पंक्ति तत्कालीन तथा कथित सुख-शान्ति के दिनों के यथार्थ को हमारे सामने उजागर कर देती है – "अंगरेज राज सुखसाज सजे सब भारी। पै धन विदेश चलि जात, इहै है ख्वारी ।" धन विदेश जाने का अर्थ है साम्राज्यवादियों के द्वारा सोने की चिड़िया समझे जानेवाले भारत की मनमानी लूट । यहाँ के कच्चे माल से इंग्लैंड, यूरोप में वस्तुओं का निर्माण और फिर उन उत्पादों की भारत में खपत, यहाँ के हस्त-शिल्प उद्योग और कारीगरी के धंधे का विनाश। किसानों पर भारी लगान लगाकर कड़ाई से उसकी वसूली नागरिकों पर मनमाना टैक्स लगाना तथा असंतोष की आवाज को दबाने के लिए प्रेस एक्ट जैसे दमनकारी कानूनों को लागू करना। यह सारा असंतोष और आक्रोश साहित्य के माध्यम से व्यक्त हुआ है । मिथक और प्रहसन के जरिए भारतेन्दु ने अपने समय के यथार्थ को शब्दांकित किया है ।

ऊपर-ऊपर से देखने पर ऐसा लगेगा कि 'अन्धेर नगरी' की 'टके सेर भाजी टके सेर खाजा' वाली व्यवस्था में दरिद्रता और भुखमरी का नामोनिशान भी नहीं होगा । स्थिति इसके विपरीत है । यह सुख-शान्ति का लक्षण न होकर राज्य की अविवेकपूर्ण कुव्यवस्था का द्योतक है । राजा दूर बैठा सत्ता के नशे में चूर है और अधिकारीगण तथा कर्मचारी उसके नाम पर जनता के साथ मनमानी करते हैं । अविवेकी राजा के सारे निर्णय मंत्री लेता है । बाहरी समानता के नाटक से सब धोखा खा जाते हैं और आन्तरिक अन्याय और शोषण को कोई नहीं देखता । तीसरे दृश्य में महन्त का निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य है –

सेत सेत सब एक से, जहाँ कपूर कपास ।
ऐसे देस कुदेस में, कबहुँ न कीजै बास ॥
कोकिला वायस एक सम, पण्डित मूरख एक ।
इन्द्रायन दाड़िम विषय, जहाँ न नेकु विवेक ॥
बसिए ऐसे देस नहिं, कनक-वृष्टि जो होय ।
रहिये तो दुख पाइये, प्रान दीजिए रोय ॥

जहाँ मूर्ख और पण्डित में, कौवे और कोयल में अन्तर न हो, वहाँ अविवेक कुव्यवस्था का ही साम्राज्य मानना पड़ेगा । 'टके सेर भाजी, टके सेर खाजा' में टके या पैसे का महत्त्व रेखांकित किया गया है। पैसे के बल पर सब कुछ खरीदा जा सकता है । पैसे के पैरों तले उच्च्व मूल्य और आदर्श कुचले जाते हैं। नाटक में जातवाले

(ब्राह्मण) का संवाद इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है – "जात ले जात, टके सेर जात। एक टका दो, हम अभी अपनी जात बेचते हैं। टके के वास्ते ब्राह्मण से धोबी हो जाएँ और धोबी को ब्राह्मण कर दें, टके के वास्ते जैसी कहो वैसी व्यवस्था दें। टके के वास्ते झूठ को सच करें। टके के वास्ते ब्राह्मण से मुसलमान, टके के वास्ते हिन्दू से क्रिस्तान। टके के वास्ते धर्म और प्रतिष्ठा दोनों बेचें, टके के वास्ते झूठी गवाही दें। टके के वास्ते पाप को पुण्य मानें, टके के वास्ते नीच को भी पितामह बनावें। वेद धर्म कुल-मरजादा सचाई-बड़ाई सब टके सेर। लुटाय दिया अनमोल माल। ले टके सेर।"

पैसे के बल पर धर्माचार्य, बुद्धिजीवी, न्यायकर्त्ता सभी को खरीदा जा सकता है। पैसे के महत्त्व में सामन्ती व्यवस्था में मानव-मूल्यों को अपदस्थ कर दिया था। समाज में पूँजी का वर्चस्व कायम हो रहा था। इस प्रकार भारतेन्दु के समय का यथार्थ 'अन्धेर नगरी' में अभिव्यक्त हुआ है।

3.2.5. 'अन्धेर नगरी' की प्रासंगिकता

'अन्धेर नगरी' नाटक बनारस के नेशनल थिएटर की माँग पर भारतेन्दु द्वारा सन् 1881 में एक ही बैठक में लिखा गया था। उसकी रचना को कुल 135 वर्ष हो गए हैं। सन् 1970 के बाद इस नाटक में बुद्धिजीवियों और रंगकर्मियों का ध्यान अपनी ओर खींचा और विभिन्न स्थानों पर विभिन्न निर्देशकों ने इसका मंचन किया। इसका मंचन विभिन्न शैलियों में किया गया – मंचीय नाटक के रूप में, नुक्कड़ नाटक के रूप में और नौटंकी आदि लोकनाट्य के रूप में। आखिर इतने पुराने नाटक की ओर रंगकर्मियों के आकर्षित होने का कारण क्या है? कारण है इसकी प्रासंगिकता।

प्रासंगिकता का आशय हम पीछे समझा आए हैं। इसमें शासन-व्यवस्था के दो महत्त्वपूर्ण स्तम्भों – नौकरशाही और न्याय-व्यवस्था को व्यंग्य-बाणों का निशाना बनाया गया है। टका या पैसे का महत्त्व आज बहुत अधिक बढ़ गया है। नाटक में शासन-व्यवस्था की जो विडम्बनात्मक स्थितियाँ चित्रित हैं, वे आज की प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में अधिक विकसित और घातक रूप में वर्तमान हैं। अंग्रेजों की दमन नीति के कारण भारतेन्दु ने प्रहसन का सहारा लिया है।

बाजार के दृश्य में चना जोर गरम बेचनेवाले घासीराम तथा पाचकवाले की पंक्तियों में तत्कालीन व्यवस्था पर व्यंग्य है–

चना हाकिम सब जो खाते।
सब पर दूना टिकस लगाते॥

* * *

चूरन अमले सब जो खावैं।
दूनी रिश्वत तुरत पचावैं॥

* * *

चूरन साहेब लोग जो खाता।
सारा हिन्द हजम कर जाता ॥
चूरन पूलिसवाले खाते।
सब कानून हजम कर जाते ॥

टैक्स वाली बात तो आज भी सच है। लाखों करोड़ों की टैक्स चोरी करनेवाले कानून से बचने का उपाय जानते हैं, जबकि आम आदमी और मध्यम वित्त वाला व्यक्ति कानून के डर से टैक्स भरने में आगे रहता है। बड़े-बड़े पूँजीपति अपना कालाधन विदेशी बैंकों में जमा करते हैं। पैसे के बल पर अधिकारियों को रिश्वत देकर विदेश भाग जाने में सफल हो जाते हैं। सरकार को उन्हें कानून की गिरफ़्त में लेने के लिए नाकों चने चबाने पड़ते हैं। पुलिस का चरित्र एक शताब्दी बाद भी नहीं बदला है। भ्रष्टाचार में डूबा पुलिस विभाग अपराधियों को पकड़कर उन्हें सजा दिलवाने के बदले अपनी मुट्ठी गरम करवाने में रुचि रखता है। उसकी नाक के नीचे अपराधी गैरकानूनी गतिविधियों में लीन रहते हैं और वह आँख मूँदे झपकी लेता रहता है। अपराधी पुलिस से नहीं डरते और गम्भीर अपराधों की संख्या में लगातार वृद्धि होती जाती है।

हम वर्तमान न्याय व्यवस्था पर दृष्टिपात करें तो स्थिति बद से बदतर होती दिखाई देती है। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न लोग वकीलों को मँहगी फीस देकर आसानी से अपना बचाव कर लेते हैं, जबकि विपन्न व्यक्ति न्यायालय की सीढ़ियाँ चढ़ते-उतरते बूढ़ा हो जाता है और अन्ततः न्याय पाये बिना ही इस मर्त्यलोक से विदा हो जाता है। तकनीकी दावपेंच खेलकर वकील मुकदमों को लम्बी अवधि तक खींचने में सफल हो जाते हैं और फरियादी इंतजार कर करके थक जाता है। न्याय पाना इतना व्ययसाध्य है कि आम आदमी वहाँ जाने से डरता है। अतएव 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' कहावत चरितार्थ होती रहती है।

आज के युग का परम पूज्य देवता पैसा है। बिना पैसे के आवास, शिक्षा, चिकित्सा कुछ भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। 'समरथ को नहिं दोष गुंसाईं' के अनुसार पैसे की शक्ति का लोहा सभी मानते हैं। पद, प्रतिष्ठा और सम्मान सभी पैसे को प्रणाम करते हैं। 'अन्धेर नगरी' में वर्णित यथार्थ उसी काल तक सीमित नहीं है। वह वर्तमान जीवन की विडम्बनाओं और विसंगतियों तक व्याप्त है। यही उसकी प्रासंगिकता है और इसीलिए उसे आज भी विभिन्न रंग शैलियों में अभिनीत किया जाता है।

3.2.6. पाठ-सार

वही साहित्यिक कृति महत्त्वपूर्ण मानी जाती है जो अपने समय को लाँघकर परिवर्तित काल और परिवेश में भी जीवन्त महसूस की जाती है। रचना में कुछ तत्त्व सामयिक होते हैं और कुछ शाश्वत। सामयिक का महत्त्व युग-परिवर्तन के साथ समाप्त हो जाता है लेकिन शाश्वत युग-युग तक तरोताजा रहता है। मानव की प्रकृति एवं

उसके मनोभाव अपविर्तित होते हैं। इसी कारण अन्य देशों एवं भाषाओं का साहित्य हमें स्वभाषा एवं स्वदेश के साहित्य के समान ही प्रभावित करता है।

प्रासंगिकता का प्रश्न हर कृति के सम्बन्ध में उठाया जाता है। जहाँ तक 'अन्धेर नगरी' की प्रासंगिकता का सम्बन्ध है, भारतेन्दु द्वारा राज-व्यवस्था के दो महत्त्वपूर्ण स्तम्भों – नौकरशाही और न्याय-व्यवस्था को व्यंग्य बाणों का निशाना बनाया गया है। तब अंग्रेजों की उपनिवेशवादी व्यवस्था थी। आज स्वतन्त्र भारत में प्रजातान्त्रिक व्यवस्था है लेकिन आम आदमी या सामान्य नागरिक की स्थिति ज्यों की त्यों है। भ्रष्टाचार समाप्त नहीं हो पाया है और रिश्वत दिये बिना कोई काम नहीं हो पाता है। किसान कर्ज के बोझ से दबकर आत्मघात कर रहे हैं। तरह-तरह के टैक्स लगाए जाते हैं, जिससे सामान्य जन की स्थिति खराब हो रही है। पुलिस अपराधियों को पकड़ कर दण्डित कराने में विशेष रुचि नहीं लेती। डकैती, चोरी, हत्याकाण्ड एवं बलात्कार की घटनाएँ प्रतिदिन अखबारों में पढ़ने को मिलती हैं। न्याय-व्यवस्था की स्थिति भी संतोषजनक नहीं है। न्याय पाना खर्चीला और कष्टदायक है। मुकदमे लम्बे समय तक चलते रहते हैं, इसलिए न्याय पाने के लिए लम्बा इंतजार करना पड़ता है। 'अन्धेर नगरी' में पैसे की महत्त्व देनेवाली नयी संस्कृति के अवतरण की बात कही गई है। हम उसका वर्तमान रूप भूमण्डलीकरण की संस्कृति के रूप में देख रहे हैं। अभी हाल में पाँच सौ और एक हजार के नोटों का चलन बन्द करने पर काले धन वालों की बेचैनी को महसूस किया गया।

3.2.7. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. इनमें से कौनसी कृति प्रासंगिक नहीं है ?

(क) रामचरितमानस
(ख) त्यागपत्र
(ग) गोदान
(घ) गुनाहों का देवता

2. भारतेन्दु का स्वर्गवास किस सन् में हुआ ?

(क) सन् 1885
(ख) सन् 1857
(ग) सन् 1896
(घ) सन् 1901

3. "सेत सेत सब एक से, जहाँ कपूर कपास। ऐसे देस कुदेस में, कबहुँ न कीजै बास॥" 'अन्धेर नगरी' नाटक में यह किसकी उक्ति है ?

(क) गोबरधनदास
(ख) राजा
(ग) महन्त
(घ) नारंगीवाली

4. 'अन्धेर नगरी' की रचना भारतेन्दु ने किसकी माँग पर की थी ?
(क) पारसी थिएट्रिकल कंपनी
(ख) पृथ्वी थिएटर
(ग) नेशनल थिएटर
(घ) राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय

5. कोतवाल को फाँसी क्यों नहीं दी जा सकी ?
(क) क्योंकि उसने माफी माँग ली थी।
(ख) क्योंकि वह ऐन वक्त पर बीमार हो गया।
(ग) क्योंकि फाँसी का फंदा उसकी गरदन में ढीला था।
(घ) क्योंकि राजा का हृदय परिवर्तन हो गया।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. " 'अन्धेर नगरी' में पुनरुत्थानवादी स्वर भी मिलता है।" इस कथन पर अपना तर्कसंगत अभिमत दीजिए।
2. राजसभा (चौथा दृश्य) में हास्य पैदा करने वाले तत्त्वों की विवेचना कीजिए।
3. महन्त ने अपने शिष्य गोबरधनदास की प्राणरक्षा करने के लिए कौनसी युक्ति अपनायी ? निरूपण कीजिए।
4. बाजार के दृश्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
5. 'अन्धेर नगरी' नाटक के शीर्षक की सार्थकता पर प्रकाश डालिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. 'अन्धेर नगरी' की सांकेतिकता एवं प्रासंगिकता को रेखांकित एवं प्रासंगिकता को रेखांकित कीजिए
2. "सब मूल्यों पर 'पैसा' सर्वोच्च है।" इस विचारणा की 'अन्धेर नगरी' के सन्दर्भ में विवेचना कीजिए।
3. 'अन्धेर नगरी' के अध्ययन के आधार पर अंग्रेजों की शासन-व्यवस्था के कृष्ण पक्षों पर अभिमत दीजिए।
4. 'अन्धेर नगरी'में प्रतिबिम्बित यथार्थ का निरूपण कीजिए।

5. 'अन्धेर नगरी' के आधार पर भारतेन्दु की विचारधारा का आकलन कीजिए ।

3.2.8. कठिन शब्दावली

प्रासंगिकता	:	परिवर्तित समय में भी उपयोगिता
रंगकर्मी	:	नाटक से सम्बन्धित व्यक्ति
प्रहसन	:	रूपक का एक प्रकार, हास्य-व्यंग्य प्रधान

3.2.9. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. रस्तोगी, गिरीश. बीसवीं शताब्दी का हिन्दी नाटक और रंगमंच नयी दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ.
2. रस्तोगी, गिरीश. भारतेन्दु और अन्धेर नगरी. इलाहाबाद : अभिव्यक्ति प्रकाशन.
3. जैन, नेमिचन्द्र (सं.). हिन्दी नाटक एवं रंगमंच नयी दिल्ली : मैकमिलन प्रकाशन.
4. हिन्दी नाटक, बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.
5. हमारी नाट्य-परम्परा, श्रीकृष्णदास.

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 3 : अन्धेर नगरी

इकाई – 3 : रंगमंच की दृष्टि से 'अन्धेर नगरी'

इकाई की रूपरेखा

3.3.0. उद्देश्य कथन
3.3.1. प्रस्तावना
3.3.2. भारतेन्दु युग में हिन्दी नाटक
3.3.3. भारतेन्दु युग और रंगमंच
3.3.4. भारतेन्दु और रंगमंच
3.3.5. रंगमंच की दृष्टि से 'अन्धेर नगरी'
3.3.6. पाठ-सार
3.3.7. बोध प्रश्न
3.3.8. कठिन शब्दावली
3.3.9. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

3.3.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. हिन्दी नाटक के उदय और विकास के बारे में जान सकेंगे।
ii. हिन्दी नाटक और रंगमंच के विकास में भारतेन्दु युग के योगदान पर चर्चा कर सकेंगे।
iii. रंगमंच की दृष्टि से 'अन्धेर नगरी' नाटक की विवेचना कर सकेंगे।

3.3.1. प्रस्तावना

इस इकाई में रंगमंच की दृष्टि से 'अन्धेर नगरी' नाटक पर विचार किया जाएगा। नाटक उपन्यास, कहानी जैसी अन्य गद्य विधाओं के समान केवल पाठ्य नहीं होता। रंगमंच पर प्रदर्शित किए जाने पर ही वह सही अर्थों में नाटक हो पाता है। भारतेन्दु का काल भारतीय नवजागरण का प्रथम चरण है। इस काल में समाजसुधार एवं राष्ट्रीयता की भावना साहित्य में प्रवेश पाने लगी थी। हमें देखना है कि यह नाटक रंगमंच पर बारम्बार क्यों खेला जाता है। रंगमंच की दृष्टि से इस नाटक पर विचार करने पर नये तथ्य हमारे सामने आएँगे। रंगमंच नाटक की सही जगह है। जहाँ रंगमंच सक्रिय नहीं होता वहाँ नाटक का विकास नहीं हो पाता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने बनारस के नेशनल थिएटर की माँग पर एक ही बैठक में इस नाटक की रचना कर डाली थी। भारतेन्दु कर्मठ, उत्साही एवं एक ज़िंदादिल इंसान थे। वे रंगकर्म से जुड़े हुए नाटककार थे। उन्होंने अपने समकालीन लेखकों को भी नाटक की रचना एवं प्रदर्शन में भाग लेने के लिए प्रेरित किया। डॉ॰ सत्येन्द्र

कुमार तनेजा ने ठीक ही लिखा है – "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से अनुप्रेरित होकर इस युग के नाटककार के लिए नाटक एक ऐसा मंच बन गया था जिसके माध्यम से मनोरंजन से कहीं बढ़कर परिवर्तन सुधार तथा नवजागरण लाया जा सके।" भारतेन्दु ने 'नाटक' शीर्षक निबन्ध में नाट्य सम्बन्धी भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धान्तों की विवेचना करते हुए शास्त्रीय बन्धनों को शिथिल करने की बात पर बल दिया है, ताकि समकालीन यथार्थ के साथ न्याय किया जा सके। वे बांग्ला, अंग्रेजी और लोक रंगमंच से परिचित थे। व्यावसायिक पारसी रंगमंच के गुण्दोषों से भी वे भिज्ञ थे। पारसी रंगमंच का प्रभाव भी उन पर है। वे निर्देशन और अभिनय भी करते थे। वे हिन्दी रंगमंच की स्थापना और विकास के लिए प्रयत्नशील थे। इसे वे समाज और देश की सेवा के रूप में देखते थे। हम आगामी उपशीर्षकों में देखेंगे कि किन रंगशैलियों और युक्तियों से 'अन्धेर नगरी' की मंचीयता को साधा जा सकता है।

3.3.2. भारतेन्दु युग में हिन्दी नाटक

हिन्दी के प्रथम नाटक के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। शोधग्रन्थों में इस सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा गया है। इस बारे में सभी एक मत हैं कि हिन्दी में नाटक के उदय एवं विकास की प्रक्रिया भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एवं उनके समकालीन साहित्यकारों द्वारा प्रारम्भ की गई। हिन्दी नाटक के विकास की निम्नलिखित तीन अवस्थाएँ मानी जाती हैं, जिन्हें 'युगों' की संज्ञा दी जा सकती है– (i) भारतेन्दु युग (सन् 1850 से 1900 ई.), (ii) प्रसाद युग (सन् 1901 से 1936 ई.) और (iii) प्रसादोत्तर युग (सन् 1937 से अब तक)।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भारतेन्दु युग के प्रकाश-स्तम्भ थे। यह युग राष्ट्रीय भावना के उदय एवं सामाजिक एवं धार्मिक जागरूकता का युग है। शासक वर्ग के माध्यम से आयी हुई पाश्चात्य सभ्यता की आँधी से बचने का प्रयास तो है ही, लेकिन इस आँधी में निहित पुनर्जागरण के पोषक तत्त्वों से लाभान्वित होने की ईमानदारी भरी कोशिश भी है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र संस्कृत, बांग्ला और शेक्सपियर के नाटकों के आधार पर हिन्दी नाटक और रंगमंच की परम्परा का सूत्रपात करने में गहरी रुचि रखनेवाले कृती साहित्यकार थे। उन्होंने नाटक लिखकर ही संतोष नहीं कर लिया, उनके मंचन की व्यवस्था की, अभिनेता बनकर स्वयं मंच पर उतरे। उस समय ज़रूरत इस बात की थी कि हिन्दी क्षेत्र में प्रचलित लोक-रंगमंच का सार्थक उपयोग कर एक नयी नाट्य-परम्परा की दाग बेल डाली जाए। इस चुनौती को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वीकार किया और उनका 'अन्धेर नगरी' नाटक एक नयी दिशा का संकेत बन गया। लेकिन इस दिशा में आगे जाने की कोशिश फिर नहीं हुई। लोक-नाट्य की उर्वर भूमि का उपयोग कर तत्कालीन पारसी रंगमंच के समानान्तर एक नया रंग आन्दोलन खड़ा किया जा सकता था, लेकिन ऐसा न हो सका। दर्शकों में लोकप्रिय पारसी रंगमंच की व्यावसायिकता से समझौता न करने की बात तो उचित मानी जा सकती है, लेकिन उसकी शैली में सुधार परिष्कार कर उसके माध्यम से अपनी बात दर्शकों तक पहुँचाने का प्रयास भी न किया जाना हिन्दी नाट्य-लेखन के लिए दुर्भाग्यपूर्ण रहा। इसलिए नाट्य-लेखन के और रंगमंच के बीच कोई सम्पर्क-सूत्र ही न रह गया। नाटक संवादात्मक उपन्यास बन गए।

भारतेन्दु के समकालीन नाटककारों में प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवास दास, राधाचरण गोस्वामी, राधा कृष्णदास एवं अम्बिकादत्त व्यास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके नाटकों की सूची यहाँ

उद्‌धृत करना अनावश्यक है। भारतेन्दु के नाटकों में पर्याप्त विविधता है। आकार में बड़े न होने के कारण सीमित समय में उनका मंचन हो सकता है। उनके नाटकों का उद्देश्य मनोरंजन और शिक्षा प्रदान करना है। भारतेन्दु ने अपने नाटकों के लिए लोकरंग प्रणाली से बहुत कुछ ग्रहण किया है। इसके अतिरिक्त पारसी रंगमंच तथा अमानत-कृत 'इन्दरसभा' का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। सम्भवतः कोई भी नाटककार अपने युग के प्रचलित रंगशिल्प और रंगविधान से अछूता नहीं रह सकता। स्वयं भारतेन्दु भी इसके अपवाद नहीं हैं।

भारतेन्दु ने हिन्दी के लिए एक अभिनव नाट्य-शैली के आविष्कार का महत्त्वपूर्ण कार्य प्रारम्भ किया था, किन्तु उनके बाद वह प्रक्रिया रुक गई। नाट्य-लेखन 'भाषा के रंगमंच' में परिणत हो गया और मनोरंजन की भूखी जनता पारसी रंगमंच की ओर दौड़ती रही। 'इप्टा' और 'पृथ्वी थिएटर्स' ने व्यापक रूप से रंग-आन्दोलन को जिलाने की कोशिश की, किन्तु हिन्दी रंगमंच का वास्तविक पुनरुज्जीवनस्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद ही सम्भव हो सका, जब रंगमंच से प्रतिबद्ध नाटककारों की एक नयी पीढ़ी सामने आई। यह बात नहीं कि भारतेन्दु युग के बाद से स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक के अति दीर्घ कालखण्ड में हिन्दी प्रदेश रंगमंचसम्बन्धी गतिविधियों से रहित हो गया था। शौकिया कलाकारों ने कलकत्ता, काशी, प्रयाग, जबलपुर, आरा, मुजफ्फरपुर, छपरा, लखनऊ, फैजाबाद, कानपुर, बस्ती, मेरठ, आगरा, मथुरा, नागपुर आदि नगरों में अपनी नाट्य-संस्थाओं के माध्यम से धार्मिक पर्वों एवं सामाजिक उत्सवों के उपलक्ष्य में नाट्य-प्रदर्शनों को जारी रखा। भले ही इन प्रयासों को एक सूत्र में गूँथा न जा सका, इसमें सन्देह नहीं कि इन प्रदर्शनों ने हिन्दी प्रदेश की रंग-चेतना को जिलाए रखा जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद दुगुने जोश से प्रस्फुटित हुई।

3.3.3. भारतेन्दु युग और रंगमंच

डॉ॰ सत्येन्द्र कुमार तनेजा ने भारतेन्दु युग के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी की है – "निस्संदेह यह मानना पड़ेगा कि हिन्दी नाटक साहित्य के इतिहास में भारतेन्दु युग एक ऐसा अपवाद काल है, जिसमें नाटककार और रंगकर्मी नाटक और रंगमंच के इतने सीधे और गहरेसम्बन्ध रहे हो। इस तरह की संतुलित समन्वित दृष्टि बाद में कभी नहीं मिली।"

भारतेन्दु युग में नये शासक, नयी शासन प्रणाली, नये संचार साधन, नयी शिक्षा-दीक्षा, विभिन्न सुधारवादी शक्तियाँ तथा पुनर्जागरण की चेतना ने एक विचार-मंथन को जन्म दिया। फलस्वरूप भारत मध्ययुगीन जड़ता एवं गतानुगतिकता से उबरने का प्रयास करने लगा। इस युग की नाट्य-चेतना को समझने के लिए इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि साहित्य की सामाजिक प्रासंगिकता महत्त्वपूर्ण हो गई। साहित्यकार सामूहिक जागरण के प्रति प्रतिबद्ध हो उठा। नाटक का उद्देश्य केवल मनोरंजन न होकर जनजीवन में परिवर्तन प्रक्रिया से जुड़ना माना गया। सन् 1871 में श्रीनिवासदास के 'रणधीर प्रेममोहिनी' नाटक के प्रथम प्रदर्शन के अवसर पर लिखित प्रस्तावना में भारतेन्दु ने इसी बात पर जोर दिया है – "सचमुच नाटक के प्रचार से इस भूमि का बहुत कुछ भला हो सकता है … दिल्लगी से इन लोगों को जैसी शिक्षा दी जा सकती है वैसी और तरह से नहीं।" अपने 'नाटक' शीर्षक निबन्ध में नाटक विरोधियों से अपील करते हैं – "हे नाटक विरोधी मानवगण ! आप लोग इस चमत्कारी

कार्य में क्यों उत्साह नहीं बढ़ाते ... अब यही हमारी प्रार्थना है कि ... जहाँ तक हो सके इसकी उन्नति में प्रयत्न करें जिससे हमारे इस देशवासियों का उपकार हो ।" भारतेन्दु को नाटक के प्रभाव की शक्ति का भलीभाँति बोध था । अन्य साहित्यिक पण्डित बालकृष्ण भट्ट के अनुसार "नाटक में केवल क्षणिक मनोरंजकता ही नहीं किन्तु देशोन्नति अथवा धर्मानन्द विषयक कुछ उपदेश भी होने चाहिए ।" पण्डित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' भारतीय नाटक का उत्कर्ष चाहते हैं । वे सभी से सहयोग की अपील करते हैं कि "सभी बन्धु नाटक की उन्नति की अभिलाषा से बद्ध परिकर हों, इसके उद्योग में प्रवृत्त हों, धनमान लोग इन्हें उत्साह देने में जरा भी जी न चुरावें और ईश्वर इस विद्या में इस देश को फिर से उन्नत कर इस देश की उन्नति करें ।" नाटक के मंचन के लिए धन की आवश्यकता होती है, इसलिए धनिकों से सहयोग की अपील की गई है । किशोरीलाल गोस्वामी नाटक से यथार्थ-चित्रण और सुधार दोनों सम्भव मानते हैं । अपने नाटक 'नाट्य सम्भव' की भूमिका में उनके उद्‌गार हैं – "नाटक से बढ़कर ऐसा दूसरा उपाय नहीं है, जिससे सर्वसाधारण की सामाजिक दशा का वर्तमान चित्र दिखाकर उसका पूरा-पूरा सुधार किया जाए ।" पण्डित अम्बिकादत्त व्यास ने अपने नाटक 'गो-संकट' की प्रस्तावना में नाटक के तीन लक्ष्य माने हैं – क्षणिक मनोरंजन, देशोन्नति और धार्मिक उपदेश । उस समय के प्रसिद्ध प्रहसनकार देवकीनन्दन त्रिपाठी ने भी इस मत का समर्थन किया है । गोपालराम गहमरी के अनुसार समाज में सुधार न हो पाने का कारण नाट्यकला का विस्मरण है। इससे यह सिद्ध होता है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रेरणा से तत्कालीन साहित्यकार नाटक के जरिए परिवर्तन, सुधार तथा नवजागरण लाना चाहते थे। यह नाटक के मंचन से ही सम्भव हो सकता था, इसलिए वे नाट्य-संस्थाओं से जुड़ रहे थे । वे अच्छी तरह जानते थे कि नाटक पढ़ने की नहीं देखने की चीज है, वह दृश्यकाव्य है । इसलिए भारतेन्दु युग का नाटककार एक सक्रिय रंगकर्मी, प्रस्तुतकर्त्ता तथा कुशल अभिनेता भी था । प्रेरणा और दिशा-निर्देश देनेवाले भारतेन्दु थे । हिन्दी नाटक और रंगमंच के लिए सन् 1868 ऐतिहासिक महत्त्व का वर्ष है । भारतेन्दु के पहले नाटक 'विद्यासुन्दर' का प्रकाशन इसी वर्ष हुआ । इसी वर्ष शीतलाप्रसाद त्रिपाठी के नाटक 'जानकीमंगल' का मंचन बनारस थिएटर में हुआ। इसमें भारतेन्दु का अभिनय प्रभावशाली था । वे अपने नाटकों में भी अभिनय करते थे । सन् 1880 में काशीनाथ खत्री का नाटक 'बाल विधवा संताप' भारतेन्दु के निवास-स्थान पर खेला गया । पण्डित अम्बिकादत्त व्यास के नाटक 'गो-संकट' का प्रदर्शन भी इसी प्रकार हुआ।

पण्डित रामनारायण त्रिपाठी ने कानपुर में 'भारतेन्दु मण्डल' का गठन किया । इसके अन्तर्गत सन् 1874 में भारतेन्दु के दो नाटकों 'सत्य हरिश्चन्द्र' तथा 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' का सफल मंचन हुआ। इस मण्डल के उत्साही, निष्ठावान् रंगकर्मी प्रतापनारायण मिश्र थे । भारतेन्दु के तीन नाटक 'नीलदेवी' 'अन्धेर नगरी' और 'भारतदुर्दशा' का क्रमशः सन् 1882 एवं 1885 में मिश्रजी ने सफल मंचन करवाया। सन् 1886 में उन्होंने अपने नाट्यप्रेमी मित्रों के सहयोग से एक नयी संस्था 'श्री भारत मनोरंजिनी' की स्थापना की । इस संस्थान के द्वारा 'कलि प्रवेश', 'हठी हमीर' (प्रतापनारायण मिश्र), 'जयनार सिंह' (पण्डित देवकीनन्दन त्रिपाठी) तथा 'गो-संकट (पण्डित अम्बिकादत्त व्यास) मंचित किए गए। प्रतापनारायण मिश्र 'ब्राह्मण' नामक पत्र में नाट्य-प्रदर्शनों की समीक्षा भी प्रकाशित किया करते थे।

प्रयाग की 'आर्यनाट्य सभा' द्वारा सन् 1871 में श्रीनिवासदास की दुःखान्तिका 'रणधीर प्रेममोहिनी' का मंचन किया गया। भारतेन्दु इस प्रदर्शन से बहुत उत्साहित हुए थे । इसी संस्था के अन्तर्गत 'जानकीमंगल नाटक' (शीतलाप्रसाद त्रिपाठी), 'जयनार सिंह', 'कलयुगी जनेऊ' (देवकीनन्दन त्रिपाठी), 'कामकन्दला' (लाला शालिग्राम वैश्य) आदि नाटक खेले गए। बालकृष्ण भट्ट के प्रयासों से 'नागरी प्रबद्धिनी सभा' की स्थापना हुई। बाद में इसे 'हिन्दी नाट्य समिति' के रूप में पुनर्गठित किया गया। भट्ट सक्रिय रंगकर्मी थे।

बिहार में रंग आन्दोलन का प्रवर्तन भारतेन्दु के सहयोगी मित्र पण्डित केशवराम भट्ट ने किया। वे 'बिहार बन्धु' पत्र के सम्पादक थे । उन्होंने सन् 1876 में 'पटना नाटक मण्डली' की स्थापना की । उनके दो नाटक 'शमशाद सौसन' तथा 'सज्जाद सबुल' बिहारबन्धु प्रेस के अस्थायी मंच पर खेले गए। भारतेन्दु युग के साहित्यकारों के आदर्श एवं प्रेरणा-स्रोत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे। भारतेन्दु युग में नाटक और रंगमंच के विकास के लिए बहुविध प्रयास किए गए। इसीलिए हिन्दी नाटक और रंगमंच के विकास की दिशा में भारतेन्दु युग एक महत्त्वपूर्ण चरण है।

3.3.4. भारतेन्दु और रंगमंच

भारतेन्दु नाटक, रंगमंच और रंगकर्म में पूरी तरह से डूबे हुए थे। उनसे प्रेरित होकर समकालीन लेखक भी उनकी राह पर चल रहे थे । प्रतिभाशाली होने के साथ-साथ उनमें दूसरों से सीखने की गहरी रुचि थी । बांग्ला साहित्य पर पश्चिमी प्रभाव पहले पड़ा । हिन्दी नाट्य-जगत् को बांग्ला नाटक ने सर्वाधिक अनुप्रेरित तथा अनुप्राणित किया। हिन्दी में बांग्ला नाटक से सबसे पहले भारतेन्दु ने प्रेरणा ली। अपनी जगन्नाथ-यात्रा के दौरान एवं बाद में कलकत्ता प्रवास में भारतेन्दु ने रंगमंच की गतिविधियों से स्वयं को अवगत किया। सुरुचि-सम्पन्न बंग महिला माधवी उनकी प्रेमिका थी। उसके साहचर्य से वे बांग्ला साहित्य से आजीवन जुड़े रहे। बांग्ला रंगमंच के प्रभाव को ग्रहण करते हुए उन्होंने 'विद्यासुन्दर' का छायानुवाद किया। शेक्सपियर के 'मर्चेन्ट ऑफ वेनिस' के भारतीयकरण की प्रेरणा बांग्ला नाटककारों से ही ली। बांग्ला नाटक के माध्यम से उन्होंने सीखा कि भारतीय नाट्यशास्त्र की सभी रूढ़ियों और नियमों का यथावत् पालन ज़रूरी नहीं है। नया नाटक नवीन रंगरूढ़ियों की नींव डाल रहा था। भारतेन्दु ने इस प्रवृत्ति को अपनाया।

परम्परित लोक-नाट्य से भी भारतेन्दु ने प्रेरणा ली । लोकनाट्य का रंगविधान शास्त्रीय चौखट से मुक्त स्वच्छन्द होता है। रामलीला, रासलीला, अंकिया, जात्रा, यक्षगान, स्वाँग, सांगीत, नौटंकी, तमाशा आदि व्यापक जनसमूह को प्रभावित करनेवाले लोकनाट्य हैं। इनके लचीलेपन से भारतेन्दु प्रभावित हुए। लोकनाट्य में संगीत, नृत्य, लोकधुन, पद्यबद्ध संवाद तथा लावनी, चौबोला, सोरठा, दोहा आदि का प्रयोग होता है। कार्यमूलक संवाद गद्य में होते हैं। आशु संवादों को भी महत्त्व दिया जाता है। बुझावतें, कहावतें, पहेलियाँ, फबतियाँ, हँसी-मजाक, धौल-धप्पे, नकलें सारे प्रदर्शन को खूब मनोरंजक तथा रोचक बना देते हैं। सूत्रधार और विदूषक की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। नृत्य और संगीत के कारण गति-संचार तथा समूह्न पर बल होता है। हाव-भाव और मुद्राओं के अभिनय में अतिव्याप्ति रहती है। दर्शक और अभिनेता, वक्ता और श्रोता में पारस्परिक सौहार्दभाव स्थापित हो

जाता है। अमानत के 'इन्दरसभा' (सन् 1852 ई.) नाटक का भी हिन्दी के परम्पराशील रंगमंच पर प्रभाव पड़ा। रासलीला के ढंग पर लिखे गए इस नाटक पर दरबारी वातावरण का ज्यादा असर है।

एक विशिष्ट व्यावसायिक मनोवृत्ति से परिचालित 'पारसी थिएटर' ने भी हिन्दी नाटक और रंगमंच को प्रभावित किया । इसके प्रस्तुतीकरण में अतिरंजना, अतिनाटकीयता चमत्कार और उत्तेजना के तत्त्व अधिक सक्रिय थे। संवाद में चुलबुलापन लाने के लिए तुकबंदी और शेरोशायरी को अपनाया गया।

लोकजागरण और लोकचेतना की भावना से परिचालित भारतेन्दु ने लोकधर्मी चेतना को अपनी नाट्य सृष्टि का आधार बनाया । उनके नाटकों में जो खुलापन, ताज़गी और जीवन्तता मिलती है, उसका कारण यही लोकधर्मिता है। भारतेन्दु युग के नाटककारों ने 'इन्दरसभा' और 'पारसी थिएटर' को निम्नस्तरीय मानकर उनकी भर्त्सना की, लेकिन अपने नाटकों में उन्हीं की रंगविधियों और रंगरूढ़ियों को अपनाया। कोई भी नाटककार अपने युग के प्रचलित रंगशिल्प और रंगविधान से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। भारतेन्दु पर भी यह प्रभाव है । 'नीलदेवी' में 'इन्दरसभा' और 'पारसी थिएटर' का असर दिखाई देता है। उदाहरणार्थ दसवें दृश्य का यह संवाद – "तुम्हारा गाना सुनने को मेरा इश्तियाक हर लहजे बढ़ता जाता है। जैसी तुम खूबसूरत हो, वैसा ही तुम्हारा गाना भी खूबसूरत होगा।" 'अन्धेर नगरी' के घासीराम, नारंगीवाला, हलवाई, पाचकवाला, मछलीवाला के पद्यबद्ध संवादों में पारसी शैली का असर दिखाई पड़ता है। 'सतीप्रताप' का आरम्भ 'इन्दरसभा' की शैली में तीन अप्सराओं के राग झिंझोटी, राग पीलू, रागिनी बहार में तीन गीतों में हुआ है । 'चन्द्रावली' में प्रेमाभिव्यक्ति के लिए पारसी रंगशैली की चुहल, चंचल तथा चुटीली भाषा-शैली का सफल प्रयोग किया गया है।

रंगमंच से निरन्तर जुड़े भारतेन्दु ने बनारस में 'नेशनल थिएटर' की स्थापना की। बनारस थिएटर में खेले गए 'जानकीमंगल' नाटक में उन्होंने अभिनय किया। 'नीलदेवी' में पागल की भूमिका निभायी। बलिया में 'सत्य हरिश्चन्द्र' में हरिश्चन्द्र के अभिनय से दर्शक-समूह की भूरि-भूरि प्रशंसा प्राप्त की। बांग्ला नाटक और रंगमंच से उन्होंने बहुत कुछ सीखा। इस प्रकार तत्कालीन रंगविधियों से प्रेरणा लेकर भारतेन्दु ने हिन्दी रंगमंच की नींव रखी। उनसे प्रेरित समकालीन लेखक भी उन्हीं के चरणचिह्नों पर चले। इस परम्परा को प्रसाद युग के नाटककार आगे नहीं बढ़ा सके और रंगमंच से कटकर नाटक केवल पाठ्य होकर रह गए।

3.3.5. रंगमंच की दृष्टि से 'अन्धेर नगरी'

'अन्धेर नगरी' भारतेन्दु का लोकप्रिय प्रहसन है । इसमें लेखक ने विभिन्न रंगतत्त्वों के बीच सामंजस्य और संतुलन स्थापित किया है। प्रहसन का आलेख बहुत लचीला होता है और फिर भारतेन्दु का झुकाव लोकधर्मी चेतना की ओर अधिक रहता था, इसलिए 'अन्धेर नगरी' की संरचना में खुलापन और ताज़गी है। इस नाटक की अर्थवत्ता की जाँच विभिन्न कोणों से की जा सकती है। एक नजरिए से हमें लगता है कि इसमें कर्मफल का प्रतिपादन है। महन्त अपने दो शिष्यों के साथ 'अन्धेर नगरी' की अर्थव्यवस्था को देखता है। यहाँ के नाप-तोल में खाजा और भाजी बराबर है। हर माल टके सेर का नियम है। चौपट राजा विवेक और न्यायदृष्टि से रहित

है। अन्धे न्याय के कारण ही बकरी की मृत्यु के लिए दण्डित करने के लिए गोबरधनदास को पकड़ा जाता है, जिसका घटना से कोई सम्बन्ध नहीं। महन्त में नीति, कौशल और विवेक जैसे गुण हैं। यह राजा का विलोम है। महन्त के इन गुणों के कारण राजा को अपने आचरण का दण्ड भुगतना पड़ता है। अविवेकी और प्रमादी राजा अपनी मृत्यु स्वयं आमन्त्रित करता है। गोबरधनदास लोभ वृत्ति से परिचालित हो अपने गुरु की नेक सलाह की उपेक्षा कर स्वयं को संकट में फँसा लेता है। प्रलोभनकारी नगरी में रुक जाने का दण्ड उसे मिला। दृष्टान्त के माध्यम से भारतेन्दु ने अविवेकी राजा और लोभी शिष्य के दुष्परिणाम दिखाए हैं । दूसरे नजरिए से देखें तो नाटक का उद्देश्य अराजक व्यवस्था का पर्दाफाश करना है। प्रहसन के माध्यम से लेखक ने अपने समय की शासन-व्यवस्था की तीखी आलोचना की है। जैसे बाजार में सब वस्तुओं के दाम एक हैं, उसी प्रकार अंग्रेजों की न्याय-प्रणाली में अपराधी और निर्दोष में कोई अन्तर नहीं है। सत्ता के इसी चरित्र के कारण यह प्रहसन आज भी प्रासंगिक है।

इस प्रहसन में कुल छह दृश्य हैं। पहले दृश्य में अपने दोनों शिष्यों के साथ महन्त का अन्धेर नगरी में प्रवेश दिखाया गया है। दूसरे दृश्य में बाजार के माध्यम से इस नगरी की खूबियों की झाँकी दिखाई गई है। विभिन्न विक्रेताओं के पद्यबद्ध संवादों से नगरी के रहन-सहन से दर्शकों को परिचित कराते हैं। यहीं पर गोबरधनदास इस नगरी की सस्ताई से प्रभावित हो, इसके मोह में पड़ जाता है। सस्ताई का अर्थ 'मूल्यहीनता' लेना उचित होगा। तीसरे दृश्य में महन्त इस नगरी की मूल्यहीनता और अव्यवस्था को समझ कर गोबरधनदास को आगाह करते हैं किन्तु वह नगरी के मोह से मुक्त न हो पाया और वे अपने शिष्य नारायणदास के साथ वहाँ से चल देते हैं। चौथा दृश्य राजसभा का है। एक फर्यादी राजा के सम्मुख न्याय के लिए उपस्थित है। कल्लू बनिए की दीवार गिरने से उसकी बकरी दब कर मर गई है। राजा के पास अन्ध न्यायदृष्टि है फलस्वरूप इस अपराध का दण्ड कोतवाल को मिला। पाँचवे दृश्य में सस्ती वस्तुओं के जाल में फँसे गोबरधनदास को राजा के प्यादे पकड़ लेते हैं, क्योंकि फाँसी का फंदा उसकी मोटी गर्दन में ठीक से बैठेगा। वह घबड़ा कर अपने गुरु को याद करता है। छठे दृश्य में महन्त आ जाते हैं। वे युक्ति से काम लेते हैं। वे घोषित करते हैं कि इस समय जो फाँसी चढ़ेगा वह सीधे स्वर्ग जाएगा। अब हर उपस्थित व्यक्ति मृत्यु का आलिंगन करने के लिए आतुर हो उठा। राजा ने स्वयं को वरीयता दी और फाँसी के फंदे पर चढ़ गया। गोबरधनदास के प्राण बचे। सारा दृश्यविधान उत्तरोत्तर चरम बिन्दु की ओर अग्रसर होता दिखाई देता है। प्रहसन का दूसरा और चौथा दृश्य महत्त्वपूर्ण है। इस नगरी की अन्ध-व्यवस्था और मूल्यहीनता का परिचय इन्हीं से मिलता है। पाँचवे दृश्य से द्वन्द्व की स्थिति प्रारम्भ होती है। कोतवाल के स्थान पर गोबरधनदास को फाँसी पर चढ़ाने के लिए पकड़ लिया जाता है। विरोधी जीवन-दृष्टियों के बीच संघर्ष दर्शाया गया है। राजा अविवेकी है, शिष्य लोभी किन्तु महन्त में विवेक और संयम दोनों हैं। अन्त में इन्हीं गुणों की जीत होती है और अविवेक फाँसी पर चढ़कर समाप्त हो जाता है।

डॉ॰ सत्येन्द्र कुमार तनेजा ने इस प्रहसन के रूपबन्ध और दृश्य-विधान को तोल-काँटा के चिह्न से रूपायित करने का सुझाव दिया है। 'भाजी' अल्पमूल्य और 'खाजा' बहुमूल्य का प्रतीक है, लेकिन अन्धेर नगरी में दोनों में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि यह नगरी मूल्यहीनता का प्रतीक है। पहले दृश्य में तीनों पात्र महन्त और

उनके दोनों शिष्य, बायीं ओर से मंच के अगले हिस्से में प्रवेश करेंगे। वे गाते हुए धीरे-धीरे मंच के मध्य भाग में पहुँचेंगे। यहीं तीनों अपने गद्य-संवाद बोलेगें। अन्त में महन्त आगे और पीछे-पीछे उनके दोनों शिष्य दायीं ओर से प्रस्थान करेंगे। दूसरा दृश्य बाजार का है, जिससे नगर की अर्थव्यवस्था की जानकारी मिलती है। कबाबवाला, नारंगीवाली, हलवाई, कुँजड़िन, मुगल, मछलीवाली, जातवाला और बनिया निर्धारित स्थान पर बैठेंगे। चनेवाला और चूरनवाला फेरी लगाते हुए मंच के दायें बायें घूमेंगे। गोबरधनदास की बातचीत बनिया और हलवाई से होती है, इसलिए इन दोनों को मंच के बीच में आगेवाले धरातलों पर बैठाना चाहिए, ताकि दर्शकों की ओर पीठ न रहे। तीसरे दृश्य में भी यह बाजार पूर्ववत् रहेगा लेकिन चनेवाला और चूरनवाला फेरी नहीं लगाएँगे। प्रत्येक दूकानदार अपने बोल बोल रहा होगा। गोबरधनदास हलवाई से मिठाई लेकर बाजार में से घूमता-फिरता, दूकानदारों के निकट गाता हुआ मंच के आगे के हिस्से में पहुँचेगा। ठीक उसी समय दायीं ओर से वहाँ महन्त और नारायणदास आएँगे। इन तीनों के बीच वार्तालाप शुरू होते ही दूकानदारों के बोल क्रमशः मंद हो जाएँगे और वे मूकाभिनय करेंगें। राजसभा वाले चौथे दृश्य में कल्लू से लेकर कुल सात पात्रों को आना है। पहला प्यादा बायीं ओर से उन्हें क्रमशः लाएगा और दूसरा प्यादा दायीं ओर से उन्हें क्रमशः छोड़ेगा। यह क्रिया राजा के आदेश पर होगी। पाँचवे दृश्य में फिर से बाजार रखा जा सकता है। गोबरधनदास मस्ती में गाता हुआ गुजर रहा है। चार प्यादे उसका पीछा कर रहे हैं और मूकाभिनय द्वारा उसकी गरदन की परख भी कर रहे हैं। गोबरधन का गायन खत्म होते ही प्यादे उसे पकड़ लेते हैं। उनके अगले संवाद मंच के बीच में होगें। छठे दृश्य में गोबरधन और सिपाही बायीं ओर से तथा महन्त, नारायणदास और बाद में राजा, मंत्री, कोतवाल दायीं ओर से प्रवेश करेंगे।

फाँसी दिखाने के दो तरीके हो सकते हैं – राजा चौकी पर खड़ा हो और उस पर काला कपड़ा डाल दिया जाए या फिर चार प्यादे उसे फाँसी पर चढ़ाने के लिए मंच के बाहर ले जायें। प्रस्तुतीकरण की इस विधि में बाजार को महत्त्वपूर्ण माना गया है जो शोषण-तन्त्र का प्रतीक है। इस प्रहसन को खाली मंच पर सीधे-सादे ढंग से भी प्रस्तुत किया जा सकता है। बाजार वाले दृश्य में सभी दूकानदार अपनी-अपनी टोकरी लाएँगे। दो-दो की जोड़ी रहेगी। बनिया और हलवाई जरा आगे और प्रमुख रहेंगे। चौथे दृश्य में राजा के लिए एक चौकी चाहिए। छठे दृश्य में दो प्यादे राजा को फाँसी देने के लिए जाएँगे।

भारतेन्दु की रंग-परिकल्पना में लोकधर्मिता को अधिक महत्त्व दिया गया है। अतएव इसे नौटंकी-शैली में भी प्रस्तुत किया जा सकता है। इसके लिए नगाड़ा तथा ढोलक वादक एवं गायक की आवश्यकता होगी। लोकधुनों का प्रयोग भी करना होगा। इसके लिए नाटक के पद्यबद्ध संवादों को लोकधुनों में बाँधना होगा। चौथा दृश्य स्वाँग शैली में है। नौटंकी-शैली में उन्मुक्तता और हास-परिहास पर अधिक जोर रहता है।

भारतेन्दु ने इस प्रहसन की प्रस्तुति में परदे को महत्त्व दिया है, जो उनके द्वारा दिए गए निम्नलिखित रंग-निर्देशों से स्पष्ट हो जाता है – प्रथम दृश्य : स्थान – बाह्य प्रान्त, दूसरा दृश्य : स्थान – बाजार, तीसरा दृश्य : स्थान – जंगल, चौथा दृश्य : स्थान – राजसभा, पाँचवाँ दृश्य : स्थान – अरण्य, छठा दृश्य : स्थान – श्मशान। इस प्रहसन के सभी रंग व्यापार विशेष रूप से तैयार किये गए एक परदे के आगे किए जा सकते हैं।

इस प्रहसन को मंचित करने के लिए महन्त, गोबरधनदास, राजा और मंत्री के अतिरिक्त सात पुरुष और तीन महिला पात्रों की आवश्यकता होगी। इसके लिए अभिनेताओं को दुहरी भूमिकाएँ देनी होंगी। पहले दृश्य का नारायणदास दूसरे दृश्य में किसी दूकानदार की भूमिका कर सकता है। दूसरे दृश्य में तीन महिला और सात पुरुष पात्र बाजार के विभिन्न दूकानदार हैं। चौथे दृश्य में राजा और मंत्री अतिरिक्त सात अन्य पुरुष पात्रों की भूमिकाएँ हैं। बाजार वाले सात पुरुष चौथे दृश्य में नयी भूमिकाएँ भी निभा सकते हैं। पाँचवे दृश्य के चार प्यादे भी इसी में से लिए जा सकते हैं जो छठे दृश्य में भी यही अभिनय करेंगे।

'अन्धेर नगरी' का रूप-विधान रूढ़ियों से मुक्त है। भुवनेश्वर के 'ताँबे के कीड़े' को हिन्दी के प्रथम एब्सर्ड (असंगत) नाटक होने का श्रेय दिया जाता है। भारतेन्दु के इस नाटक में भी 'एब्सर्ड' के तत्त्व दिखाई देते हैं। इसमें असम्बद्ध स्थितियाँ हैं। देखा जाए तो बाजार, राजसभा, श्मशान के दृश्यों में और पात्रों में कोई सम्बन्ध नहीं है। दृश्यों में क्रमबद्धता का अभाव है। पात्रों की बातचीत बेतुकी है। अन्धेर नगरी और उसमें होने वाले सारे कार्य सनक भरे लगते हैं। इसमें शास्त्रीय नाट्यरूढ़ियों का पालन नहीं है। विभिन्न निर्देशकों ने इसकी प्रासंगिकता को ध्यान में रखते हुए इसे विभिन्न शैलियों में प्रस्तुत किया है। प्रयोगात्मक और नौटंकी शैली के अलावा सन् 1978 में ब.ब. कारंत ने इसे यक्षगान शैली में प्रस्तुत किया। मंचन की अमित सम्भावनाओं के कारण ही यह सम्भव हो पाया है।

3.3.6. पाठ-सार

भारतेन्दु युग प्राचीन और नवीन के द्वन्द्व का साक्षात्कार करनेवाला युग है। सन् 1857 के विद्रोह के बाद देश का शासन ईस्ट इंडिया कंपनी से छिनकर ब्रिटेन की महारानी और ब्रिटिश संसद के हाथों में चला गया। इस युग ने पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क से शिक्षा, यातायात, शासन-व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों के साथ ही उपनिवेशवादियों की धूर्तताभरी शोषणनीति को भी महसूस किया। भारतेन्दु ने इसे 'भीतर-भीतर सब रस चूसैं' और 'पै धन विदेश चलि जात यहै है ख्वारी' कहकर व्यक्त किया। यहाँ का कच्चा माल इंग्लैंड, यूरोप में ले जाकर उत्पादों के रूप में मुनाफा कमाने के लिए फिर यहाँ भेजा जाता।

साहित्य के द्वारा सामाजिक परिवर्तन में योगदान का सत्य भारतेन्दु-युग के साहित्यकारों पर उजागर हुआ। पाश्चात्य नाटक बांग्ला नाटक को प्रभावित कर चुका था। बांग्ला नाटक और रंगमंचसे परिचित हो भारतेन्दु ने भी नाट्य-रचना का उद्देश्य मनोरंजन द्वारा शिक्षा निर्धारित किया। वे गम्भीरतापूर्वक रंगकर्म से जुड़े और अपने समकालीन लेखकों को अपनी राह पर चलने के लिए प्रेरित किया। भारतेन्दु नाट्य-लेखन तक ही सीमित न होकर अभिनेता और निर्देशक की भूमिकाओं में भी उतरे। उन्होंने बनारस में नेशनल थिएटर की स्थापना की। उनके सहयोगियों ने भी नाट्य-संगठनों की स्थापना एवं नाटकों के मंचन में गहरी रुचि ली। उनमें यह हीनभाव नहीं था कि हम पिछड़े हुए हैं, हमारा रंगमंच कैसे विकसित होगा।

जो रंगमंच से जुड़ा हो उसे समकालीन मंचनसम्बन्धी तकनीक का भलीभाँति ज्ञान होना स्वाभाविक है। 'अन्धेर नगरी' की प्रासंगिकता ही नहीं उसकी मंचीयता भी रंगकर्मियों को आकर्षित करती रही है। इसीलिए भारतेन्दु युग से लेकर अब तक उसके कई प्रदर्शन हो चुके हैं। भारतेन्दु ने प्रत्येक दृश्य के सम्बन्ध में जो रंग-निर्देश दिए हैं, उनसे स्पष्ट है कि वे चित्रित परदे के समक्ष इसके खेले जाने का संकेत कर रहे हैं। पारसी रंगमंच में दृश्य परिवर्तन के लिए इसी प्रकार परदों का प्रयोग किया जाता था, जिन्हें आवश्यकतानुसार उठाया-गिराया जाता था। इसे नौटंकी शैली और यक्षगान शैली में भी खेला गया है। नुक्कड़ नाटक बिना किसी ताम-झाम के सड़क के किनारे या महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के परिसर में खेले जाते हैं। भारतेन्दु का यह प्रहसन लोकधर्मी उन्मुक्तता के कारण नुक्कड़ नाटक के रूप में खेले जाने के लिए सर्वथा उपयुक्त है।

नाटक में पात्रों की संख्या अधिक होने पर उतने अभिनेताओं को एकत्र कर पाना एक समस्या होती है। इसे हल करने के लिए अभिनेताओं को एक से अधिक भूमिकाओं में उतारा जा सकता है। 'अन्धेर नगरी' में भी यह तरीका अपनाया जा सकता है। इस प्रहसन को मंचित करने के लिए महन्त, गोबरधनदास, राजा और मंत्री के अतिरिक्त सात पुरुष और तीन महिला पात्रों से काम चलाया जा सकता है। भुवनेश्वर लिखित 'ताँबे के कीड़े' नाटक को हिन्दी का प्रथम असंगत (एब्सर्ड) नाटक माना जाता है। 'अन्धेर नगरी' में असम्बद्ध स्थितियाँ हैं। देखा जाए तो बाजार, राजसभा, श्मशान के दृश्यों और पात्रों में कोई सम्बन्ध नहीं है। दृश्यों में क्रमबद्धता का अभाव है। पात्रों की बातचीत बेतुकी है। नाटक के सारे कार्य सनकभरे लगते हैं। इस प्रहसन में असंगत नाटक की सारी विशेषताएँ मौजूद हैं। इसका विभिन्न रंग-शैलियों में खेला जाना इसकी जीवन्त मंचीयता का प्रमाण है।

3.3.7. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. भारतेन्दु युग कालखण्ड कब से कब तक था ?

(क) सन् 1901 – 1936 ई.

(ख) सन् 1850 – 1900 ई.

(ग) सन् 1857 – 1905 ई.

(घ) सन् 1858 – 2000 ई.

2. इनमें से कौनसा कथन सत्य है ?

(क) भारतेन्दु नाटककार थे

(ख) भारतेन्दु अभिनेता थे

(ग) भारतेन्दु थिएटर के मालिक थे

(घ) भारतेन्दु नाटककार, निर्देशक और अभिनेता थे

3. "हे नाटक विरोधी मानवगण ! आप लोग इस चमत्कार कार्य में क्यों उत्साह नहीं बढ़ाते ..." – यह किसका कथन है ?

(क) बालकृष्ण भट्ट
(ख) बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन'
(ग) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
(घ) श्रीनिवासदास

4. 'आर्य नाट्य सभा' कहाँ की संस्था थी ?

(क) प्रयाग
(ख) बनारस
(ग) दिल्ली
(घ) कानपुर

5. 'अन्धेर नगरी' किस प्रकार का नाटक है ?

(क) एकालय
(ख) प्रहसन
(ग) गीतिनाट्य
(घ) नौटंकी

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. भारतेन्दु युग में नाटक की स्थिति पर प्रकाश डालिए।
2. 'अन्धेर नगरी' के बाजार के दृश्य की विशिष्टता निरूपित कीजिए।
3. 'अन्धेर नगरी' के महन्त और उनके शिष्य गोबरधनदास के चरित्रों की तुलना कीजिए।
4. भारतेन्दु के नाट्य-साहित्य के लोकधर्मी तत्त्वों पर प्रकाश डालिए।
5. "अन्धेर नगरी' का नाट्य-शिल्प लचीला है।" – इस कथन की विवेचना कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "हिन्दी नाटक और रंगमंच की आधारशिला रखने का श्रेय भारतेन्दु को जाता है।" – इस कथन की विवेचना कीजिए।
2. रंगमंच की दृष्टि से 'अन्धेर नगरी' नाटक की समीक्षा कीजिए।
3. "भारतेन्दु की नाट्य-रचना का सूत्र था – मनोरंजन द्वारा शिक्षा" – 'अन्धेर नगरी' के सन्दर्भ में इस सूत्र की परीक्षा कीजिए।

4. 'अन्धेर नगरी' में लोकनाट्य और पारसी रंगमंच के प्रभाव का मूल्यांकन कीजिए।
5. नाट्य-निर्देशकों के 'अन्धेर नगरी' के प्रति तीव्र आकर्षण की कारण-मीमांसा प्रस्तुत कीजिए।

3.3.8. कठिन शब्दावली

पोषक	:	सहायक
विचार मंथन	:	चर्चा-परिचर्चा
अनुप्रेरित	:	प्रेरणा देना
अतिरंजना	:	स्वाभाविकता से दूर

3.3.9. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. तनेजा, सत्येन्द्रकुमार (1976). नाटककार भारतेन्दु की रंग-परिकल्पना. दिल्ली : भारती भाषा प्रकाशन.
2. तिवारी, गोपीनाथ (1971). भारतेन्दु के नाटकों का शास्त्रीय अनुशीलन. दिल्ली : राजकमल प्रकाशन.
3. रघुवंश (1961). नाट्यकला. दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस.
4. रस्तोगी, गिरीश. हिन्दी नाटक का आत्मसंघर्ष. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन.

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 3 : अन्धेर नगरी

इकाई – 4 : 'अन्धेर नगरी' का भाषा-शिल्प

इकाई की रूपरेखा

3.4.00. उद्देश्य कथन
3.4.01. प्रस्तावना
3.4.02. नाटकों में भाषा-प्रयोग
3.4.03. हिन्दी नाटकों की भाषा
3.4.04. भारतेन्दु के नाटकों की भाषा
3.4.05. 'अन्धेर नगरी' की संवाद-योजना
3.4.06. 'अन्धेर नगरी' का भाषा-शिल्प
3.4.07. पाठ-सार
3.4.08. बोध प्रश्न
3.4.09. कठिन शब्दावली
3.4.10. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

3.4.00. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. नाटकों में भाषा का प्रयोग और हिन्दी नाटकों की भाषा के क्रमिक विकास को जान पाएँगे।
ii. 'अन्धेर नगरी' की संवाद योजना एवं पद्यबद्ध संवादों की समीक्षा कर सकेंगे।
iii. 'अन्धेर नगरी' नाटक के भाषा-शिल्प के वैशिष्ट्य की चर्चा कर सकेंगे।

3.4.01. प्रस्तावना

पिछली इकाई में हमने भारतेन्दु-युग में हिन्दी नाटक और रंगमंच के उदय की परिस्थितियों पर विचार किया। सन् 1857 के विद्रोह के बाद अंग्रेजीराज दृढ़ हो जाने के बाद अपने समाज और देश पर चिन्तन प्रारम्भ हुआ। जर्जर रूढ़ियों से मुक्ति की भावना जागी और नाटक तथा रंगमंच के माध्यम से समाज-सुधार का लक्ष्य निर्धारित किया गया। भारतेन्दु नाटक-लेखन तक ही सीमित न रहकर रंगकर्म के प्रति पूर्णतः प्रतिबद्ध थे। उन्होंने निर्देशक और अभिनेता के रूप में भी योगदान किया। उन्हें रंगमंच कला की पूरी जानकारी थी। बांग्ला नाटक और रंगमंच से उन्होंने बहुत कुछ सीखा और अपनी उर्वरा प्रतिभा के बल पर हिन्दी नाटक और रंगमंच की नींव डाली। रंगमंच की दृष्टि से हम 'अन्धेर नगरी' की अमित क्षमताओं तथा सम्भावनाओं पर विचार कर चुके हैं। प्रस्तुत इकाई में हम 'अन्धेर नगरी' के भाषा-शिल्प के बारे में जानेंगे।

भाषा शब्दों से बनती है । भाषारूपी वरदान के बल पर मनुष्य स्वयं को अन्य प्राणियों से अधिक शक्तिशाली सिद्ध करता है । संगीत ध्वनियों और सुरों के माध्यम से, चित्रकला रेखाओं और रंगों के माध्यम से तथा मूर्तिकला हथौड़ी, छेनी और प्रस्तर-खण्ड के माध्यम से अस्तित्ववान् होती है, उसी प्रकार साहित्य शब्दों के माध्यम से साकार होता है । साहित्य के गद्य-पद्य दोनों रूपों में भाषा का अभूतपूर्व महत्त्व है । काव्य में सार्थक शब्दों के चुनाव द्वारा कवि अपनी अनुभूतियों को प्रकट करता है । प्रसंग के अनुरूप कवि कठोर एवं कोमल ध्वनियों वाले शब्दों का प्रयोग करता है । युगीन परिस्थितियाँ एवं कवि-व्यक्तित्व भाषा को निर्मित करते हैं । नाटक में इंगित और हाव-भाव के अतिरिक्त भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है । भाषा, स्थान, काल, पात्र के अनुरूप होती है । पात्रों की भाषा को संवाद कहते हैं । संवादों का ध्यान से अध्ययन करने पर हम 'अन्धेर नगरी' के भाषा-शिल्प को समझ सकेंगे । हमें इस इकाई में 'अन्धेर नगरी' की भाषा की बनावट और उसकी गठन को समझना है । भाषा की सम्पूर्ण बारीकियों को समझे बिना किसी भी नाटक का अध्ययन पूरा नहीं होता।

3.4.02. नाटकों में भाषा-प्रयोग

भारतीय नाट्याचार्यों ने नाटकों की भाषा के सम्बन्ध में निश्चित नियम बनाए थे । उत्तम और मध्यम पुरुषों के संवाद संस्कृत में होने चाहिए। कभी-कभी पटरानी, मंत्री-पत्नी, वेश्याओं तथा पुरुष और स्त्री रूप परिव्राजकों अर्थात् मुनि, बौद्ध, भिक्षु, श्रोत्रिय आदि दम्भरहित पात्रों द्वारा भी संस्कृत का प्रयोग किया जाना चाहिए। बालकों, नपुंसकों, स्त्रियों के लिए प्राकृत का प्रयोग मान्य है । इसी प्रकार दारिद्र्य अथवा ऐश्वर्यादि मोहित उत्तम पुरुष के द्वारा भी प्राकृत भाषा के प्रयोग का विधान है । अत्यन्त नीच, भूतादि के भाषण में पैशाची तथा मागधी भाषा प्रयुक्त होती थी । आचार्यों के अनुसार नीच पात्र के भाषण में शौरसेनी (प्राकृत भाषा) का प्रयोग होना चाहिए । किसी देश विदेश का उल्लेख होने पर अपने-अपने देश की भाषा का प्रयोग करना चाहिए ।

किन्हीं विशेष परिस्थितियों में आचार्यों ने नियमों में ढील देने की उदारता भी दिखाई है । ऐसी दशा में उत्तम पात्र प्राकृत और अधम पात्र संस्कृत में बोल सकता है। नियमों में शिथिलता लाने का उद्देश्य हमारी समझ में आ जाना चाहिए । आचार्य चाहते थे कि पात्रों की बातचीत या कथोपकथन में स्वाभाविकता रहे । हमारे आचार्यों ने बुलानेवाले और बोलनेवाले के औचित्य का ध्यान रखकर कौन पात्र किस पात्र को किस प्रकार सम्बोधित करे, इस पर भी विचार किया है । उत्तम लोग, विद्वान्, ऋषि, ब्रह्मचारी – इन लोगों को 'भगवन्' कहकर बुलाएँ और ब्राह्मण, मंत्री तथा बड़े भाई को 'आर्य्य' कहकर सम्बोधित करें । नटी तथा सूत्रधार आपस में एक दूसरे को 'आर्य्य' तथा 'आर्य्ये' कहें । सारथी रथ पर चढ़े व्यक्ति को 'आयुष्मान्' कहकर सम्बोधित करें । पूज्य लोग शिष्य, पुत्र या छोटे भाई को 'वत्स' या 'तात' कहकर पुकारें । ज्येष्ठ, मध्यम, अधम पात्र स्त्रियों को ठीक उसी तरह सम्बोधित करें जैसे उनके पतियों को । विद्वानों, देवताओं आदि की स्त्रियों को देवर आदि उनके पति के अनुरूप सम्बोधित करें । जैसे ऋषि-पत्नियों, तपस्विनियों या देवियों को 'भगवति' कहें, ब्राह्मणियों या पूज्य स्त्रियों को 'आर्य्ये' कहें । आचार्यों द्वारा इन नियमों में बड़े, छोटे सभी के अनुरूप शिष्टता का पालन किया गया है ।

अब नाटक की भाषा के सम्बन्ध में पाश्चात्य दृष्टि पर विचार करें। पाश्चात्य नाट्यशास्त्र का सर्वप्रथम ग्रन्थ अरस्तू का 'पोयटिक्स' (काव्यशास्त्र) है। ट्रेजैडी (त्रासदी) की परिभाषा देते हुए अरस्तू लिखते हैं – "त्रासदी किसी गम्भीर, स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है। ... अलंकृत भाषा से मेरा अभिप्राय ऐसी भाषा से है जिसमें लय, सामंजस्य और गति का समावेश हो जाता है।" अलंकृत भाषा पर बल देते हुए भी अरस्तू ने आगाह किया है कि अत्यधिक चमत्कार और वागाडम्बर चरित्र और विचार के उभरने में बाधा पैदा कर सकते हैं अतएव भाषा क्षुद्र न होकर सहज स्वाभाविक गुणों से युक्त होनी चाहिए।

अरस्तू ने यह भी कहा है कि प्राचीन कवियों ने अपने पात्रों से नागरिक जीवन की भाषा का प्रयोग करवाया है जबकि हमारे युग के कवियों ने आलंकारिकों की भाषा का। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रारम्भिक अवस्था में स्वाभाविकता को अधिक महत्त्व दिया गया, किन्तु ज्यों-ज्यों बुद्धि का विकास होता गया, भाषा को सजाने की प्रवृत्ति बढ़ती गई। फलस्वरूप वह अलंकृत और अस्वाभाविक होती गई।

3.4.03. हिन्दी नाटकों की भाषा

हिन्दी गद्य की भाषा का निर्माणकाल भारतेन्दु के आर्विभाव के आस-पास 19वीं शताब्दी माना गया है। इसके पूर्व गद्य और पद्य दोनों में ब्रजभाषा का बोलबाला था। डॉ॰ वार्ष्णेय ने आधुनिक युग को गद्य का युग कहा है तथा उसका अंग्रेजी राज्य से घनिष्ठ सम्बन्ध बताया है। इस शताब्दी में गद्य हिन्दी साहित्य का अभिन्न अंग बन गया। खड़ीबोली गद्य के निर्माण में विशेष रूप से अंग्रेजी, उर्दू, संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव शब्दों का सम्मिश्रण हुआ। भारतेन्दु के पूर्व राजा लक्ष्मणसिंह तथा राजा शिवप्रसादसिंह का गद्य प्राप्त होता है। राजा लक्ष्मणसिंह ने संस्कृत मिश्रित खड़ीबोली का प्रयोग किया, जिसका नमूना कालिदास के नाटक 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के उनके द्वारा किए गए अनुवाद (शकुन्तला नाटक) में मिलता है। राजा शिवप्रसादसिंह ने उर्दू प्रधान खड़ीबोली का प्रयोग किया। इसका नमूना हमें उनके द्वारा लिखित 'राजा भोज का सपना' आदि कहानियों में मिलता है। भारतेन्दु ने दोनों के अतिवादी रास्ते को छोड़कर बीच का मार्ग अपनाया। यह भाषा जनरुचि के अनुकूल सिद्ध और मान्य हुई।

हिन्दी नाटकों में प्रादेशिक भाषाओं (ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी) तथा बोलियों के अतिरिक्त संस्कृत के तत्सम शब्दों, यूरोपियन भाषाओं के तत्सम शब्दों, संस्कृत के तद्भव शब्दों तथा अंग्रेजी के तद्भव शब्दों का प्रयोग हुआ है। भारतेन्दु युग के प्रायः सभी नाटककारों ने पद्य भाग में ब्रजभाषा, अवधी तथा संस्कृत आदि का प्रयोग किया है, खड़ीबोली का नहीं। धीरे-धीरे ब्रजभाषा का प्रयोग घटने लगा। अन्ततः उसे पूरी तरह से त्याग दिया गया। हिन्दी नाटकों में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग भाषा को गम्भीर तथा उदात्त बनाने के लिए विशेष रूप से किया गया है। भारतेन्दु युग के लगभग सभी नाटककारों ने कहीं-कहीं ऐसी भाषा का समावेश नाटकों में किया है, किन्तु तत्सम रूप रखने का प्रयास बहुत कम है। जयशंकर प्रसाद तत्सम शब्दावली के उपयोग में सर्वाधिक प्रवीण दिखाई देते हैं। गोविन्दवल्लभ पन्त के 'अन्तःपुर का छिद्र' नाटक में भी सर्वत्र तत्सम शब्दों का

समावेश हुआ है; उदाहरणार्थ – "उदयन : तो इसमें भी क्या रहस्य छिप सकता है ? कक्ष के कृत्रिम सौन्दर्य से अकुलाकर यदि कोई नेत्र बाहर देखना चाहते हैं, तो वे सतत परिवर्तनशील प्रकृति को देखें। वहाँ गवाक्ष भी बन सकता है।" जयशंकर प्रसाद के 'स्कन्दगुप्त' नाटक से एक उदाहरण प्रस्तुत है – "भारत समग्र विश्व का है और सम्पूर्ण वसुन्धरा इसके प्रेम-पाश में आबद्ध है। अनादिकाल से ज्ञान की, मानवता की ज्योति वह विकीर्ण कर रहा है। वसुन्धरा का हदय – भारत किस मूर्ख को प्यारा नहीं है।" (चतुर्थ अंक, दृश्य : चार) उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के ऐतिहासिक नाटक 'जय पराजय' में तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। जैसे – जलराशि, उर्वरा, शिरोमणि, आलोकित, जीणोद्धार, वह्नि आदि। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग विशेष रूप से पौराणिक, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक नाटकों की भाषा में दिखाई देता है। प्रसाद के नाटकों की गम्भीर और कहीं-कहीं क्लिष्ट भाषा साधारण दर्शकों के लिए दुरूह है। अभिनेताओं के लिए भी उच्चारण की समस्या पैदा हो सकती है। रंगमंच को ध्यान में रखकर न लिखे जाने के कारण प्रसाद के नाटक विश्वविद्यालयों तक सीमित होकर रह गए। कालान्तर में मोहन राकेश ने मंचन को ध्यान में रखकर 'आषाढ़ का एक दिन' तथा 'लहरों के राजहंस' नाटकों की भाषा का प्रयोग किया है। यहाँ तत्सम शब्दों के प्रयोग के बावजूद भाषा दुरूह नहीं है। अभिनेताओं के लिए भी कोई समस्या नहीं है।

भारतेन्दु युग में खड़ी-बोली के अन्तर्गत ब्रजभाषा आदि देशज शब्दों का अनावश्यक मिश्रण मिलता है। यथा – "आज तक ऐसा न्याय किसी से नहीं भया है।", "वह इसी के पीछे-पीछे डोला करता है।", "तुम सबका एक मता है।" 'मता' का प्रयोग अवधी बोली से है। भारतेन्दु-युग में खिचड़ी भाषा का प्रयोग अधिक मिलता है। श्रीनिवासदास के 'रणधीर प्रेममोहिनी' नाटक में ब्रजभाषा के शब्दों के साथ खड़ीबोली की क्रिया का प्रयोग है – "भली बुरी दरसावे सो ही हितू गिना जाता है।" सेठ गोविन्ददास के प्रायः सभी वर्तमानकालिक आख्यान को लेकर लिखे गए नाटकों में अंग्रेजी, उर्दू, हिन्दी की खिचड़ी भाषा का प्रयोग किया गया है। वर्तमानकाल से सम्बन्धित नाटकों में इसी प्रकार की भाषा मिलती है, क्योंकि उच्च और मध्यम वर्ग में इसी तरह की भाषा प्रयुक्त होती है।

भाषा पात्रानुकूल होनी चाहिए लेकिन इस नियम को अतिवादी सीमा तक ले जाने से नाटक की सम्प्रेषणीयता खतरे में पड़ सकती है। प्रसादजी ने पात्रानुकूल भाषा के आधार पर विभिन्न प्रदेशों, स्थानों की भाषाओं को नाटक में स्थान देने को अनुचित माना है। उनका मत है कि यदि मुगलकालीन नाटक में मुगलों से लखनवी उर्दू बुलवाते हैं तो राजपूतों को राजस्थानी बोलनी चाहिए, असभ्य पात्रों से जंगली भाषा बुलवानी चाहिए, लेकिन तब नाटक हिन्दी का नहीं रह जाएगा।

लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'मुक्ति का रहस्य' नाटक में पात्रानुकूल भाषा-योजना है। सामान्यतः बोलचाल की खड़ीबोली का प्रयोग हुआ है, जिसमें अंग्रेजी, उर्दू के तत्सम, तद्भव शब्द सरलता से लिए गए हैं, किन्तु काशीनाथ के साथ का आदमी भोजपुरी बोली में कहता है – "ठीक कहली बाबू, इहे ठीक होई।"

सेठ गोविन्ददास ने भाषा-योजना के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है – "हिन्दी नाटकों में कोई-कोई पात्र उपभाषाओं में बोल सकते हैं । ... कुछ पात्रों की भाषा में यदि इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग भी हो तो कथोपकथन की स्वाभाविकता में वृद्धि ही होगी । बंगाली, महाराष्ट्री, सिख, गुजराती आदि समाजों के व्यक्ति जिस प्रकार की हिन्दी बोलते हैं, यदि उसी प्रकार की हिन्दी रंगमंच पर भी बोले तो नाटकों की स्वाभाविकता बढ़ेगी ।" उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने अपने नाटक 'स्वर्ग की झलक' की भूमिका में लिखा है – "नाटक की भाषा को शिक्षित लोगों की भाषा के तनिक समीप रखने का प्रयास किया गया है, ताकि यह कृत्रिम प्रतीत न हो । इसलिए अंग्रेजी के शब्द अनिवार्य रूप से आ गए हैं और भाषा दुरूह तथा क्लिष्ट नहीं ।"

नाटक की भाषा में प्रवाहमयता का होना आवश्यक है । भारतेन्दु के नाटकों में प्रवाहमयता का अभाव नहीं है । हास्य की व्यंजना भाषा के प्रवाह पर निर्भर करती है। उनके प्रहसनों – 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' तथा 'अन्धेर नगरी' में बोधगम्य और प्रवाहमयी भाषा है । जयशंकर प्रसाद के नाटकों की भाषा कहीं-कहीं क्लिष्ट हो गई है, किन्तु इससे प्रवाह में कोई बाधा नहीं पैदा होती । सेठ गोविन्ददास ने पात्रानुकूल भाषा-विधान का अपने नाटकों में पालन किया है । स्वाभाविकता के साथ उनकी भाषा में प्रवाह भी है ।

प्रसादोत्तर नाटककारों में भुवनेश्वर अंग्रेजी के बर्नार्ड शॉ आदि नाटककारों से प्रभावित हैं । उनके लघुनाटक 'ताँबे के कीड़े' को हिन्दी का प्रथम असंगत (एब्सर्ड) नाटक माना जाता है । इसमें पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग नहीं मिलता । रिक्शे वाला प्रतीकात्मक एवं बुद्धिजीवियों वाली भाषा का प्रयोग करता है। स्वातन्त्र्योत्तर काल के नाटककारों – लक्ष्मीनारायण लाल, मणिमधुकर, शंकर शेष आदि ने पश्चिमी नाट्य-साहित्य एवं रंगमंच से बहुत कुछ सीखा एवं ग्रहण किया है। इनकी भाषा पात्र, परिस्थिति एवं मंचीयता को ध्यान में रखकर लिखी गई है । भारतेन्दु की भाषा की ज़िंदादिली, चुलबुलायन एवं सजीवता नये नाटककारों में भी मिलती है । एब्सर्ड एवं लोकनाट्य शैली के प्रभाव से इनकी नाट्यभाषा प्रभावशाली एवं समृद्ध हुई है।

3.4.04. भारतेन्दु के नाटकों की भाषा

भाषा के सम्बन्ध में भारतेन्दु ने संस्कृत नाटकों की प्रणाली अपनायी है और पात्रानुसार भाषा में परिवर्तन किया है । उनके पात्र हिन्दी के अतिरिक्त प्रान्तीय भाषाओं एवं बोलियों का प्रयोग करते हैं। 'प्रेमजोगिनी' का महाराष्ट्रियन ब्राह्मण मराठी बोलता है – "महाराष्ट्री : दीक्षितजी थोड़े से पाणी द्या, तहान बहुत लागली आहे ।"

'नीलदेवी' का काजी और अमीर उर्दू में अपने भाव प्रकट करते हैं । 'पाखण्ड विडम्बन' का दिगम्बर राजस्थानी बोलता है – "अरे कपालिकों दरसन ही मोच्छ को सुख है। अरे आचरज, हूँ थारो सेवक हूँ, हमकूँ भैरवी दिच्छा ध्यान सूँ दै ।" 'चन्द्रावली' नाटिका के प्रथम अंक तक खड़ीबोली का प्रयोग हुआ है, किन्तु उसके उपरान्त सर्वत्र ब्रजभाषा का प्रयोग किया गया है । प्रथम अंक में भी चन्द्रावली और ललिता खड़ीबोली में बोलती हैं, किन्तु दासी ब्रजभाषा में ही बोलती है । ललिता के अतिरिक्त अन्य सखियों के मध्य चन्द्रावली भी ब्रजभाषा में

वार्तालाप करती है – "अरी सखियों मोहि छमा करियो। अरी देखो तो तुम मेरे पास आईं और हमने तुमारो कछू सिष्टाचार न कियो।" भारतेन्दु स्थानीय बोलियों का भी उपयोग करते हैं; उदाहरणार्थ –

चौकीदार : ई के हो भाई। कोई परदेरशी जान पड़ा ला, हमहब के कुछ घूस-फूस देई की नाहीं, भला देखीं तो सही।

(– विद्यासुन्दर)

झपटिया : का हो मिसिरजी, तोरी नींद नाहीं खुलती ! देखो शंखनाद होय गवा, मुखियाजी खोजते रहे।

(– प्रेमजोगिनी)

लेखक ने कुछ पात्रों से हिन्दी (खड़ीबोली) मिश्रित प्रान्तीय भाषाएँ बुलवायी हैं; यथा –

बंगाली : हाकिम लोग काहे को नाराज होगा। हम लोग सदा चाहता कि अंग्रेजों का राज्य उत्पन्न न हो, हम लोग केवल अपना बचाव करता।

(– भारत दुर्दशा)

पहला गुजराती : अच्छा मथुरादासजी बैसी जाओ।

(– प्रेमजोगिनी)

भाषा का एक और रूप मिलता है, जहाँ प्रान्तीय या विदेशी पात्र हिन्दी भाषा में बात करते हैं –

पहला अंग्रेज : (तर्जन-गर्जन) रे दुराशय ! दुर्वृत्तिगण ! क्या इसी हेतु तुम लोगों को ज्ञानचक्षु दिया है ? रे नराधम ! राजविद्रोही ! महारानी के पुकारने में तुम लोगों की तनिक भी भय का संचार नहीं होता।

(– प्रेमजोगिनी)

डिसलायल्टी : नहीं, नहीं, तुम सब सकरि के विरुद्ध एकत्र हुए हो, हम तुम को पकड़ेगे।

(– भारत दुर्दशा)

बंगाली : इसमें यह प्रमाण कि मत्स्य की उत्पत्ति वीर्य और रज से नहीं है। इनकी उत्पत्ति जल से है। इस हेतु जो फलादिक भक्ष्य हैं तो ये भी भक्ष्य हैं।

(– वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति)

'पाखण्ड विडम्बन' के भिक्षुक बुद्धागम की भाषा सबसे विचित्र और उपहासास्पद है। भिक्षुक ऊपर दिये गए उदाहरण के अंग्रेज डिसलायल्टी और बंगाली के समान हिन्दी में न बोलकर बालकों की छकार-प्रधान कृत्रिम बोली बोलता है –

भिक्षुक : अले अले उपाछकओं, अले अले भिक्षुओं, अले सुनो, भगवान छौगत का वचन सुनो

भिक्षुक द्वारा इस प्रकार की भाषा के प्रयोग का कोई औचित्य नहीं दिखता । महाराष्ट्री से मराठी या राजस्थानी से बुलवाना भी उचित नहीं कहा जा सकता। यदि प्रत्येक पात्र अपनी भाषा और बोली में बोले तो नाटक बोलियों और भाषाओं का अजायबघर बनकर रह जाएगा । यथार्थ और स्वाभाविकता की रक्षा के लिए हिन्दी में प्रादेशिक भाषा या बोली के शब्दों को घुलाकर भी काम चलाया जा सकता है।

स्त्री, सेवक, ब्राह्मण, वैश्य, राजा इत्यादि की दृष्टि से भी भाषा मे परिवर्तन हुआ है। भारतेन्दु के नाटकों में पठित ब्राह्मण संस्कृत उगलते जाते हैं, स्त्रियों की भाषा में मुहावरों और सरलता का मिश्रण है। निम्नवर्गीय सेवक एवं राजा की भाषा एक-सी नहीं है। राजा की हिन्दी तत्समप्रधान है तो निम्नवर्गीय पुरुष या सेवक की तद्भव-प्रधान। धर्म जब चाण्डाल के रूप में कथन करता है तो उसकी भाषा बदल जाती है –

धर्म : (आप ही आप) हाय हाय ! इस समय इस महात्मा को बड़ा ही कष्ट है। तो अब चले आगे। (आगे बढ़कर) अरे, अरे ! हम तुमको मोल लेंगे, लेव यह पचास सै मोहर लेव।

भारतेन्दु युग से हिन्दी नाटक का शुभारम्भ हुआ। ब्रजभाषा और अवधी का स्थान खड़ीबोली ले रही थी। क्रमशः उसका स्वरूप निखर रहा था। अतएव उस काल की भाषा का कम परिष्कृत होना अस्वाभाविक नहीं है। किन्तु कहीं-कहीं परिष्कृत और प्रौढ़ भाषा के भी दर्शन होते हैं; यथा –

यमराज : (शैव और वैष्णव से) आप लोगों की अकृत्रिम भक्ति से ईश्वर ने आपको कैलाश और बैकुण्ठ धाम की आज्ञा दी है, सो आप लोग जाएँ और अपने सुकृत का फल भोगिए।

(– वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति)

भारतेन्दु युग के नाटककारों, विशेषतः भारतेन्दु ने प्रसाद के नाटकों की तत्समप्रधान असाधारणतः शक्तिशाली भाषा की पृष्ठभूमि तैयार की । अतएव नाट्य-भाषा के निर्माण व विकास की दृष्टि से भारतेन्दु का योगदान महत्त्वपूर्ण है।

3.4.05. 'अन्धेर नगरी' की संवाद-योजना

कुल छह दृश्यों वाला लघुनाटक 'अन्धेर नगरी' एक प्रहसन है। प्रहसन का उद्देश्य भाषा एवं कार्यकलापों द्वारा दर्शक को हँसाना ही नहीं, बल्कि समकालीन व्यवस्थाजन्य विसंगतियों पर तीखी चुटकी भरा व्यंग्य करना भी है। 'अन्धेर नगरी' के चौपट राजा की अन्धेरगर्दी को व्यंग्य की चोटों से उभारते हुए यह नाटककार सुव्यवस्था और कुव्यवस्था का अन्तर स्पष्ट करते हुए आदर्श व्यवस्था सम्बन्धी चिन्तन को गतिशील करना चाहता है। शासन-व्यवस्था कैसी होनी चाहिए, न्याय-व्यवस्था कैसी होनी चाहिए ? क्या पैसा ही सब कुछ है ? क्या पैसे की वेदी पर मानवीय मूल्यों की बलि दे देनी चाहिए ? इन सभी प्रश्नों को उठाकर नाटककार दर्शकों को इनके उत्तर प्राप्त करने के लिए प्रेरित करना चाहता है। इस पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में ही हमें नाटक की संवाद योजना पर विचार करना होगा।

संस्कृत नाटकों, लोकनाट्यों तथा पारसी रंगमंच कीपरम्पराओं के अनुसार 'अन्धेर नगरी' के संवाद पद्य-गद्य दोनों में हैं। नाटक में गीत भी रखे जाते थे। प्रसाद ने इस परम्परा का सफल प्रयोग किया और लक्ष्मीनारायण मिश्र ने इसका परित्याग कर दिया। स्वातन्त्र्योत्तर नाटककारों में से लक्ष्मीनारायण लाल, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, मुद्राराक्षस, मणि मधुकर आदि ने लोकधर्मी रंगमंच से प्रभाव ग्रहण कर इस परम्परा को पुनः अपनाया। प्रथम दृश्य में महन्त एवं उनके दो शिष्यों का भक्तिपरक गीत गाते हुए प्रवेश होता है। वैरागियों, साधुओं का इस प्रकार का गीत या भजन गाना बहुत स्वाभाविक है। ईश्वर की असीम महिमा का बखान करने वाला यह गीत वैराग्य भाव की सृष्टि करता है, जो आगे आनेवाली भोगवादी संस्कृति को उसके विलोम के रूप में उभारता है। ऊपर-ऊपर से सुन्दर दिखनेवाले इस नगर में भिक्षा माँगने के लिए महन्तजी अपने दोनों शिष्यों को अलग-अलग दिशाओं में जाने का निर्देश देते हैं – गोबरधनदास को पश्चिम में जाना है और नारायणदास को पूरब में। यहाँ दोनों दिशाएँ अपनी प्रतीकात्मकता के द्वारा भौतिकवादी एवं त्यागमय आदर्शवादी दृष्टियों की ओर संकेत करती है। महन्तजी ने लोभ को पाप का मूल बताते हुए जो दोहा कहा है वह गोबरधनदास को भौतिकवादी सभ्यता के जाल में फँसने के प्रति सचेत करता है। किन्तु गोबरधनदास बाजारवाद के चक्कर में फँस ही गया और उसके प्राण संकट में पड़ गए।

दूसरा दृश्य बाजार का है। आज विज्ञापनों के द्वारा उत्पादों को बेचा जाता है। नाटक के बाजार में विभिन्न विक्रेता आकर्षक ढंग से तुकान्त गीतों एवं पंक्तियों के द्वारा अपनी वस्तुओं का विज्ञापन कर खरीददारों को अपनी ओर आकर्षित करने की पुरजोर कोशिश कर रहे हैं। चनेजोर गरम बेचने वाले घासीराम की तुकान्त विरुदावली में हास्य और व्यंग्य की छौंक बघार है–

चना खाते सब बंगाली।
जिनकी धोती ढीली-ढाली॥
चना खाते मियाँ जुलाहे।
डाढ़ी हिलती गाह बगाहे॥
चना हाकिम सब जो खाते।
सब पर दूना टिकस लगाते॥

आज भी सरकारें विकास के नाम पर जनता पर भारी टैक्स लगाती हैं। इस पैसे से विकास कितना होता है और कितना अपव्यय, इसका कोई हिसाब नहीं रखा जाता। हलवाई के संवाद में कचाका, चमाका, कड़ाका, पड़ाका आदि शब्दों से हास्य तो पैदा होता ही है, साथ ही ध्वनि द्वारा अर्थ व्यक्त करने वाले शब्दों की रचना की सामान्यजन की क्षमता भी प्रकट होती है। कुंजड़िन के संवाद में 'ले हिन्दुस्तान का मेवा फूट और बैर' इन शब्दों के द्वारा ऐतिहासिक सत्य की ओर इंगित है। फूट और बैर ने हमें गुलाम बनाया लेकिन आज भी हम इस बुराई से मुक्त नहीं हो पाए हैं। यह राष्ट्रीय एकता को खण्डित करने वाली आत्मघाती प्रवृत्ति है। पाचकवाला के पद्यमय तुकान्त संवाद में सर्वव्यापी भ्रष्टाचार के रोग की ओर संकेत है– "चूरन अमले सब जो खावैं। दूनी रिश्वत तुरत पचावैं॥" कड़े से कड़े कानून बनाकर भी रिश्वतखोरी को खत्म नहीं किया जा सका है। संवाद के अन्तिम भाग में सम्पादक, विदेशी शासन के अधिकारी एवं पुलिस विभाग व्यंग्य के निशाने पर हैं–

चूरन खावै एडिटर जात।
जिनके पेट पचै नहिं बात॥
चूरन साहेब लोग जो खाता।
सारा हिन्द हजम कर जाता॥
चूरन पूलिसवाले खाते।
सब कानून हजम कर जाते॥

हमारे सभी कार्यों को प्रेरित करने वाला टका या पैसा है, इस कटुसत्य को रेखांकित करता है, जातवाले का संवाद– "टके के वास्ते जैसी कहो वैसी व्यवस्था दें। टके के वास्ते झूठ को सच करें।" बाजार स्वाद की यह तीखी आलोचना वर्तमानकाल की भूमण्डलीकरण की संस्कृति पर भी लागू होती है। इस संस्कृति में मनुष्य नहीं पैसा महत्त्वपूर्ण है। वह सत्य है, बाकी सब असत्य है। टके सेर भाजी का अर्थ है – 'सब धान बाइस पसेरी' अर्थात् सम्पूर्ण मूल्यहीनता, कोरा भौतिकवाद।

तीसरे दृश्य में महन्तजी गोबरधनदास से नगरी और राजा के बारे में पूछते हैं। इस पर शिष्य का उत्तर है – "अन्धेर नगरी चौपट्ट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा।" इस संक्षिप्त परिचय से ही महन्तजी उस विवेकहीन अन्धव्यवस्था का अंदाजा लगा लेते हैं, जहाँ मनुष्य और उसकी भावनाओं की कोई कीमत नहीं है। सारे कार्यव्यापार राजा की सनक के आधार पर संचालित होते हैं। जहाँ कोकिल और बायस तथा मूर्ख और पण्डित में कोई फर्क न हो वह रहने लायक जगह नहीं। उनके मुँह से जो दोहा निकलता है, उसमें भविष्यवाणी है –

बसिए ऐसे देस नहिं, कनक-वृष्टि जो होय।
रहिये तो दुख पाइये, प्रान दीजिए रोय॥

अभावों की ज़िंदगी जी रहे गोबरधनदास को यह भौतिकता लुभावनी लगती है। गुरु की चेतावनी की उपेक्षा कर वह वहीं बसने का संकल्प करता है– "गुरुजी, ऐसा तो संसार-भर में कोई देस ही नहीं है। दो पैसा पास में रहने ही से मजे में पेट भरता है। मैं तो इस नगरी को छोड़कर नहीं जाऊँगा।" गोबरधनदास का अपने गुरु से

अलग होना इस तथ्य को रेखांकित करता है कि अभावग्रस्त ज़िंदगी किसी को भी सिद्धान्तहीन बना सकती है। बड़े-बड़े साम्यवादी समझौतावादी बन जाते हैं। कोष्टक में दिया गया रंग-निर्देश – "गोबरधनदास बैठकर मिठाई खाता है।" – इसी ओर इंगित कर रहा है।

चौथा दृश्य राजसभा का है, जहाँ हम चौपट राजा के विवेकहीन, शराबी, नशेड़ी व्यक्तित्व से परिचित होते हैं। राजा के असंगत संवाद हास्य पैदा करने के साथ-साथ अन्धी, निरंकुश शासन-व्यवस्था पर प्रकाश डालते हैं। यह चित्र भारतेन्दु के समय की शासन-व्यवस्था तक ही सीमित न होकर देश-काल से परे जाता है। विश्व भर की सारी मानवद्रोही निरंकुश व्यवस्थाएँ इसके घेरे में सिमट आती है। यह दृश्य और यहाँ के कार्य-कलाप संवादों के माध्यम से हमें अपने समय की तस्वीर दिखाते हैं। इस प्रकार से संवाद दर्पण का काम करते हैं।

पीनक में डूबा राजा 'पान खाइए, महाराज' को 'सुपनखा आई ए महाराज' सुनता है और सेवक को सौ कोड़े लगाए जाने का आदेश देता है। राजा की न्याय-व्यवस्था निर्दोषों को सजा देने में विश्वास करती है, तभी तो कल्लू धनिया की दीवार गिरने से बकरी की मौत की सजा अन्ततः गोबरधनदास को मिलती है। बकरी की मौत के लिए उत्तरदायी व्यक्ति के रूप में जो विभिन्न व्यवसाय करने वालों को राजा के समक्ष पेश किया जाता है, उसका उद्देश्य केवल हास्य पैदा करना नहीं है, बल्कि न्यायदान की वर्षों चलने वाली निष्ठुर प्रक्रिया की ओर इंगित करना है जहाँ वकीलों की कृपा से दोषी बेदाग छूट जाता है और निर्दोष दण्डित होता है। न्यायदान की यह परम्परा आज भी चल रही है। इसी आधार पर 'अन्धेर नगरी' प्रासंगिक लगता है और रंगकर्मी इसकी ओर आकर्षित होते हैं। मंत्री यहाँ वकील की भूमिका अदा कर रहा है। राजा के संवाद हास्य पैदा करते हैं जैसे बनिए की दीवार को पकड़ लाने का आदेश तथा 'बकरी' को 'लरकी', 'बरकी' कहना।

पाँचवा दृश्य गोबरधनदास के पद्यात्मक संवाद से शुरु होता है। इस संवाद में अन्धी समानता अर्थात् मूल्यहीनता की बात कही गई है –

साँचे मारे मारे डोलैं।
छली दुष्ट सिर चढ़ि चढ़ि बोलैं॥
प्रगट सभ्य अन्तर छलधारी।
सोइ राजसभा बल भारी॥
साँच कहैं ते पनही खावैं।
झूठे बहु बिधि पदवी पावैं॥
छलियन के एका के आगे।
लाख कहौ एकहु नहिं लागे॥

छल कपट से भरी भ्रष्ट व्यवस्था में सत्य कहने वाला दण्डित होता है। उसके समक्ष दो ही विकल्प हैं – या तो वह मौन रहे या भ्रष्टों की जी-हुजूरी करते हुए भी भ्रष्ट हो जाए।

गोबरधनदास अन्धेर नगरी की सच्चाई जान गया है फिर भी राजकाज से तटस्थ रहने के कारण स्वयं को सुखी एवं सुरक्षित मानता है। लेकिन उसका यह भ्रम बहुत जल्दी ही टूट जाता है, जब राजा के सिपाही उसे पकड़ने के लिए आते हैं। "आप बड़े मोटे हैं, इस वास्ते फाँसी होती है।" सुनकर उसकी प्रतिक्रिया है – "मोटे होने से फाँसी ? यह कहाँ का न्याय है !" कोतवाल के दुबले होने के कारण राजा किसी मोटे आदमी को फाँसी देने का हुक्म देता है। "हुक्म हुआ कि एक मोटा आदमी पकड़कर फाँसी दे दो, क्योंकि बकरी मारने के अपराध में किसी-न-किसी की सजा होनी जरूर है, नहीं तो न्याव न होगा। इसी वास्ते तुमको ले जाते हैं कि कोतवाल के बदले तुमको फाँसी दें।" कितने बड़े अन्याय को न्याय का जामा पहनाया जा रहा है ! अन्ततः छठे दृश्य में महन्तजी ही अपने बुद्धिचातुर्य से अपने शिष्य के प्राण बचाते हैं। शिष्यों को उपदेश देने के बहाने वे उसके कान में अपनी योजना बता देते हैं, जिसके अनुसार कोतवाल और गोबरधनदास के बदले अन्ध व्यवस्था का सूत्रधार राजा फाँसी पर चढ़ जाता है। गुरु के मुख से दोहे के रूप में निकला अन्तिम संवाद अनैतिक और भ्रष्ट व्यवस्था के अपने ही बनाए जाल में फँस कर नष्ट होने की घोषणा करता है। अराजक और अविचारणी व्यवस्थाएँ इसी तरह से नष्ट होती हैं।

जहाँ न धर्म न बुद्धि नहिं, नीति न सुजन समाज।
ते ऐसहि आपुहि नसे, जैसे चौपट राज॥

भावपूर्ण स्थलों पर नाटककार ने एकालाप रखे हैं। पाँचवे दृश्य के प्रारम्भ में गोबरधनदास का संवाद एकालाप है। दूसरे दृश्य में विक्रेताओं के संवाद भी एकालाप के अन्तर्गत ही आएँगे। जहाँ कार्यगति तीव्र है, वहाँ संवाद छोटे एवं अर्थपूर्ण हैं। दूसरे दृश्य का अन्त और सारा चौथा दृश्य इसका प्रमाण है। संवादों में अनावश्यक विस्तार न होने से मंचन की दृष्टि से सर्वथा योग्य नाटक है।

3.4.06. 'अन्धेर नगरी' का भाषा-शिल्प

नाटक के लिए पहले से बनी-बनाई भाषा उपयोगी नहीं होती है। प्रत्येक नाटककार अपने कथ्य, पात्र और परिवेश के अनुरूप भाषा की पुनर्रचना करता है। भारतेन्दु अपने प्रत्येक नाटक के लिए अलग ढंग की भाषा का प्रयोग करते हैं। 'अन्धेर नगरी' की भाषा ऊपर से सीधी सरल लगती है, लेकिन रंगमंच की दृष्टि से इस पर विचार करें तो इसमें अद्भुत गुण छिपे हुए हैं। ये गुण हैं – दृश्यात्मकता, अनुभव की ऐन्द्रिकता, बिम्बात्मकता, व्यंजना और संकेत। इसमें शब्द का पृथक् महत्त्व नहीं है। अन्य शब्दों के साथ मिलकर वे जो समग्र प्रभाव उत्पन्न करते हैं उससे नाटक देश-काल की संकुचित सीमा को तोड़कर अखिल विश्व की मानवघाती व्यवस्थाओं के विरोध में खड़ा दिखाई देता है।

'अन्धेर नगरी' की भाषा पर विचार करने के पूर्व हमें भारतेन्दु के नाटक सम्बन्धी निबन्ध में व्यक्त विचारों पर ध्यान देना चाहिए। उन्होंने नाटक की भाषा में वाचालता के बदले मितभाषिता पर जोर दिया है। आदर्श स्थिति वह है जहाँ थोड़ी-सी बात में अधिक भाव व्यक्त किए गए हों। 'अन्धेर नगरी' की भाषा में व्यर्थ का विस्तार कहीं

नहीं है। शब्द चुने हुए और वाक्य नपे-तुले हैं। इस सन्दर्भ में नाटक का दूसरा दृश्य विशेष रूप से द्रष्टव्य है। प्रत्येक विक्रेता अपनी-अपनी वस्तुओं का गुणगान तो कर रहा है लेकिन एक सीमा में रहकर घासीराम (चने जोर गरम वाला), कुँजड़िन और पाचकवाला के संवादों में ग्राहक को आकर्षित करने के गुण के अलावा हास्य और व्यंग्य के तत्त्व भी भरपूर हैं। कुँजड़िन विभिन्न सब्जियों के नाम लेते हुए अन्त में जोड़ देती है – "ले हिन्दुस्तान का मेवा फूट और बैर।" उसने हमारी कमजोर नब्ज़ पर हाथ रख दिया है। हलवाई के संवाद में 'कचौड़ी कचाका' 'हलुआ चभाका', 'चासनी में चभाचभ', 'रेवड़ी कड़ाका', 'पापड़ पड़ाका' आदि शब्दों का प्रयोग ध्वनियों के साथ-साथ दृश्यात्मकता को भी उजागर करता है। मुगल के संवाद में 'लक-लक', 'बुंबक्क्बुंबक' शब्दों के द्वारा क्रमशः 'दुबले-पतले' एवं 'हट्टे-कट्टे' लोगों के बिम्ब साकार किए गए हैं। जातवाला के संवाद में 'टका' शब्द की आवृत्ति से बाजारवाद, अवसरवादिता, जातिवाद और सांस्कृतिक अवमूल्यन की व्यंजना की गई है। इस प्रकार नाटक व्यापक परिप्रेक्ष्य से जुड़कर विश्वजनीनता का गुण प्राप्त कर लेता है। महन्त का शिष्य गोबरधनदास विक्रेताओं से हर प्रश्न के उत्तर में 'टके सेर' जबाब पाकर अपनी रसना की तृप्ति की कल्पना से प्रसन्न हो जाता है। 'टके' की आवृत्ति से नाटक का व्यंग्य मुखरित हो उठता है। भारतेन्दु की लोकजीवन में गहरी पैठ थी। भाषिक-प्रयोग में अनुशासन बरतने के कारण बाजार के दृश्य में भोंडापन नहीं आ पाया है।

'अन्धेर नगरी' की भाषा बिम्बों और प्रतीकों से युक्त है। ये बिम्ब और प्रतीक गत्यात्मक, लचीले और जीवन्त हैं। अन्धेर नगरी भ्रष्ट नगरी का, राजा दमनकारी शासन-व्यवस्था का एवं फरियादी आम आदमी का प्रतीक है। बाजार पूरे हिन्दुस्तान का प्रतीक है। अदृश्य बकरी पूरे नाटक की केन्द्र बिन्दु है। बकरी दलित मानवता की प्रतीक है। उसकी वेदना कम करने के बदले 'आम आदमी' के नाम की माला जपते हुए राजनीति की जाती है।

भाषा और संवाद की रचना करते समय भारतेन्दु ने पात्र की प्रकृति को ध्यान में रखा है। हर पात्र स्फूर्ति और ज़िंदादिली से युक्त दिखाई देता है। लोक-जीवन के सूक्ष्म निरीक्षण से उपलब्ध अनुभव भाषा को और अन्ततः पात्र को जीवन्त बनाते हैं। रंगकर्म से गहरे जुड़ाव के कारण ही भारतेन्दु दृश्यात्मकता और अर्थगर्भिता से युक्त भाषा लिख पाए।

3.4.07. पाठ-सार

भारतीय नाट्याचार्यों ने नाटक में पात्रानुकूल भाषा के प्रयोग का विधान किया था। पात्रों के अनुरूप संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं का प्रयोग होता था। भारतेन्दु युग हिन्दी गद्य के निर्माण का काल है। इस काल के नाटकों में ब्रज, अवधी, तत्सम, तद्भव, उर्दू, अंग्रेजी आदि भाषाओं के शब्दों का प्रयोग होता था। जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटकों में विशुद्ध तत्सम शब्दों वाली भाषा का प्रयोग किया है। स्वातन्त्र्योत्तर काल के नाटककारों ने पात्रानुसार बोलचाल की सहज भाषा का प्रयोग किया है। मोहन राकेश के दो नाटकों ('आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस') में तत्सम शब्दों वाली भाषा है लेकिन वह क्लिष्ट नहीं है। 'अन्धेर नगरी' में पद्य और गद्य दोनों में संवाद हैं। बाजार के दृश्य में विभिन्न विक्रेताओं द्वारा आकर्षक गद्य एवं तुकान्त पद्य में जो संवाद कहे गए हैं उनमें हास्य और व्यंग्य दोनों के तत्त्व हैं। राजसभा में राजा के संवाद एक विवेकहीन शराबी एवं नशेड़ी के चरित्र

के अनुरूप हैं। कुशासन एवं अन्धी न्याय-व्यवस्था का खाका खींचने में ये संवाद पूर्णतः समर्थ है। नाटक के संवादों में मितभाषिता है। भाषा में व्यर्थ का विस्तार नहीं है। भाषा में बिम्ब और प्रतीक है। अदृश्य बकरी पूरे नाटक की केन्द्र बिन्दु है। वह पीड़ित मानवता की प्रतीक है। 'टका' शब्द की बार-बार आवृत्ति कर नाटककार ने बाजारवाद और सांस्कृतिक अवमूल्यन की ओर संकेत किया है।

3.4.08. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. 'अन्धेर नगरी' का दूसरा दृश्य कहाँ का है ?

(क) राजसभा
(ख) बाह्य प्रान्त
(ग) बाजार
(घ) श्मशान

2. "ले हिन्दुस्तान का मेवा फूट और बैर।" किसका संवाद है ?

(क) घासीराम
(ख) हलवाई
(ग) पाचकवाला
(घ) कुँजड़िन

3. "राजा ! इस समय ऐसा साइत है कि जो मरेगा सीधा बैकुण्ठ जायेगा।" यह किसका संवाद है ?

(क) मंत्री
(ख) गोबरधनदास
(ग) सिपाही
(घ) गुरु

4. गोबरधनदास को फाँसी क्यों दी जानी थी ?

(क) बकरी की हत्या के अपराध में
(ख) उसकी गर्दन मोटी थी
(ग) उसने राजा से बैर मोल लिया था
(घ) उधारी के पैसे नहीं चुकाए थे

5. 'अन्धेर नगरी' किसका प्रतीक है ?

(क) अन्धकार
(ख) भ्रष्ट व्यवस्था
(ग) एक काल्पनिक नगरी
(घ) एकान्त स्थल

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय नाट्याचार्यों के नाटक की भाषा सम्बन्धी विचार लिखिए।
2. भारतेन्दु-युग के नाटकों की भाषा के स्वरूप का विवेचन कीजिए।
3. 'टके सेर भाजी, टके सेर खाजा' से कौनसा दृष्टिकोण व्यक्त हो रहा है, समझाइए।
4. 'अन्धेर नगरी' के राजसभा वाले दृश्य की समीक्षा कीजिए।
5. गोबरधनदास के प्राण कैसे बचे ? विस्तार से लिखिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. 'अन्धेर नगरी' की संवाद योजना निरूपित कीजिए।
2. हिन्दी नाटकों की भाषा के क्रमिक विकास पर प्रकाश डालिए।
3. 'अन्धेर नगरी' के पद्यबद्ध संवादों की समीक्षा प्रस्तुत कीजिए।
4. 'अन्धेर नगरी' नाटक के भाषा-शिल्प के वैशिष्ट्य को स्पष्ट कीजिए।
5. 'अन्धेर नगरी' के बाजार वाले दृश्य की विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत कीजिए।

3.4.09. कठिन शब्दावली

अविर्भाव	:	उदय, आगमन
पात्रानुकूल	:	पात्र के अनुसार
अविचारी	:	विचारहीन

3.4.10. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. नगेन्द्र तथा महेंद्र, चतुर्वेदी (2004). अरस्तू का काव्यशास्त्र. इलाहाबाद : भारती भण्डार.
2. पन्त गोविन्दवल्लभ (संवत् 1997) अन्तःपुर का छिद्र. गंगा पुस्तकमाला : लखनऊ.
3. सेठ, गोविन्ददास. तीन नाटक. प्रथम संस्करण.
4. तिवारी, गोपीनाथ (1971). भारतेन्दु के नाटकों का शास्त्रीय अनुशीलन. राजकमल प्रकाशन : दिल्ली.
5. खन्ना, वेदपाल 'विमल'(1958). हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन. श्री भारत भारती (प्रा.) लि. : दिल्ली.

❖❖❖

खण्ड – 4 : चन्द्रगुप्त

इकाई – 1 : प्रसाद की नाट्य-कला और 'चन्द्रगुप्त' नाटक

इकाई की रूपरेखा

4.1.0. उद्देश्य कथन
4.1.1. प्रस्तावना
4.1.2. प्रसाद की नाट्यकला
  4.1.2.1. वैचारिक आधार
  4.1.2.2. युग-बोध
  4.1.2.3. प्रसाद के नाटक
4.1.3. 'चन्द्रगुप्त' नाटक : संवेदना एवं शिल्प
  4.1.3.1. इतिहास और कल्पना
  4.1.3.2. 'चन्द्रगुप्त' नाटक और प्रसाद का वैचारिक परिप्रेक्ष्य
  4.1.3.3. 'चन्द्रगुप्त' नाटक का शिल्प-विधान
4.1.4. 'चन्द्रगुप्त' नाटक का अवदान
4.1.5. पाठ-सार
4.1.6. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
4.1.7. बोध प्रश्न

4.1.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. प्रसाद की नाट्यकला से अवगत हो सकेंगे।
ii. इतिहास और कल्पना, प्रसाद का वैचारिक परिप्रेक्ष्य व शिल्प-विधान के आलोक में 'चन्द्रगुप्त' नाटक की संवेदना एवं शिल्प को विस्तार सेसमझ सकेंगे।
iii. 'चन्द्रगुप्त' नाटक के अवदान का विवेचन कर सकेंगे।

4.1.1. प्रस्तावना

भारतीय नाट्यकला की एक सुदीर्घ एवं विकसितपरम्परा रही है, लेकिन हिन्दी साहित्य में आधुनिक युग से पूर्व नाटक की परम्परा लगभग नहीं मिलती है। हिन्दी में नाटकों की शुरुआत का श्रेय बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को प्राप्त है। हिन्दी नाटक की परम्परा एवं विकास के क्षेत्र में भारतेन्दु के बाद एक नये परिवर्तन का संकेत हमें छायावाद के दौर में देखने को मिलता है, जयशंकर प्रसाद उसी छायावादी परम्परा के सशक्त नाटककार हैं। प्रसाद

के नाटक न केवल भारतेन्दुयुगीन नाटकों से अलग हैं, अपितु अपने समकालीन नाटककारों में भी प्रसाद अद्वितीय हैं।

हिन्दी कथा साहित्य में जो स्थान प्रेमचन्द का है, नाटक के क्षेत्र में वही महत्त्व जयशंकर प्रसाद का है। जयशंकर प्रसाद की नाट्य संरचना रूढ़ शास्त्र की अपेक्षा प्रयोग पर आधारित है। रचनाओं के साक्ष्य से यह कहा जा सकता है कि प्रसाद नाट्य शिल्प की दृष्टि से एक के बाद एक नये प्रयोग करते रहे हैं। उनकी प्रयोगधर्मिता उल्लेखनीय है। मनोविज्ञान की दृष्टि से भी इन प्रयोगों का महत्त्व है। प्रसाद की रचनाधर्मिता सहज ही पाठकों अथवा दर्शकों का पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व अथवा मानसिक संघर्ष एवं चरित्र से तालमेल साध लेती है। नाटककार के नाट्यविधान की सर्वाधिक प्रभावशाली अभिव्यंजना स्वगत-कथनों के माध्यम से प्रस्फुटित हुई है। जयशंकर प्रसाद के नाटकों में प्रयुक्त स्वगत कथनों द्वारा प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से राष्ट्रीयता की भावना, युगीन चिन्तन, और युगीन निराशा की अभिव्यक्ति हुई है।

4.1.2. प्रसाद की नाट्यकला

जयशंकर प्रसाद शुद्ध साहित्यिक नाटक के पुरोधा थे। उन्होंने पारसी रंगमंच के नाटककारों की तरह न जनता की ओछी रुचि का अनुसरण किया और न ही पारसी के रंगमंच के ओछेपन का। वे भारतेन्दु से प्रारम्भ में प्रभावित ज़रूर थे, लेकिन उनका अन्धानुकरण प्रसाद ने कभी नहीं किया। यदि वे भारतेन्दु युग की रंग जागरूकता, प्रहसनों में निहित हास्य-व्यंग्य क्षमता और बोलचाल की भाषा की सहजता को अपनाते तो हिन्दी नाटक का स्वरूप ही कुछ और होता। इसके विपरीत उन्होंने संस्कृत नाटकों और द्विजेन्द्रलाल राय की शैली को अपनाया, परन्तु अन्ततः वे अपने लिए एक नयी शैली के आविष्कार में सफल हुए। हालाँकि, अपने पूर्ववर्ती युग के नाटककारों की नाट्यकला सम्बन्धी दुर्बलताओं से मुक्त नहीं हो सके। प्रसाद के सन्दर्भ में वे दुर्बलताएँ अनुभूति और विषयवस्तु की अपेक्षा उनके नवोत्थानवादी जीवनदृष्टि और व्यावहारिक नाट्य सिद्धान्तों के अपरिचय से अधिक सम्बद्ध हैं। प्रसाद के नाटक एक विभाजक रेखा का काम करते हैं जिसमें कृत्रिम और भ्रष्ट पारसी रंगमंच तथा स्वयं हिन्दी के पूर्ववर्ती वस्तुगत नाट्य लेखन की तस्वीर उभरती है। इसके साथ एक बहुत बड़ा दोष यह भी है कि द्विवेदी युग के नाटककार और उसके बाद स्वयं जयशंकर प्रसाद भारतेन्दु युग की रंग जागरूकता का उत्तराधिकार सँभाल नहीं सके। इसके बावजूद उन्होंने काव्य, दर्शन तथा युगीन सन्दर्भ भरकर हिन्दी नाटक की दुबली काया को पुष्ट किया।

4.1.2.1. वैचारिक आधार

जयशंकर प्रसाद हिन्दी साहित्य के अमर साहित्यकार एवं मूर्धन्य नाटककार हैं। जीवन की अनेक विषमताओं के विरुद्ध संघर्ष करते हुए भी वे निरन्तर साहित्य सृजन करते रहे। प्रसाद ने संस्कृत साहित्य, इतिहास, पुरातत्त्व आदि का विस्तृत और गहन अध्ययन किया था, इसलिए उनमें इतिहास को परखने की एक सूक्ष्म और गहरी अन्तश्चेतना देखने को मिलती है। उन्होंने साहित्य सृजन का कार्य बनी-बनाई लीक पर नहीं किया अपितु नये

ढंग की कहानियाँ और नाटक लिखकर इन दोनों क्षेत्रों में नयी दिशाएँ उद्घाटित कीं। वैचारिक परिप्रेक्ष्य में जयशंकर प्रसाद का आविर्भाव हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में एक नयी दिशा का संकेत है। नाटक के क्षेत्र में वे एक युग-प्रवर्तक के रूप में अवतरित हुए।

जयशंकर प्रसाद का सम्पूर्ण साहित्य अपनी गम्भीरता, प्रांजलता, कलात्मकता, भाषा-शैली, वैचारिक क्षमता आदि से परिपूर्ण है। अपने रचनात्मक वैशिष्ट्य के कारण उनकी कृतियाँ साहित्य की स्थायी निधि बनी हुई हैं। प्रसाद के नाटकों पर पाश्चात्य नाटक, संस्कृत नाटक एवं बांग्ला नाटक का प्रभाव है। संस्कृत के नाटकों के रस सिद्धान्त, पाश्चात्य नाटकों के संघर्ष तत्त्व और बांग्ला नाटकों के भाव-संवेदन को अपनाकर अपनी प्रतिभा के समन्वय से उन्होंने हिन्दी नाटक के क्षेत्र में स्वच्छन्दतावादी अभिनव नाट्यकला को जन्म देकर वस्तु, चरित्र, रस, तकनीकी तथा वातावरण में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किया है। इस प्रकार परम्परा, मौलिकता और आधुनिक सृजनशील चेतना को अपनाकर प्रसाद के क्रान्तिकारी रचनात्मक व्यक्तित्व ने हिन्दी नाटकों का नया विन्यास किया है।

जयशंकर प्रसाद के नाटकों की चेतना मूलतः छायावादी ही कही जा सकती है। परन्तु छायावाद में भी नाट्य तत्त्व इतना प्रमुख है कि नाटकों और काव्य में भेद करना कठिन है। काव्य तत्त्व के ही नहीं, अपितु प्रवृत्ति के आधार पर भी प्रसाद के नाटकों में छायावाद के काव्य और नाट्य तत्त्वों का समाहार मिलता है। यद्यपि प्रसाद के प्रारम्भिक नाटकों की प्रेरणा द्विवेदीयुगीन है, लेकिन उनमें भी कदाचित् भावी छायावादी नाटककार के व्यक्तित्व का आभास मिलता है। उदाहरणार्थ उनकी अन्तिम नाट्यरचना 'ध्रुवस्वामिनी' के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वह इब्सन आदि के प्रभावस्वरूप नूतन नाट्य-प्रयोग है; किन्तु ध्यानपूर्वक विचार करने पर अनुभव होता है कि वह भी छायावादी प्रवृत्ति से अपने को पूरी तरह मुक्त नहीं कर पाई है।

जयशंकर प्रसाद के लगभग सभी नाटक प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारम्भ और द्वितीय विश्व युद्ध के मध्य लिखे गए। यही वजह है कि उन्होंने भारत को विश्व की राजनैतिक, वैचारिक एवं सांस्कृतिक टकराहट के सन्दर्भ में देखा है। उस समय भारत स्वतन्त्र नहीं था और भारतीय जनता के हृदय में अपने देश को स्वतन्त्र कराने की भावना जन्म ले चुकी थी। जनजागरण के साथ-साथ राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता की भावात्मक एवं सशक्त अभिव्यक्ति साहित्य के माध्यम से होने लगी थी।

जयशंकर प्रसाद के नाट्यसम्बन्धी विचार को उनके जीवन से सम्बन्धित किया जा सकता है। जीवन के बाह्य प्रसंगों आदि घटनाओं की अपेक्षा उनका आन्तरिक जीवन ही उनके साहित्य में अधिक विकसित हुआ है। किशोरावस्था के दुखों ने उन्हें जीवन-मरण के रहस्योद्घाटन की ओर उन्मुख किया और वे 'सुख-दुःख' की व्याख्या को साहित्य का एक विषय बनाकर चले। गौतम बुद्ध के करुणा के सन्देश ने प्रसाद को विशेष रूप से प्रभावित किया है। वैसे तो उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में निराशा की झलक इतनी स्पष्ट है कि उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। दुखों-कष्टों की विवेचना करते हुए बौद्ध दर्शन ही उन्हें सहारा देता प्रतीत होता है। कालान्तर

में उन्होंने गीता के निष्काम कर्म और शैवागमों के अद्वैतमूलक आनन्दवाद का दिग्दर्शन भी कराया। नाटकों में प्रसाद बुद्ध की करुणा के सन्देशवाहक जान पड़ते हैं।

वैचारिक पटल पर जयशंकर प्रसाद में दृश्य जीवन की जटिल समस्याओं में भावों का संवेग भरने की क्षमता तथा कोमल-से-कोमल एवं वज्र से भी कठोर पात्रों की सर्जना की योग्यता परिलक्षित होती है। उनमें जीवन की गहन भावना एवं जीवन-दर्शन का संयोग भी मिलता है। अपनी कृतियों में ऐतिहासिक, पौराणिक और वस्तुविन्यास का चित्रण करते हुए भी वे आधुनिक जीवन तथा युगीन समस्याओं के प्रति सजग रहे हैं। भारत की सांस्कृतिक और राष्ट्रीय गरिमा को उजागर करने एवं प्राच्य और पाश्चात्य नाटकीय परम्परा के समन्वय का प्रयास भी प्रसाद ने अत्यन्त प्रभावी ढंग से किया है। साथ ही उन्होंने मानवीय मूल्यों एवं नैतिक आग्रहों से परिचालित ऐसी नाट्यसृष्टि की है जहाँ न तो द्वन्द्व है और न ही तर्क-वितर्क। स्वानुभूति से अनुप्राणित अपनी वैचारिक दृष्टि के प्रभावस्वरूप ही उन्होंने अपने नाटकों में स्थूल तत्त्वों की अवहेलना की और जीवन को यथार्थवादी वस्तुपरकता से न जोड़कर नैतिक मूल्यों और दार्शनिक चिन्तन के साथ जोड़ने का उल्लेखनीय प्रयास किया है।

4.1.2.2. युग-बोध

जयशंकर प्रसाद का युग सामाजिक, राजनैतिक और साहित्यिक उथल-पुथल का युग था। देश में राष्ट्र-गौरव की भावना प्रचार पा रही थी जो भारत की प्राचीन सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परम्परा से अनुप्रेरित थी। इसलिए प्रसाद का जागरूक रचनाकार अपने युग की समस्याओं के प्रति भी सचेत है और उन्होंने अपने अनेक नाटकों में समकालीन समस्याओं का समाधान खोजने के लिए प्राचीन इतिहास का आश्रय लिया है। साथ ही उन्होंने अपने नाटकों द्वारा भारतीय इतिहास के ऐसे अंशों को भी प्रस्तुत किया है जो राष्ट्रीय व सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय हैं।

जयशंकर प्रसाद के युग में गाँधीजी का सत्याग्रह आन्दोलन देशव्यापी था। शासक वर्ग भक्षक हो चला था। आमजन में उत्तेजना फैल रही थी और पूर्ण स्वराज्य प्राप्ति की धूम मच रही थी। स्वतन्त्रता जन्मसिद्ध अधिकार और उसके लिए आन्दोलन न्यायसंगत समझा जा रहा था। प्रसाद ने इसी प्रकार की घटनाओं को आधार बनाकर 'विशाख' नाटक की रचना की है। नाग जाति की लक्ष्मी चन्द्रलेखा के उपभोग के लिए कामुक किन्नर नरदेव आतुर होता है और जैसे-तैसे उसका अपहरण भी कर लेता है। फिर तो समस्त नाग जाति विद्रोह का झण्डा ले उठ खड़ी होती है और अभीष्ट को प्राप्त करती है। नाग जाति द्वारा नरदेव के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा करने से प्रसाद का अप्रत्यक्ष संकेत है कि भारतीयों को भी अपनी लक्ष्मी का उद्धार करने के लिए विद्रोह करना चाहिए। 'विशाख' नाटक में महात्मा गाँधी ही प्रेमानन्द के रूप में इस सन्देश को सुना रहे हैं – "निर्बल भी हो, सत्य-पक्ष मत छोड़ना, शुचिता के इस कुहक-जाल को तोड़ना।" इस उपदेश से नरदेव का हृदय बदल जाता है और वह अपने दुष्कर्मों का प्रायश्चित करता है। वस्तुतः यह एक आशावादी सन्देश था जिसे प्रसाद अवसाद के उस काल में दुखी भारतीय जनता को प्रेमानन्द द्वारा समझा रहे हैं।

प्रसाद युग के राष्ट्रीय आन्दोलन में नारी जागरण का स्वर भी मुखर था। नारी की महत्ता और गरिमा में वृद्धि हुई थी एवं उसका कार्य-क्षेत्र और कार्य-प्रणाली भी बदल गई थी। राष्ट्रीय आन्दोलन में वह पुरुषों के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर आगे बढ़ रही थी। सदियों तक पराधीनता के बन्धनों में जकड़ी हुई नारी में भी आत्मविश्वास का भाव जाग्रत् हो रहा था। सरोजनी नायडू, कस्तूरबा गाँधी, कमला नेहरू, विजयलक्ष्मी पण्डित जैसी नारियाँ राष्ट्रीय आन्दोलन में कूद पड़ी थीं। जयशंकर प्रसाद अपने नाटकों में ऐसे अनेक नारी पात्रों का जीवन्त चित्रण करते हैं जिनमें राष्ट्रीय भावना कूट-कूट कर भरी हुई है और जो राष्ट्र के महायज्ञ में आहुति देने के लिए सदैव तत्पर हैं। उदाहरणार्थ प्रसाद के नाटक 'चन्द्रगुप्त' की अलका एक ऐसी ही नारी है जो धनुष चढ़ाकर विदेशी यवन सैनिकों का सामना करती है और तक्षशिला के नागरिकों में राष्ट्रीयता का मंत्र फूँकती है। नारी-स्वातन्त्र्य भी प्रसाद के युग की एक समस्या थी। 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में उन्होंने स्त्री-स्वातन्त्र्य का समर्थन विवाह मोक्ष की आज्ञा दिलवाकर किया है। ध्रुवस्वामिनी को क्लीव रामगुप्त को त्यागने का पूर्ण अधिकार है।

विदेशी शासन और उसकी विभाजन नीति के कारण हिन्दू-मुसलमानों में संघर्ष प्रारम्भ हो गया था और इस संघर्ष के कारण सम्पूर्ण राष्ट्र को एकसूत्र में संगठित करने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी थी। इसी आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए जयशंकर प्रसाद ने जहाँ एक ओर 'चन्द्रगुप्त' नाटक में प्रादेशिकता की भावना से दूर रहने का स्वर उद्घोषित किया है एवं आपसी भेदभाव को भूलकर आन्तरिक संगठन द्वारा विदेशी आक्रान्ता को बाहर निकाल फेंकने का सन्देश दिया है, वहीं 'स्कन्दगुप्त' नाटक में भटार्क द्वारा अनन्तदेवी के माध्यम से उन लोगों की खूब भर्त्सना की है जो निजी स्वार्थ, पद-लालसा अथवा अन्य किसी प्रकार के प्रलोभन में फँसकर अपने देश के साथ विश्वासघात करते हैं और राष्ट्रद्रोह का जघन्य अपराध करते हैं।

इसके अतिरिक्त जयशंकर प्रसाद ने नवीन युग की नवीन परिस्थितियों के सर्वथा अनुपयुक्त प्राचीन नाट्य शैली के प्रति जन सामान्य का मोहभंग कर नये युग की नयी गति के साथ कदम-से-कदम मिलाकर बढ़ते चलने की अभिप्रेरणा दी है। नाटकों के क्षेत्र में अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता पश्चिम की देन है। तत्युगीन परिस्थितियों के अनुरूप भारत भी नवीन औद्योगीकरण के साथ-साथ पाश्चात्य जीवन-मूल्यों को अपना रहा था। प्रसाद ने अपने नाटकों में अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया और अपने नाटकों की शैली-शिल्प में परिवर्तन किया। उनका मानना है कि प्राचीन घिसी-पिटी शैली द्वारा राष्ट्रीय भावना से उद्वेलित नये युग को सफल और सार्थक अभिव्यक्ति प्रदान करना असम्भव है। जयशंकर प्रसाद मूलतः कवि थे, उनके नाटकों में उनके कवि रूप की झलक स्पष्ट रूप से मिलती है। उनकी व्यक्तिगत भावुकता ने ही उनके रचनात्मक व्यक्तित्व को अभिप्रेरित किया है। उनकी यह भावुकता नाटक के पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है।

4.1.2.3. प्रसाद के नाटक

जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक हिन्दी में मील के पत्थर सिद्ध हुए हैं। भारत के स्वर्णिम अतीत को अपने नाटकों की कथावस्तु बनाकर उन्होंने भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों को महत्त्व दिया और साथ ही ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का आधार ग्रहण करते हुए अतीत के पट पर वर्तमान का चित्र अंकित किया है। उनके नाटकों

में इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय हुआ है। प्रसाद हिन्दी के युगप्रवर्तक नाटककार भी माने जाते हैं। हिन्दी नाट्य साहित्य में प्रसाद के आगमन से 'प्रसाद युग' का सूत्रपात हुआ। उनके नाटकों में अतीत के इतिवृत्त को दार्शनिकता का आधार देते हुए प्रस्तुत किया गया है। त्याग और बलिदान की भावना से ओत-प्रोत प्रसाद के नारी पात्र भी पाठकों पर अपनी अमिट छाप छोड़ने में समर्थ हुए हैं। मूलतः कवि होने के कारण प्रसाद के नाटकों में भी काव्यात्मकता का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है। संस्कृतनिष्ठ परिमार्जित हिन्दी भाषा में लिखे गए प्रसाद के नाटकों की भाषा में साहित्यिकता का पुट विद्यमान है।

जयशंकर प्रसाद की प्रमुख नाट्यकृतियाँ हैं – सज्जन (1910 ई.), कल्याणी परिणय (1912 ई.), प्रायश्चित (1912 ई.), करुणालय (1913 ई.), राज्यश्री (1918 ई.), विशाख (1921 ई.), अजातशत्रु (1922 ई), कामना (1927 ई.), जनमेजय का नागयज्ञ (1926 ई.), स्कन्दगुप्त (1928 ई.), एक घूँट (1930 ई.), चन्द्रगुप्त (1931 ई.) और ध्रुवस्वामिनी (1933 ई.)

भारतेन्दु ने जिस नाट्यकला को जन्म दिया, जयशंकर प्रसाद ने उसे पल्लवित एवं विकसित करने का कार्य किया है। सांस्कृतिक बोध, उदात्त कल्पना, काव्यमयी भाषा, साहित्यिकता और दार्शनिकता प्रसाद के नाटकों की अन्यतम विशेषताएँ कही जा सकती हैं। उनके नाटक न सुखान्त हैं और न ही दुखान्त, अपितु वे प्रसादान्त हैं, नायक को अन्तिम फल मिलने के उपरान्त भी वहाँ विषाद की एक हल्की छाया शेष रह जाती है।

4.1.3. 'चन्द्रगुप्त' नाटक : संवेदना एवं शिल्प

जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित नाटक 'चन्द्रगुप्त' एक सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक है। प्रसाद का अनुशीलन करते हुए मानवीय चिन्तन, संवेदन, शिल्पगत वैशिष्ट्य और प्रयोगधर्मी स्वगत कथन पाठक का ध्यान केन्द्रित करते हैं। सभी पात्र चाहे वे मुख्य पात्र हों अथवा गौण, अनेक स्थलों पर अकेले में स्वयं से ही वार्तालाप करते हुए अपनी मनोदशा एवं आन्तरिक द्वन्द्व को सम्पूर्णता में अभिव्यक्त करते हैं। इनके माध्यम से पाठकों अथवा दर्शकों का पात्रों के द्वन्द्व अथवा मानसिक संघर्ष तथा चरित्र से सहज ही तालमेल बैठ जाता है। प्रसाद के जीवन-दर्शन, विचारधाराओं, वैयक्तिक धारणाओं एवं मूल भावों को 'चन्द्रगुप्त' नाटक के आलोक में समझा जा सकता है।

4.1.3.1. इतिहास और कल्पना

जयशंकर प्रसाद-कृत 'चन्द्रगुप्त' नाटक अतीत-गौरव, राष्ट्रीय एकता और देश-प्रेम की भावनाओं से ओत-प्रोत रचना है। इसमें एक ओर जहाँ इतिहासप्रसिद्ध व्यक्ति की कथा को आधार बनाया गया है वहीं साथ ही कल्पना का उपयोग करते हुए अनेक काल्पनिक पात्रों और घटनाओं का सृजन भी किया गया है। ऐतिहासिक नाटक इतिहास नहीं होता। यहाँ नाटककार को बिना किसी कारण के ऐतिहासिक तथ्यों में बदलाव करने का अधिकार भी प्राप्त नहीं होता। प्रसाद के नाटक उद्देश्यपूर्ण हैं। 'चन्द्रगुप्त' की कथावस्तु में इतिहास और कल्पना का संतुलित समन्वय किया गया है।

'चन्द्रगुप्त' नाटक में 326 ई.पू. से 306 ई.पू. तक की भारतीय राजनीति में घटने वाली प्रमुख घटनाओं को आधार बनाया गया है। ग्रीक सम्राट् सिकंदर ने 326 ई. पूर्व में भारत पर आक्रमण किया था, यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। इसके बाद उसके उत्तराधिकारी सेल्यूकस ने 306 ई.पू. में भारत पर पुनः आक्रमण किया था। 'चन्द्रगुप्त' नाटक का कथानक इन दोनों तिथियों के बीच का है। चन्द्रगुप्त ने चाणक्य की सहायता से मगध के विलासी शासक नन्द को मगध की सत्ता से हटाकर मगध साम्राज्य पर अपना अधिकार कर लिया था। ऐसी ही कुछ ऐतिहासिक कड़ियों को जोड़कर इस नाटक की रचना जयशंकर प्रसाद ने की है। पात्रों की ऐतिहासिकता, घटनाओं की ऐतिहासिकता तथा देशकाल व वातावरण की ऐतिहासिकता के आधार पर 'चन्द्रगुप्त' नाटक का विश्लेषण किया जा सकता है।

'चन्द्रगुप्त' नाटक के अधिकांश पात्र ऐतिहासिक हैं। इसमें चाणक्य, चन्द्रगुप्त, नन्द, राक्षस, शकटार वररुचि, सिकंदर, फिलिप्स, सेल्यूकस, एनीसाक्रोटीज, मेगस्थनीज, आम्भीक और पौरव आदि प्रमुख पुरुष पात्र हैं। स्त्री पात्रों में अधिकांश काल्पनिक हैं। उदाहरणार्थ कार्नेलिया और कल्याणी के नाम भले ही काल्पनिक हों, परन्तु इतिहास यह स्वीकार करता है कि चन्द्रगुप्त का विवाह सेल्यूकस की पुत्री और मगध के शासक की पुत्री से हुआ था। प्रसाद ने इसमें परिवर्तन करते हुए कार्नेलिया को सेल्यूकस को पुत्री मानकर उसका विवाह चन्द्रगुप्त के साथ होना दिखाया है। कल्याणी नाम पूरी तरह काल्पनिक है और उसके आत्मघात करने की घटना भी काल्पनिक है। सुवासिनी और उससे सबन्धित सारी घटनाएँ काल्पनिक हैं तथा अलका और मालविका भी काल्पनिक स्त्री पात्र प्रतीत होते हैं। वस्तुतः नाटकीयता का संचार करने के लिए प्रेम-प्रसंगों की अवतारणा तथा कथावस्तु को रोचक एवं गतिशील बनाने के लिए ऐसे पात्रों की कल्पना आवश्यक प्रतीत होती है।

तत्कालीन भारतीय स्वाधीनता संग्राम में भाग लेने के लिए सिंहरण जैसे वीर का उदात्त चरित्र न जाने कितने नौजवानों के लिए प्रेरक बना। इसी प्रकार अलका के रूप में एक ऐसी भारतीय नारी के जीवन दर्शन होते हैं जो राष्ट्र का सम्मान और गौरव स्थिर रखने हेतु त्याग और बलिदान का अभूतपूर्व उदाहरण प्रस्तुत करती है। चन्द्रगुप्त इस नाटक का सर्वाधिक सशक्त पात्र है। प्रसाद ने चन्द्रगुप्त को मौर्य्य सेनापति का पुत्र माना है जो पिप्पली कानन के वृषल क्षत्रिय थे। बौद्धों के प्रभाव से वैदिक कर्मकाण्ड का लोप हो जाने से इन्हें वृषलत्व प्राप्त हुआ था। साथ ही प्रसाद यह भी स्वीकार करते हैं कि चन्द्रगुप्त में राजन्य संस्कृति के सभी लक्षण मौजूद थे।

मगधसम्राट् नन्द द्वारा चाणक्य का अपमान लोकप्रसिद्ध घटना है। राजसभा में नन्द द्वारा अपमानित चाणक्य ने नन्दवंश के समूल नाश की प्रतिज्ञा की थी और चन्द्रगुप्त को माध्यम बनाकर उसने मगध के विलासी अत्याचारी राजा नन्द को सत्ताच्युत करके अपनी प्रतिज्ञा पूरी की। इस प्रसंग में प्रसाद ने नन्द का विनाश शकटार द्वारा छुरी मारकर करवाया है जो कि काल्पनिक घटना प्रतीत होती है। सम्भवतः प्रसाद चन्द्रगुप्त को हत्या के कलंक से बचाना चाहते हैं, इसलिए वे कथावस्तु में ऐतिहासिकता की बजाय काल्पनिकता का सहारा लेते हुए रचनात्मक ढंग से अपेक्षित परिवर्तन करते हैं।

'चन्द्रगुप्त' नाटक में प्रसाद ने जिन घटनाओं का संयोजन किया है, उनमें अधिकांश ऐतिहासिक हैं, लेकिन काल्पनिक घटनाएँ भी विपुल मात्रा में हैं। उदाहरणार्थ जहाँ एक ओर गान्धार नरेश द्वारा यवनों को निरापद मार्ग देने हेतु रिश्वत लेना, तक्षशिला में चाणक्य और चन्द्रगुप्त द्वारा शिक्षा ग्रहण करना एवं चाणक्य द्वारा वहाँ अध्यापन करना, नन्द द्वारा चाणक्य का अपमान और चाणक्य द्वारा नन्द वंश के सर्वनाश की प्रतिज्ञा, चन्द्रगुप्त द्वारा नन्द को सत्ताच्युत करके मगध का राजा बनना आदि इतिहाससम्मत प्रसंग हैं, वहीं दूसरी ओर चाणक्य का सुवासिनी से प्रेम, पर्वतेश्वर और अलका का प्रेम, राक्षस और चाणक्य की कूटनीतिक चतुराई के प्रसंग, शकटार और कल्याणी के आत्मघात आदि घटनाएँ काल्पनिक हैं।

'चन्द्रगुप्त' जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित एक ऐसा ऐतिहासिक नाटक है जिसमें इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय हुआ है। आलोच्य नाटक की भूमिका में उन्होंने ऐतिहासिक तथ्यों को प्रमाण सहित प्रस्तुत किया है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में पूरा प्रयास किया गया है कि देश, काल और वातावरण का चित्रण तर्कसंगत एवं ऐतिहासिक हो।

4.1.3.2. 'चन्द्रगुप्त' नाटक और प्रसाद का वैचारिक परिप्रेक्ष्य

सांस्कृतिक परम्परा को अक्षुण्ण गौरव, युग चेतना को सशक्त स्वर और स्वर्णिम भविष्य के स्वस्थ स्वप्नों को रूप-रंग प्रदान करने वाले जयशंकर प्रसादहिन्दी के नाट्य-साहित्य की एक प्रबुद्ध लहर थे। उनकी वैचारिकता का आधार मुख्यतः भारतीय संस्कृति और गौरव की संवेदना को प्रसारित करना रहा है। उनकी महत्त्वपूर्ण कृति 'चन्द्रगुप्त' नाटक भारतीय संस्कृति की शालीनता, राष्ट्रीयता के उद्‌बोधन, लोककल्याण के महती आदर्श और युग व समाज की आशा-आकांक्षा से परिपूरित है। राष्ट्रीयता एक मिश्रित मनोदशा है जिसमें देश-प्रेम के साथ उसकी उन्नति की अभिलाषा और उसके अतीत एवं वर्तमान के प्रति गर्व की भावना होती है।

जयशंकर प्रसाद ने भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार की कल्पना को साकार करने के लिए ही 'चन्द्रगुप्त' की रचना की है। 'चन्द्रगुप्त' एक ऐतिहासिक नाटक है। नाटक के प्रारम्भ में दी गई भूमिका प्रसाद की तद्विषयक ऐतिहासिक धारणाओं का सुन्दर परिचय देती है। उन्होंने यूनानी-लैटिन वृतान्तों तथा भारतीय ऐतिहासिक आधारों का विश्लेषण कर जो स्थूल नाटकीय सृष्टि की है, उसका ढाँचा इतिहास से अनुमोदित है।

4.1.3.3. 'चन्द्रगुप्त' नाटक का शिल्प-विधान

'चन्द्रगुप्त' नाटक की कथावस्तु में इतिहास और कल्पना का मणिकांचन समन्वय देखने को मिलता है। इसमें एक ओर जहाँ पुरुष पात्र ऐतिहासिक हैं, वहीं दूसरी ओर स्त्री पात्र काल्पनिक हैं। नाटक की कथावस्तु को चार अंकों में विभाजित किया गया है। कथानक की समस्त घटनाएँ परस्पर सम्बद्ध हैं। नाटक के पहले अंक में ग्यारह दृश्य हैं, द्वितीय और तृतीय अंक में नौ जबकि चतुर्थ अंक में चौदह दृश्य हैं। इस प्रकार दृश्यों की कुल संख्या 43 है। सभी दृश्यों का विधान रंगमंच पर करपाना सरल नहीं है।

प्रसाद ने ऐतिहासिक पात्रों के चरित्र को इतिहास के अनुरूप ही रखा है, किन्तु काल्पनिक चरित्रों का संयोजन वे सन्दर्भानुसार करते हैं। नाटक में प्रस्तुत राजसभाओं का परिदृश्य ऐतिहासिक है। महात्मा दाण्ड्यायन का आश्रम भी वातावरण की सफल प्रस्तुति में सहायक सिद्ध हुआ है। नाटक की संवाद योजना स्तरीय है। संवाद छोटे-छोटे एवं सरल हैं, लेकिन कहीं-कहीं वे लम्बे एवं दार्शनिक विवेचन होने से बोझिल एवं दुरूह हो गए हैं। स्वगत कथनों से भी रंगमंच व अभिनेयता में बाधा उत्पन्न होती है।

जयशंकर प्रसाद की भाषा संस्कृतनिष्ठ और तत्सम शब्दावली से पूर्ण परिनिष्ठित हिन्दी है। भाषिक क्लिष्टता नाटक की अभिनेयता में बाधा पहुँचाती है। नाटक में दार्शनिक कथनों की बहुतायत है, गीत भी अधिक संख्या में हैं अतः इसे रंगमंच पर प्रस्तुत करना कठिन है। फिर भी यदि इसे सफलतापूर्वक सम्पादित किया जाए, अभिनय में बाधक दृश्यों को निकाल दिया जाए, भाषा के क्लिष्टत्व को दूर किया जाए तथा अनावश्यक कथावस्तु एवं पात्रों को हटा दिया जाए तो इसे रंगमंच पर सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया जा सकता है।

4.1.4. 'चन्द्रगुप्त' नाटक का अवदान

जयशंकर प्रसाद की सांस्कृतिक चेतना मानववादी है। वे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के पक्षधर हैं तथा मानव को उन गुणों से समन्वित करना चाहते हैं जो उसकी मानवता का उत्कर्ष करने वाले हों। 'चन्द्रगुप्त' में इसी विचारधारा के अनुरूप पात्र-संयोजना एवं कथानक की सृष्टि की गई है। इस नाटक में प्रसाद ने साहित्यकार के महती दायित्व का निर्वहन करते हुए भारतीय इतिहास के उस कालखण्ड को नाटकीय घटनाक्रम से प्रस्तुत किया है जिसमें आचार्य चाणक्य के मार्गदर्शन तथा चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में भारत एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभरता है। मगध के राजा नन्द का भोग-विलास में लिप्त रहना तत्कालीन भारतीय राजाओं की भोगविलासी प्रवृत्ति का सूचक है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक के नारी पात्र अलका, मालविका स्वतन्त्रता-संग्राम में नारियों की सहभागिता को प्रतिबिम्बित करते हैं। 'चाणक्य' में गाँधीजी का प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है, जबकि चन्द्रगुप्त और सिंहरण में क्रमशः नेहरू और सुभाष का प्रतिरूप दिखाई पड़ता है। 'आम्भीक' उन देशद्रोहियों का प्रतीक है जो अंग्रेजों का साथ देते हैं और उनका समर्थन करते हैं। सिकंदर और सेल्यूकस को उन अंग्रेज शासकों का प्रतीक माना जा सकता है जिनकी नीति साम्राज्यवादी थी तथा जनता का शोषण एवं अत्याचार करना ही उनका एकमात्र लक्ष्य था।

जयशंकर प्रसाद ने 'चन्द्रगुप्त' में भारतीय संस्कृति एवं जीवन-मूल्यों की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। कार्नेलिया इन्हीं से प्रभावित होकर भारत को अपना राष्ट्र मानकर यहीं रह जाती है। उसका विवाह चन्द्रगुप्त से होता है। भारत की महिमा का गान वह इन शब्दों में करती है –

अरुण यह मधुमय देश हमारा!
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभा पर नाच रही तरुशिखा मनोहर।
छिटका जीवन हरियाली पर मंगल कुंकुम सारा।
लघु सुरधनु से पंख पसारे, शीतल मलय समीर सहारे।

उड़ते खग जिस ओर मुँह किये, समझ नीड़ निज प्यारा।
बरसाती आँखों के बादल, बनते जहाँ भरे करुणा जल।
लहरें टकरातीं अनन्त की पाकर जहाँ किनारा।
हेम-कुम्भ ले उषा सवेरे, भरती ढुलकाती सुख मेरे।
मदिर ऊँघते रहते जब जग कर रजनी भर तारा।
अरुण यह मधुमय देश हमारा!

भारत की प्रशंसा करती हुई वह चन्द्रगुप्त से कहती है – "चन्द्रगुप्त, मुझे इस देश से जन्मभूमि के समान स्नेह होता जा रहा है। यहाँ के श्यामल-कुंज, घने जंगल, सरिताओं की माला पहने हुए शैल-श्रेणी, हरी-भरी वर्षा, गर्मी की चाँदनी, शीतकाल की धूप और भोले कृषक तथा सरल कृषक-बालिकायें, बाल्यकाल की सुनी हुई कहानियों की जीवित प्रतिमायें हैं। यह स्वप्नों का देश – यह त्याग और ज्ञान का पालना, यह प्रेम की रंगभूमि – भारत-भूमि क्या भुलायी जा सकती है ? कदापि नहीं – अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि है, यह भारत मानवता की जन्मभूमि है।"

पारस्परिक फूट के कारण बिखरे देश को सांस्कृतिक और भावात्मक एकता के सूत्र में बाँधकर विदेशी आक्रमण तथा अन्तर्विरोधों का क्षमतापूर्वक सामना करना एवं राष्ट्र-मंगल के लिए नवीन नीतियों की अवतारणा 'चन्द्रगुप्त' नाटक का मुख्य उद्देश्य है। इसी सार्थक उद्देश्य की पूर्ति में जयशंकर प्रसाद सफल हुए हैं।

4.1.5. पाठ-सार

जयशंकर प्रसाद हिन्दी के अप्रतिम नाटककार हैं। उनके नाटकों का आधार ऐतिहासिक और सांस्कृतिक है। भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी गहन आस्था थी इसलिए उन्होंने अपने नाटकों की कथावस्तु का चयन भारत के स्वर्णिम अतीत से किया है। 'चन्द्रगुप्त' में उन्होंने भारत के अतीत का अन्वेषण कर वर्तमान की समस्याओं का समाधान खोजने का प्रयास किया है। इसके मूल में उनकी उदात्त राष्ट्रीय-भावना निहित है। वे अनुभूति-प्रवण साहित्यकार एवं भारतीय संस्कृति के मर्मज्ञ हैं। अपनी रचनाओं में वे विभिन्न स्थलों पर विभिन्न प्रकार से राष्ट्रीय-सांस्कृतिक भावनाओं को प्रबुद्ध करने में सार्थक योगदान देते हैं। अभिनेयता की दृष्टि से सफल कृति न होने पर भी 'चन्द्रगुप्त' नाटक अपनी विषयवस्तु एवं शिल्प-विधान के कारण पाठकों को आकर्षित करता रहा है। इस कृति में अभिव्यक्त राष्ट्रीयता की भावना, देशप्रेम, अतीत गौरव एवं भारतीय संस्कृति का निरूपण इसे एक महान् नाट्य रचना के रूप में प्रतिष्ठित करता है। पात्रों के स्वगत कथनों द्वारा प्रसाद ने जिस राष्ट्रीय व सांस्कृतिक भावना को अभिव्यक्ति दी है उससे तत्युगीन हतोत्साहित भारतवासियों में आत्मविश्वास की भावना का सफल संचार हुआ है।

4.1.6. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. जैन, नेमीचन्द्र, आधुनिक हिन्दी नाटक एवं रंगमंच मेकमिलन प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. कुमार, सिद्धनाथ, प्रसाद के नाटक, अनुपम प्रकाशन, पटना.

3. शर्मा, राजनाथ, चन्द्रगुप्त : एक मूल्यांकन, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा.
4. रस्तोगी, गिरीश, जयशंकर प्रसाद और चन्द्रगुप्त, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद.
5. शर्मा, कृष्णदेव व अग्रवाल, माया, जयशंकर प्रसाद-कृत नाटक चन्द्रगुप्त : एक विवेचन, अनीता प्रकाशन, दिल्ली.
6. तनेजा, सत्येन्द्र कुमार (सं.), नाटककार जयशंकर प्रसाद, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.
7. व्यास, विनोदशंकर, प्रसाद और उनका साहित्य, हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी.
8. शर्मा, जगन्नाथ प्रसाद, प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

4.1.7. बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. चन्द्रगुप्त नाटक की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालिए।
2. जयशंकर प्रसाद की प्रमुख नाट्यकृतियों का उल्लेख कीजिए।
3. चन्द्रगुप्त नाटक के शिल्प-विधान को स्पष्ट कीजिए।
4. चन्द्रगुप्त नाटक के सन्दर्भ में जयशंकर प्रसाद की अन्तश्चेतना को समझाइए।
5. चन्द्रगुप्त नाटक की अभिनेयता पर संक्षिप्त चर्चा कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. 'चन्द्रगुप्त' नाटक की वस्तु एवं शिल्प को स्पष्टकीजिए।
2. 'चन्द्रगुप्त' नाटक में अभिव्यक्त जयशंकर प्रसाद की प्रयोगधर्मिता एवं समष्टि चेतना को स्पष्टकीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'चन्द्रगुप्त' नाटक के रचयिता हैं –

(क) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
(ख) जयशंकर प्रसाद
(ग) डॉ॰ धर्मवीर भारती
(घ) मोहन राकेश

2. जयशंकर प्रसाद कृत नाटक 'सज्जन' का प्रकाशन किस वर्ष हुआ ?

(क) 1905 ई. में
(ख) 1910 ई. में
(ग) 1915 ई. में

(घ) 1920 ई. में

3. 'चन्द्रगुप्त' नाटक की कथावस्तु को कितने अंकों में विभाजित किया गया है ?

(क) तीन

(ख) चार

(ग) पांच

(घ) सात

4. 'चन्द्रगुप्त' नाटक में दृश्यों की कुल संख्या है –

(क) 41

(ख) 42

(ग) 43

(घ) 44

5. जयशंकर प्रसाद की अन्तिम नाट्य कृति है –

(क) विशाख

(ख) एक घूँट

(ग) चन्द्रगुप्त

(घ) इनमें से कोई नहीं

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 4 : चन्द्रगुप्त

इकाई – 2 : 'चन्द्रगुप्त' नाटक में अभिव्यक्त सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना

इकाई की रूपरेखा

4.2.0. उद्देश्य कथन
4.2.1. प्रस्तावना
4.2.2. 'चन्द्रगुप्त' नाटक : देशकाल व वातावरण
4.2.2.1. रचनात्मक परिदृश्य
4.2.2.2. ऐतिहासिकता
4.2.2.3. 'चन्द्रगुप्त' नाटक की प्रासंगिकता
4.2.3. 'चन्द्रगुप्त' नाटक में सामाजिक चेतना
4.2.3.1. सामाजिक चेतना की अवधारणा
4.2.3.2. "चन्द्रगुप्त' नाटक में सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति
4.2.3.3. 'चन्द्रगुप्त' नाटक का सामाजिक अवदान
4.2.4. 'चन्द्रगुप्त' नाटक में सांस्कृतिक चेतना
4.2.4.1. 'चन्द्रगुप्त' नाटक में सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति
4.2.4.2. 'चन्द्रगुप्त' नाटक में सांस्कृतिक-दार्शनिक अभिव्यक्ति
4.2.5. पाठ-सार
4.2.6. शब्दावली
4.2.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
4.2.8. बोध प्रश्न

4.2.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. देशकाल व वातावरण के आलोक में 'चन्द्रगुप्त' नाटक की पृष्ठभूमि को समझ सकेंगे।
ii. 'चन्द्रगुप्त' नाटक में निहित सामाजिक चेतना का मूल्यांकन कर सकेंगे।
iii. सांस्कृतिक मूल्य एवं चेतना के परिप्रेक्ष्य में'चन्द्रगुप्त' नाटक का विवेचन कर सकेंगे।

4.2.1. प्रस्तावना

हिन्दी नाट्य साहित्य में जयशंकर प्रसाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनकी प्रसिद्ध नाट्यकृति 'चन्द्रगुप्त' में उनकी नाट्यकला का चरम उत्कर्ष सहज ही परिलक्षित होता है। प्रस्तुत पाठ में सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना के आलोक में 'चन्द्रगुप्त' नाटक का विश्लेषण किया गया है।

जयशंकर प्रसाद का युग नवोत्थान और सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना का था। वैसे तो तत्युगीन चेतना का श्रीगणेश भारतेन्दु युग से हो चुका था। प्रसाद ने इस चेतना को आगे बढ़ाया। स्वातन्त्र्य-आन्दोलन और गाँधी की विचारधारा ने जो भावात्मक और नैतिक वातावरण उत्पन्न किया, प्रसाद भी उससे अनुप्राणित हुए। तत्युगीन जीवन-मूल्य विषयक अपेक्षाओं को उन्होंने आस्था, करुणा, विश्वमैत्री, त्याग, शौर्य्य आदि के रूप में प्रतिष्ठापित किया। उनकी महत्त्वपूर्ण नाट्यकृति 'चन्द्रगुप्त' में उनका दृष्टिकोण स्वाधीनता आन्दोलन की राजनैतिक प्रेरणा से ही निर्धारित नहीं था, अपितु उसके साथ चलने वाली सामाजिक-सांस्कृतिक अपेक्षाओं, चारित्रिक विशेषताओं और भावात्मक क्रान्ति से भी प्रभावित था। प्रसाद अपने युग के वर्गीय चरित्र से भी भलीभाँति परिचित थे इसलिए 'चन्द्रगुप्त' में उच्चवर्ग की विलासिता और देश के प्रति कर्त्तव्यविमूढ़ता के संकेत यत्र-तत्र मिलते हैं। सामाजिक-सांस्कृतिक विषमताओं और अपेक्षाओं के मध्य खाई को, रचनात्मक व लेखकीय आदर्शों को प्रसाद ने प्रभावी ढंग से उभारा है।

4.2.2. 'चन्द्रगुप्त' नाटक : देशकाल व वातावरण

पात्र नाटककार की सर्जना होते हैं। उन पात्रों के माध्यम से नाटककार अपने हृदयगत भावों, आशाओं व आकांक्षाओं को ही अभिव्यक्ति प्रदान करता है। प्रत्येक कृति अपने देशकाल व वातावरण की उपज होती है। कृति का निर्माण युगीन सन्दर्भ में होता है। दूसरे शब्दों में युग की जड़ें अपनी रचना में दूर तक फैली होती हैं। साहित्य समाज का दर्पण होता है। जयशंकर प्रसाद-कृत 'चन्द्रगुप्त' नाटक में भी तत्युगीन परिस्थितियाँ सहज ही प्रतिबिम्बित होती है। सफल रचनाकार अपने समय की परिस्थितियों के प्रति सजग होता है। युगीन परिस्थितियों और प्रवृत्तियों के विषय में नाटककार अपनी विचारधारा निर्मित करता है और इसी विचारधारा को वह अपनी रचना के अन्तर्गत आदर्श रूप में प्रस्तुत करता है। जयशंकर प्रसाद के नाटक भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के उस युग के अवसाद काल की रचनाएँ हैं। उस समय जनसामान्य अपने अधिकारों के प्रति उदासीन हो चुका था। जयशंकर प्रसाद अपने युग के सत्य को अपने अन्तर्मन में सँजोकर नाट्यकर्म में प्रवृत्त हुए। पात्रों के स्वगत-कथनों द्वारा युगीन देश-काल व वातावरण को उन्होंने जीवन्त रूप में प्रस्तुत किया है।

4.2.2.1. रचनात्मक परिदृश्य

अवस्थानुकृति होने के कारण नाटक में युग-यथार्थ की अभिव्यक्ति-क्षमता प्रबल होती है। नाटककार पर युगीन प्रभाव जाने-अनजाने अवश्य पड़ता है। जिस समय जयशंकर प्रसाद ने 'चन्द्रगुप्त' की रचना की, उस समय भारत पराधीन था और स्वतन्त्रता की तीव्र आकांक्षा जनसामान्य में व्याप्त थी। भारतीय नेता उस समय स्वराज-प्राप्ति के लिए जी-जान से जुटे थे और अंग्रेजों का दमनचक्र उतनी ही तीव्र गति से उन्हें पीस रहा था। अंग्रेजी शासनकाल में भारतीय जनता न केवल राजनैतिक पराधीनता से ग्रस्त थी, अपितु सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक दुरावस्था ने उनके जीवन अधिक दुःसह्य बना दिया था।

प्रत्येक देशवासी अपनी जन्मभूमि के प्रति प्रेम, भक्ति व असीम श्रद्धा रखता है। उसे अपना देश महान् और सर्वश्रेष्ठ दिखाई देता है। 'चन्द्रगुप्त' में देश-प्रेम का यह आन्तरिक स्रोत पात्रों के स्वगत-कथनों में दिखलायी पड़ता है। प्रसाद ने अपनी जन्मभूमि को जननी-तुल्य मानकर उसे 'भारतमाता' कहा है। अपनी इसी भावना से अभिप्रेरित होकर उन्होंने नाट्यपात्रों के स्वगत-कथनों द्वारा भारत-भूमि की भौगोलिक श्रेष्ठता स्थापित की है। कहीं संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से और कहीं प्राकृतिक सुन्दरता की दृष्टि से अपनी जन्मभूमि को उन्होंने श्रेष्ठ सिद्ध किया है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में पात्रों के स्वगत-कथनों द्वारा देश-प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना अभिव्यक्त हुई है। जिस प्रकार पर्वतेश्वर का विरोध आम्भीक और नन्द कर रहे थे और यह बात नहीं समझ रहे थे कि पंचनद की रक्षा नहीं होगी तो मगध, मालव और गान्धार कोई न बचेगा, उसी प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन के दिनों में बहुत से लोग अंग्रेजों का समर्थन कर रहे थे। इसी आन्तरिक फूट और अवसरवादिता की प्रवृत्ति के कारण विदेशी शासकों को देश से नहीं हटाया जा सका था। देश के कोने-कोने से आन्तरिक विद्रोह को समाप्त करने की ओजस्वी वाणी फूट रही थी। जयशंकर प्रसाद भी इस युगीन चेतना से अछूते नहीं रह पाए। उन्होंने सिंहरण के स्वगत कथन द्वारा उन लोगों पर कटाक्ष किया है जो अपने स्वार्थ-पूर्ति के लिए अपने राष्ट्र के साथ विश्वासघात करके विदेशी आक्रमणकारियों को सहयोग देते हैं और राष्ट्र के विनाश में भागीदार बनते हैं। सिंहरण को जब ज्ञात होता है कि तक्षशिला का राजकुमार आम्भीक यवन आक्रमणकारियों के साथ मिल गया है तथा उन्हें सहायता भी प्रदान कर रहा है तो वह क्षुब्ध हो उठता है और कहता है कि "एक अग्निमय गन्धक का स्रोत आर्य्यावर्त्त के लौह-अस्त्रागार में घुसकर विस्फोट करेगा। चंचला रण-लक्ष्मी इन्द्रधनुष-सी विजय-माल हाथ में लिये उस सुन्दर नील-लोहित प्रलय-जलद में विचरण करेगी और वीर-हृदय मयूर-से नाचेंगे तब आओ देवि ! स्वागत !!"

अलका के स्वगत कथन में उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक चिन्तनशीलता को अभिव्यक्ति मिली है तथा उसके वैयक्तिक चिन्तन द्वारा राष्ट्रीयता की भावना का प्रकाशन हुआ है। देश की तत्कालीन परिस्थितियों के प्रति क्षोभ व्यक्त करती हुई वह कहती है – "आर्य्य चाणक्य और चन्द्रगुप्त – ये सभी यौवन के साथी। जब आँधी और कारक वृष्टि, अवर्षण और दावाग्नि का प्रकोप हो, तब देश की हरी-भरी खेत का रक्षक कौन होगा। शून्य व्योम प्रश्न को बिना उत्तर दिए लौटा देता है। ऐसे लोग भी जब आक्रमणकारियों के चंगुल में फँस रहे हो तब रक्षा की क्या आशा। जेलम के पार सेना उतरना चाहती है, उन्मत्त पर्वतेश्वर अपने विचारों में मग्न है। गान्धार छोड़कर चलूँ, नहीं। एक बार महात्मा दाण्ड्यायन को नमस्कार कर लूँ, उनसे शान्ति-सन्देश का कुछ प्रसाद लेकर तब अन्यत्र जाऊँगी।"

नाटक में चाणक्य केवल ब्राह्मण के तप, तेज, त्याग का चरम प्रतीक ही नहीं है, अपितु राष्ट्र की अखण्डता का सफल प्रमाण भी है। वह विदेशियों को पराजित करके उन्हें भारत से बाहर निकाल देने के साथ-साथ समस्त भारत को एक शासनसूत्र में बाँधकर एक योग्य शासक को उस साम्राज्य के सिंहासन पर मूर्धाभिषिक्त कर देश को बाहरी आक्रमणों एवं अन्तर्विद्रोहों से मुक्त कर देने का प्रयास करता है।

'चन्द्रगुप्त' के रचनात्मक परिदृश्य में जयशंकर प्रसाद की राष्ट्रीयता संकुचित न होकर विस्तृत एवं व्यापक है। प्रसाद ने विदेशियों के माध्यम से भी भारत के प्रति ममत्व भावना को उजागर किया है। कार्नेलिया भारतभूमि

का गौरवगान करती है। वह भारत के प्रति गहन आस्था का भाव रखती है। वह भारत की प्रत्येक वस्तु से प्रेम करती है और भारत को मानव जाति की जन्मभूमि मानती है।

4.2.2.2. ऐतिहासिकता

ऐतिहासिक नाटकों में देश-काल एवं वातावरण भी तत्कालीन इतिहास के अनुरूप होना चाहिए। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में जयशंकर प्रसाद ने पूरा प्रयास किया है कि देश-काल व वातावरण का चित्रण तर्कसंगत एवं ऐतिहासिक हो। तत्युगीन परिवेश में बौद्ध और ब्राह्मण धर्म का संघर्ष चरम पर था। महाराज नन्द बहुत विलासी था और उसका मंत्री राक्षस बौद्ध था। चाणक्य, शकटार और वररुचि (कात्यायन) हिन्दू धर्मावलम्बी थे। इनका पारस्परिक संघर्ष इसी सन्दर्भ में देखा जाना अपेक्षित है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में प्राचीन भारतीय शिक्षा संस्थानों के स्वरूप का सजीव चित्रण मिलता है। उदाहरणार्थ तक्षशिला में सभी विषयों में उच्च शिक्षा दी जाती थी। देश-विदेश से अनेक शिक्षार्थी यहाँ पढ़ने आते थे। इन गुरुकुलों में आचार्य की आज्ञा सर्वोपरि थी। तपस्वियों के आश्रम कितने महत्त्वपूर्ण थे, इसका परिचय महात्मा दाण्ड्यायन के आश्रम के चित्रण से मिलता है। दाण्ड्यायन निडर व निर्भीक स्वभाव के तपस्वी थे। भारत उस समय आन्तरिक कलह से जर्जरित छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। सम्पूर्ण भारत को एक राष्ट्र के रूप में देख सकने की क्षमता तत्युगीन राजाओं में नहीं थी। कुछ राजा विलासी और अहंकारी थे तो कुछ व्यक्तिगत स्वार्थ, मान-अपमान को इतना अधिक महत्त्व देते थे कि देश-हित उनके लिए गौण हो जाता था।

4.2.2.3. 'चन्द्रगुप्त' नाटक की प्रासंगिकता

'चन्द्रगुप्त' में वर्तमान को अतीत में प्रतिबिम्बित और पुनर्जीवित करने का प्रयास किया गया है। वैचारिक सन्दर्भ में वर्तमान की अभावमयी आवश्यकता ने प्रसाद को इतिहास की ओर उन्मुख किया था। सम्भव है कि इतिहास ने भी उन्हें वर्तमान की राष्ट्रीय समस्याओं की ओर उन्मुख किया हो। यही वजह है कि 'चन्द्रगुप्त' में राष्ट्रीय ऐक्य के भाव मुखर हुए हैं। देश-प्रेम की भावना 'चन्द्रगुप्त' में व्यापक विस्तार पाती है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक की प्रासंगिकता को निम्नलिखित बिन्दुओं में परिगणित किया जा सकता है –

i. 'चन्द्रगुप्त' नाटक में केवल राष्ट्रीय या ऐतिहासिक चरित्र की ही अभिव्यक्ति नहीं है, अपितु देश की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना और जीवन के प्रति विशिष्ट दृष्टि का भी प्रभावी चित्रण हुआ है।
ii. राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के विध्वंसक तत्त्वों भेदभाव आदि पर तीव्र प्रहार किया गया है।
iii. सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना को जयशंकर प्रसाद ने राष्ट्रीय एकता और सांस्कृतिक गरिमा के निहितार्थ ग्रहण किया है।
iv. समाज और संस्कृति को मानव जाति के उन्नयन का अंग मानते हुए नाटककार ने भारतीय संस्कृति के उदात्त स्वरूप का चित्रण किया है।

V. 'चन्द्रगुप्त' नाटक की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना और जीवन-दर्शन का मूल आधार मानवतावाद है जो अध्यात्म की पीठिका पर निर्मित है।

4.2.3. 'चन्द्रगुप्त' नाटक में सामाजिक चेतना

नाटक केवल मनोरंजन का साधन नहीं है। यदि कोई कृति सामान्य जन की आशाओं-आकांक्षाओं को अभिव्यक्त नहीं करती तो उसकी सर्जना निरर्थक है। जयशंकर प्रसाद भी नाट्य विधा की इस अपेक्षा से अनजान नहीं थे। नाट्य साहित्य और सामाजिक जीवन का सम्बन्ध अटूट होता है। समाज व मानव जीवन की विशिष्ट अनुभूतियों के विविध रंग ही नाटक में अभिव्यक्त होते हैं। कभी-कभी नाटककार के जीवन से ही कुछ ऐसे सूत्र निकल आते हैं जो उसकी मनोदशा को जानने व समझने में मदद करते हैं। 'चन्द्रगुप्त' में जयशंकर प्रसाद भारतीय जनजीवन को गहराई से देखने का प्रयास करते हैं। इसके लिए उन्होंने विभिन्न स्थानों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का गहरा अध्ययन और चिन्तन किया है। नाटक की कथावस्तु ऐतिहासिक होते हुए भी परोक्षतः नाटककार के समय की सामाजिक परिस्थितियों को संकेतित करती है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में "प्रसाद के नाटकों का शरीर जहाँ पूर्ण साहित्यिक है, वहाँ उनका मन अनिवार्यतः ऐतिहासिक है और उसकी आत्मा शुद्ध सामाजिक-सांस्कृतिक है।" राष्ट्र की पराधीनता से मुक्ति और इसके लिए सामूहिकसामाजिक प्रयत्नों को प्रसाद ने 'चन्द्रगुप्त' के माध्यम से प्रस्तुत किया है। यह प्रसाद का रचनात्मक वैशिष्ट्य है कि वे इतिहास के माध्यम से वर्तमान समय की सामाजिक समस्याओं को उद्घाटित करते हैं और साथ ही उनका निदान भी प्रस्तुत करते हैं।

4.2.3.1. सामाजिक चेतना की अवधारणा

जयशंकर प्रसाद जिस सामाजिक चेतना के प्रतिनिधि नाटककार हैं, उसका आधार राष्ट्रीय जागरण से सम्बन्धित राजनैतिक और सांस्कृतिक मूल्य हैं। ये सामाजिक और राजनैतिक मूल्य स्वाधीनता आन्दोलन से उत्पन्न हुए हैं। जिस समय और समाज ने जयशंकर प्रसाद की रचनादृष्टि का निर्माण किया है और उसे सामाजिक प्रतिबद्धता से जोड़ा है, वह समय और समाज भारत में सामाजिक और स्वाधीनता आन्दोलन की चरम अवस्था का समाज है। इस समय भारतीय सामाजिक चिन्तन की एक व्यापक और मानवीय भूमिका स्वतन्त्रता आन्दोलन के मूल में दिखाई देती है। 'चन्द्रगुप्त' में सामाजिक सुधार, सांस्कृतिक उन्नयन एवं मानवीय मूल्यों को भारतीय स्वाधीनता संग्राम से जोड़कर विदेशी शासन के विरुद्ध एक अत्यन्त सफल सामाजिक आन्दोलन के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

4.2.3.2. "चन्द्रगुप्त' नाटक में सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति

'चन्द्रगुप्त' नाटक में राष्ट्रीय प्रेम और राष्ट्रीय जागरण की भावना तो अभिव्यक्त हुई ही है, साथ ही उसमें भारतीय मूल्यों व जीवनादर्शों का स्वरूप भी व्यापक रूप से प्रकट हुआ है। जातीय जीवन के सभी पक्षों और सम्बन्धों को केन्द्रित कर सामाजिक जीवन-मूल्यों या आदर्शों को प्रकाशित करने के अवसरों को 'चन्द्रगुप्त' की

नाट्य चेतना में सहज ही महसूस किया जा सकता है। नाटककार ने नाट्यवस्तु को ऐसे विराट् फलक पर उकेरा है जहाँ व्यक्तिगत जीवन और पारिवारिक सम्बन्धों से व्यापक राष्ट्रीय सामाजिक सम्बन्धों की विषमताएँ और अपेक्षाएँ अभिव्यक्त होती हैं। उदाहरणार्थ 'चन्द्रगुप्त' नाटक के प्रारम्भ में ही सिंहरण राजद्वेष के कारण को जानने का प्रयत्न करता हुआ भावी समाज की चिन्ता से दुखी होता है। जब उसे यह ज्ञात होता है कि तक्षशिला का राजकुमार आम्भीक यवनों के साथ मिल गया है तो वह बहुत दुखी होता है। साथ ही वह इस बात से भी दुखी होता है कि देश पर आक्रमण क्यों हो रहे हैं, उससे समाज और देश का अहित होगा।

चन्द्रगुप्त मौर्य्य के समय देश की सामाजिक और राजनैतिक स्थितियाँ विकट थीं। समाज और देश का हित सोचने वालों की संख्या न्यून थी। अधिकांश लोग स्वार्थी थे। राष्ट्र-हितैषियों के साथ क्रूरता का व्यवहार किया जाता था। राजनीति धर्मान्धता से अभिप्रेरित थी। चाणक्य के निम्नलिखित स्वगत कथन में तत्युगीन सामाजिक परिस्थितियों का प्रकाशन हुआ है – "समीर की गति भी अवरुद्ध है, शरीर का फिर क्या कहना है। परन्तु मन में इतने संकल्प और विकल्प। एक बार निकलने पाता तो दिखा देता कि इन दुर्बल हाथों में साम्राज्य उलटने की शक्ति है और ब्राह्मण के कोमल हृदय में कर्त्तव्य के लिए प्रलय की आँधी चला देने की भी कठोरता है। जकड़ी हुई लौह-शृंखले ! एक बार तू फूलों की माला बन जा और मैं मदोन्मत्त विलासी के समान तेरी सुन्दरता को भंग कर दूँ। क्या रोने लगूँ ! इस निष्ठुर यन्त्रणा की कठोरता से बिल-बिलाकर दया की भिक्षा माँगू। माँगू कि मुझे भोजन के लिए एक मुट्ठी चने जो देते हो, न दो, एक बार स्वतन्त्र कर दो। नहीं, चाणक्य ! ऐसा न करना, न तो तू भी साधारण-सी ठोकर खाकर चूर-चूर हो जाने वाली एक बामी हो जाएगा। तब मैं आज से प्रण करता हूँ कि दया किसी से न माँगूगा और अधिकार तथा अवसर मिलने पर किसी पर अत्याचार न करूँगा। क्या कभी नहीं। हाँ-हाँ, किसी पर नहीं। मैं प्रलय के समान अबाध गति और कर्त्तव्य में इन्द्र के वज्र के समान भयानक बनूँगा।"

नाटककार उद्घाटित करता है कि यवन आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मण का भेद न रखेंगे। राक्षस के स्वगत कथन में भी इसी तथ्य को प्रकट किया गया है – "एक दिन चाणक्य ने कहा था कि आक्रमणकारी यवन ब्राह्मण और बौद्धों का भेद न मानेंगे। यही बात ठीक उतरी। यदि मालव और क्षुद्र परास्त हो जाते और यवन सेना शतद्रु पार कर जाती तो मगध का नाश निश्चित था।"

जीवन का वह सत्य जो साहित्यकार जीवन जीते और भोगते हुए अनुभव करता है, वही उसकी रचना को प्रामाणिक एवं प्रभावी बनाता है। 'चन्द्रगुप्त' तत्युगीन समाज की सही पहचान तलाशती है और उसकी उज्ज्वल सम्भावनाएँ बनाती हैं। प्रसाद जीवन जीने के लिए और भोगे हुए सामाजिक यथार्थ को 'चन्द्रगुप्त' के व्यापक फलक पर बड़ी सफलता और सार्थकता के साथ पुनः प्रस्तुत करते हैं।

4.2.3.3. 'चन्द्रगुप्त' नाटक का सामाजिक अवदान

किसी भी समय का एक देश-काल व वातावरण होता है। उस देश-काल का स्वरूप और विकास तीन तत्त्वों के योग से निर्मित होता है। पहला तत्त्व चिरन्तन मूल्यों या जीवनादर्शों का होता है जो मनुष्य की मनुष्यता

को निर्धारित करते हैं। मनुष्यता की पहचान कराने वाले मूल्य एक समय में जितना महत्त्व रखते हैं, उतना ही दूसरे समय की भिन्न ऐतिहासिक स्थितियों में भी सार्थक प्रतीत होते हैं। तप, त्याग, सहिष्णुता, सेवाधर्म आदि मानव जीवन की वे युगधर्मी विशेषताएँ और व्यवहार हैं जिन्हें प्रत्येक समय का नागरिक समाज समान महत्त्व देता है। सामाजिक चेतना की उच्च भूमि के बोधक इन मूल्यों को प्रसाद के नाटक सशक्त रूप में अभिव्यक्त करते हैं। मनुष्यता भारतीय जीवन मूल्य एवं पद्धति का सामाजिक-सांस्कृतिक आधार है जिसे पुनर्प्रतिष्ठित करना प्रसाद की रचनात्मकता का प्रधान उद्देश्य है। प्रसाद ने ऐतिहासिक नाटकों का सृजन साभिप्राय किया है। 'चन्द्रगुप्त' में अतीत के सामाजिक जीवनादर्शों, राष्ट्रभक्ति के स्वरूप एवं धर्म के चिरन्तनत्व का गौरवगान उन्होंने अपने युग की राष्ट्रीय सामाजिक चेतना को अभिप्रेरित करने के लिए ही किया है। इस सन्दर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन द्रष्टव्य है – "यद्यपि प्रसाद के नाटक ऐतिहासिक हैं, पर उसमें आधुनिक सन्दर्भों और भावनाओं का आभास इधर-उधर बिखरा मिलता है। स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त दोनों में स्वदेश-प्रेम, विश्वप्रेम और आध्यात्मिकता का आधुनिक रूप-रंग बराबर मिलता है।"

4.2.4. 'चन्द्रगुप्त' नाटक में सांस्कृतिक चेतना

सभ्यता के परिवर्तित होते रूपों के साथ रचनात्मक कर्म कठिन होता जा रहा है। इस युग में वही रचना श्रेष्ठ है जो जन सामान्य के यथार्थ को, उसके परिवेश को, उसके मूल्य एवं परम्पराओं को और उसके रोजमर्रा के संसार का सूक्ष्म निरीक्षण-विश्लेषण करे और अपने में समाहित कर ले। जयशंकर प्रसाद राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना के पैरोकार हैं। उनकी नाट्य रचनाओं के विविध पड़ाव उनके सामाजिक-सांस्कृतिक दर्शन व दृष्टि को प्रतिबिम्बित करते हैं। 'चन्द्रगुप्त' नाटक इस कसौटी पर खरा उतरता है।

4.2.4.1. 'चन्द्रगुप्त' नाटक में सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति

राजकीय-सांस्कृतिक भावनाओं से ओत-प्रोत 'चन्द्रगुप्त' नाटक का निर्माण प्रसाद की नाट्यकला की क्षमता का महत्त्वपूर्ण आयाम है। यह सांस्कृतिक चेतना का उर्जस्वित नाटक है। इसमें प्रसादयुगीन राष्ट्रीयता को ऐतिहासिक सन्दर्भ में देखा गया है। 'चन्द्रगुप्त' का प्रकाशनकाल 1931 ई. है, जब राष्ट्रीय आन्दोलन में गाँधीजी के अस्त्र 'सत्य और अहिंसा' का प्रयोग कसौटी पर था और उग्रपंथी दलों ने हथियार उठाने का आग्रह करना प्रारम्भ कर दिया था। विदेशियों ने भेदनीति का पासा चल दिया था। पंजाब, बंगाल, बिहार, असम को वे शेष भारत से अलग-थलग कर देना चाहते थे। जातिगत और वर्गगत भेद भी उभारे जा रहे थे। महात्मा गाँधी तथा अन्य नेता समग्र राष्ट्रीयता की भावना को उजागर करने में लगे हुए थे। ऐसे अवसर पर जयशंकर प्रसाद तक्षशिला में चाणक्य के द्वारा यह कहलवाते हैं कि "तुम मालव हो और यह मागध, यही तुम्हारे मान का अवसान है न? परन्तु आत्म-सम्मान इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होगा। मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्य्यावर्त्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा। क्या तुम नहीं देखते हो कि आगामी दिवसों में, आर्य्यावर्त्त के सब स्वतन्त्र राष्ट्र एक के अनन्तर दूसरे विदेशी विजेता से पददलित होंगे ? आज जिस व्यंग्य को लेकर इतनी घटना हो गयी है, वह बात भावी गान्धार-नरेश आम्भीक के हृदय में शल्य के समान चुभ गयी है। पंचनद-नरेश पर्वतेश्वर के विरोध के कारण

यह क्षुद्र-हृदय आम्भीक यवनों का स्वागत करेगा और आर्य्यावर्त्त का सर्वनाश होगा।" इसी राष्ट्रीय, सामाजिक एवं सांस्कृतिक एकता की भावना को अभिव्यक्त करते हुए सिंहरण कहता है कि "परन्तु मेरा देश मालव ही नहीं, गान्धार भी है। यही क्यों, समग्र आर्य्यावर्त्त है।" अलका भी गान्धार को विस्मृत कर कहती है कि "जिस देश में ऐसे वीर युवक हों, उसका पतन असम्भव है। मालव वीर, तुम्हारे मनोबल में स्वतन्त्रता है और तुम्हारी दृढ़ भुजाओं में आर्य्यावर्त्त के रक्षण की शक्ति है; तुम्हें सुरक्षित रहना ही चाहिए। मैं भी आर्य्यावर्त्त की बालिका हूँ।" वस्तुतः अलका के चरित्र का निर्माण जयशंकर प्रसाद राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने वाली राष्ट्रीय आन्दोलन में बढ़-चढ़ कर भाग लेने वाली किशोरियों को दृष्टि में रखकर ही किया है। उन दिनों सम्भ्रान्त घरों की महिलाएँ व किशोरियाँ भी तिरंगा झण्डा लेकर गली-गली जातीं और राष्ट्र-सेवा का अलख जगाती थीं। उन दिनों इस गीत के भावों की अनुगूँज सर्वत्र सुनने को मिलती थीं –

हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयंप्रभा समुज्वला स्वतन्त्रता पुकारती –
अमर्त्त्य वीरपुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पन्थ है – बढ़े चलो – बढ़े चलो!
असंख्य कीर्त्ति-रश्मियाँ, विकीर्ण दिव्य दाह-सी।
सपूत मातृभूमि के रुको न शूर साहसी!
अराति सैन्य सिन्धु में – सुवाड़वाग्नि-से जलो!
प्रवीर हो जयी बनो – बढ़े चलो, बढ़े चलो!

जिस प्रकार आम्भीक और नन्द पर्वतेश्वर का विरोध कर रहे थे और यह बात नहीं समझ रहे थे कि पंचनद की रक्षा न होगी तो मगध, मालव और गान्धार कोई न बचेगा उसी प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलनों के दिनों में बहुत से वर्ग और दल अंग्रेजों का समर्थन कर रहे थे। फूट और आन्तरिक विद्रोह के कारण विदेशियों को देश से खदेड़ने में सफलता नहीं मिल रही थी। जयशंकर प्रसाद ने 'चन्द्रगुप्त' के माध्यम से देश-प्रेम और राष्ट्रीयता की प्रेरणा दी। उन्होंने चाणक्य और चन्द्रगुप्त के माध्यम से देश को एकसूत्र में बाँध दिया। सांस्कृतिक ऐक्य के सन्देश से राष्ट्र के कोने-कोने से आन्तरिक विग्रह को समाप्त करने की ज्वाला फूट पड़ी।

'चन्द्रगुप्त' नाटक के माध्यम से नाटककार ने केवल ऐतिहासिक या राष्ट्रीय चरित्र को ही अभिव्यक्त नहीं किया है, अपितु देश की सांस्कृतिक चेतना और जीवन के प्रति विशिष्ट दृष्टिकोण का भी चित्रण किया है। जिस प्रकार के सांस्कृतिक वातावरण का निर्माण प्रसाद करना चाहते थे, उसमें आधुनिक भारतीय समस्याओं का भी चित्रण है। राष्ट्रीय एकता के विध्वंसक तत्त्वों पर उन्होंने जोरदार प्रहार किया है। जयशंकर प्रसाद की सांस्कृतिक चेतना के सन्दर्भ में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का यह कथन द्रष्टव्य है – "दर्शन को प्रसाद ने सर्वत्र अपने साथ रखने का प्रयत्न किया है। उनके नाटकों में सर्वत्र दर्शन है। कहीं-कहीं उनकी दार्शनिकता उनकी नाटकीय कला में विघ्न भी उपस्थित करती है। फिर भी उन्होंने उत्कृष्ट दार्शनिक भावना को नहीं छोड़ा। प्रसाद की इस सांस्कृतिक चेतना का मूल आधार मानवतावाद है जो कि भौतिकवादी जीवन दृष्टि और अध्यात्म के संयोग से बना है।"

4.2.4.2. 'चन्द्रगुप्त' नाटक में सांस्कृतिक-दार्शनिक अभिव्यक्ति

जयशंकर प्रसाद शास्त्रीय प्रवृत्तियों के नाटककार हैं। उनकी भावयित्री प्रतिभा पर शैवागम, बौद्ध दर्शन तथा मानवतावाद के प्रभावस्वरूप ही 'चन्द्रगुप्त' में प्रवृत्ति-निवृत्ति, कर्म-भोग, अतीत-वर्तमान का अद्भुत सामंजस्य देखने को मिलता है। इसमें मानव विघटन की अपेक्षा उसके कर्मशील जीवन के प्रति प्रेरणाप्रद संकेत विद्यमान हैं यद्यपि भावुक जीवन की दुर्बलताएँ जैसे कहीं-कहीं सीमाएँ बाँध देती हैं। आत्म-प्रसार प्रसाद युग की एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति रही है। इस सन्दर्भ में प्रो० नामवर सिंह का कथन द्रष्टव्य है – "छायावादी कवियों ने जो आत्माभिव्यक्ति की आकांक्षा प्रकट की, वह वस्तुतः आत्म-प्रसार की आकांक्षा थी। आत्म-प्रसार की इस आकांक्षा से उनके समक्ष संसार के विराट् रूप की सृष्टि हुई जिसकी अनुभूति कराने का श्रेय पुनरुत्थान की भावना और प्राचीन दर्शन को है।"

प्रसाद का सारा युग आध्यात्मिक चेतना से अनुप्राणित था। राजनीति के क्षेत्र में जहाँ गाँधी और तिलक इसके उदाहरण थे तो वहीं साधना के क्षेत्र में रामकृष्ण परमहंस, रामतीर्थ, विवेकानन्द आदि। 'चन्द्रगुप्त' में पुरातन दार्शनिक चिन्तन की अन्तःसलिला का सहज प्रवाह स्पष्ट परिलक्षित होता है। प्रसाद ने दाण्ड्यायन के माध्यम से विश्वात्मा की दार्शनिक-सांस्कृतिक विवेचना किया है। उदाहरण के लिए भूमा का सुख और उसकी महत्ता का आभास पाने वाला यह तपस्वी प्रकृति के अतिरिक्त किसी का शासन स्वीकार नहीं करता। वे कहते हैं – "मेरी आवश्यकताएँ परमात्मा की विभूति प्रकृति पूरी करती है। ... समस्त आलोक, चैतन्य और प्राणशक्ति प्रभु की दी हुई है।" गीता के आत्मा सम्बन्धी विचार के अनुरूप वे कहते हैं – "यदि तुम हठात् ले जाना चाहो तो केवल मेरे शरीर को ले जा सकते हो, मेरी स्वतन्त्र आत्मा पर तुम्हारे देवपुत्र का भी अधिकार नहीं हो सकता।" दाण्ड्यायन की निर्भीक आत्मा के इस स्वर में प्रसाद ने वस्तुतः काल के विश्रान्तहीन प्रवाह की महत्ता अभिव्यक्त की है। छान्दोग्य उपनिषद् में भूमा को इसी के अनुरूप अमृत तत्त्व माना गया है और भूमा को सुखों से मण्डित ही नहीं, अपितु अपूर्ण की पूर्णत्वमें परिणत होने वाली लोकमंगलमयी चेतना भी बताया गया है। दाण्ड्यायन की भाँति चाणक्य भी इसी दार्शनिक व सांस्कृतिक चेतना के वाहक हैं।

'चन्द्रगुप्त' में ब्राह्मणत्व एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धि वैभव है और उसमें करुणा भी चाणक्य जैसे कठोर ब्राह्मण का साम्राज्य बन जाती है। करुणा के इस विस्तार और दुःख की सृष्टि के मूल में अस्वीकार करने की भावना के पीछे वैदिक, औपनिषदिक तथा शैव चिन्तन का प्रभाव ही कार्य करता प्रतीत होता है। आलोच्य कृति में 'मैं क्षणिक जीवन की घड़ियों को सुखी बनाने का पक्षपाती हूँ' जैसा भाव भी है तो भोग की विरति भी और कल्याणी की यह मनःस्थिति भी कि 'सुख अच्छा है या दुःख।' कुल मिलाकर एक अन्तर्विरोध को मन में लिए जयशंकर प्रसाद अपने सामरस्यवादी चिन्तन तक पहुँचने लगते हैं।

4.2.5. पाठ-सार

जयशंकर प्रसाद प्राचीन दर्शन से ही नहीं, अपितु प्राचीन काव्य से भी प्रेरित और प्रभावी थे। उन्होंने रामायण, महाभारत जैसे महाकाव्य से ही प्रेरणा ग्रहण नहीं की, बल्कि भावना के क्षेत्र में कालिदास, अश्वघोष, भारवि, भवभूति, जयदेव, विद्यापति, सूर, तुलसी, जायसी आदि की काव्य-परम्परा के भी वे वाहक थे। 'चन्द्रगुप्त' में भारतीय साहित्य परम्परा के दाय को आत्मसात करने में जयशंकर प्रसाद ने अपनी अद्वितीय क्षमता का परिचय दिया है। उनकी रोमानी प्रवृत्ति ने अतीतकालीन साहित्य में रोमांटिक तत्त्वों का चयन कर अपने को पुष्ट किया, किन्तु वर्तमान की भी उन्होंने उपेक्षा नहीं की है। यही वजह है कि उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के नवीन और क्रान्तिकारी विचारकों के प्रभाव को भी वे ग्रहण किए बिना नहीं रहे। इनमें फ्रायड, डार्विन और मार्क्स विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उदाहरणार्थ 'चन्द्रगुप्त' के नारी पात्रों में काम भावना के दमन और उन्नयन का चित्रण करने में उन्होंने फ्रायड के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को स्वीकार किया है। इस प्रकार 'चन्द्रगुप्त' समन्वित नाट्य विधा की एक विराट् चेष्टा है जिसमें जयशंकर प्रसाद की पुनरुत्थान की भावना, राष्ट्रीयता के प्रति उनके उत्कट आग्रह तथा सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना व दार्शनिक चिन्तन आदि को देखते हुए यह कहना कदाचित् अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि वे एक संवेदनशील व सशक्त नाटककार हैं और सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना के निहितार्थ 'चन्द्रगुप्त' हिन्दी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय रचना है।

4.2.6. शब्दावली

चेतना	:	बोध, संज्ञान
विराट्	:	विशाल, व्यापक, विस्तृत
प्रवृत्ति	:	आदत, व्यवहार
उदात्त	:	श्रेष्ठ
सार्वभौम	:	कालजयी

4.2.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. जैन, नेमीचन्द्र, आधुनिक हिन्दी नाटक एवं रंगमंच, मेकमिलन प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. शर्मा, राजनाथ, चन्द्रगुप्त : एक मूल्यांकन, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा.
3. रस्तोगी, गिरीश, जयशंकर प्रसाद और चन्द्रगुप्त, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद.
4. शर्मा, कृष्णदेव व अग्रवाल, माया, जयशंकर प्रसाद कृत नाटक चन्द्रगुप्त : एक विवेचन, अनीता प्रकाशन, दिल्ली.
5. तनेजा, सत्येन्द्र कुमार (सं.), नाटककार जयशंकर प्रसाद, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.
6. व्यास, विनोदशंकर, प्रसाद और उनका साहित्य, हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी.
7. शर्मा, जगन्नाथ प्रसाद, प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

4.2.8. बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. चन्द्रगुप्त नाटक की सामाजिक चेतना पर प्रकाश डालिए।
2. " 'चन्द्रगुप्त' नाटक में राष्ट्रीय एकता और विराटता के दर्शन होते हैं।" संक्षेप में चर्चा कीजिए।
3. " 'चन्द्रगुप्त' में सांस्कृतिक चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है।" टिप्पणी कीजिए।
4. " 'चन्द्रगुप्त' में भारतीय संस्कृति के उदात्त स्वरूप का प्रभावी चित्रण मिलता है।" इस कथन की पुष्टि कीजिए।
5. देशकाल व वातावरण के आलोक में 'चन्द्रगुप्त' की रचनात्मक पृष्ठभूमि को समझाइए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. " 'चन्द्रगुप्त' में सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना और जीवन-दर्शन का मूल आधार मानवतावाद है।" विवेचना कीजिए।
2. " 'चन्द्रगुप्त' में सांस्कृतिक चेतना को जयशंकर प्रसाद ने राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय गरिमा के लिए प्रयुक्त किया है।" चर्चा कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'चन्द्रगुप्त' नाटक का प्रकाशन वर्ष है –

(क) 1930 ई.
(ख) 1931 ई.
(ग) 1932 ई.
(घ) 1933 ई.

2. "परन्तु, मेरा देश मालव ही नहीं, गान्धार भी है।" यह कथन किसका है ?

(क) चन्द्रगुप्त का
(ख) चाणक्य का
(ग) सिंहरण का
(घ) अलका का

3. जयशंकर प्रसाद की सांस्कृतिक चेतना का मूल आधारहै ?

(क) जातिवाद
(ख) मानवतावाद

(ग) नस्लवाद
(घ) इनमें से कोई नहीं

4. 'चन्द्रगुप्त' नाटक का आधार है –
(क) ऐतिहासिक
(ख) सांस्कृतिक
(ग) दोनों
(घ) इनमें से कोई नहीं

5. तक्षशिला का राजकुमार था –
(क) सिंहरण
(ख) चन्द्रगुप्त
(ग) आम्भीक
(घ) इनमें से कोई नहीं

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 4 : चन्द्रगुप्त

इकाई – 3 : 'चन्द्रगुप्त' नाटक में 'अन्तर्द्वन्द्व' का महत्त्व

इकाई की रूपरेखा

4.3.0. उद्देश्य कथन
4.3.1. प्रस्तावना
4.3.2. चन्द्रगुप्त मौर्य्य का इतिहास
4.3.3. 'चन्द्रगुप्त' नाटक में निहित अन्तर्द्वन्द्व का राष्ट्रीय भाव एवं उद्देश्य
 4.3.3.1. वर्तमान के अन्तर्द्वन्द्व में अतीत का सन्दर्भ
 4.3.3.2. राष्ट्रीय भावना का अन्तर्द्वन्द्व : 'चन्द्रगुप्त' नाटक का मूल उद्देश्य
4.3.4. मानवीय अन्तर्द्वन्द्व का महत्त्व
4.3.5. 'चन्द्रगुप्त' नाटक में अन्तर्द्वन्द्व
 4.3.5.1. चाणक्य का अन्तर्द्वन्द्व
 4.3.5.2. अन्य पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व
 4.3.5.3. चन्द्रगुप्त का अन्तर्द्वन्द्व
4.3.6. 'चन्द्रगुप्त' नाटक की समकालीन प्रासंगिकता
4.3.7. पाठ-सार
4.3.8. बोध प्रश्न

4.3.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. 'चन्द्रगुप्त' नाटक के माध्यम से जयशंकर प्रसाद की नाट्य-कला का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
ii. चन्द्रगुप्तकालीन ऐतिहासिक-सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
iii. चन्द्रगुप्त के प्रमुख पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
iv. चन्द्रगुप्त के सन्दर्भ में उसके अन्तर्द्वन्द्व की परिस्थितियों को समझ सकेंगे।
v. अन्तर्द्वन्द्व के कारण, निदान एवं महत्त्व की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

4.3.1. प्रस्तावना

इस खण्ड की पिछली इकाइयों में आपने जयशंकर प्रसाद की नाट्यकला और चन्द्रगुप्त नाटक का अध्ययन किया है। चन्द्रगुप्त के समय की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना किस प्रकार की थी, यह तथ्य भी आपको ज्ञात हो चुका है। अन्तर्द्वन्द्व जीवन का मनोवैज्ञानिक पक्ष होता है। यह किन्हीं भी परिस्थितियों में हो सकता है किन्तु अन्तर्द्वन्द्व जो मन का, मन के भीतर चलने वाला अन्तःसंघर्ष है, उसका चित्रण चन्द्रगुप्त नाटक की महत्त्वपूर्ण

स्थिति है। इसी अन्तर्द्वन्द्व के महत्त्व का प्रतिपादन, कारण और मनःस्थिति का प्रस्तुतीकरण इस इकाई की मूल विषयवस्तु है।

4.3.2. चन्द्रगुप्त मौर्य्य का इतिहास

चन्द्रगुप्त मौर्य्य, मौर्य्य साम्राज्य के संस्थापक थे। वे पूरे भारत को एक साम्राज्य के आधीन लाने में सफल रहे। चन्द्रगुप्त मौर्य्य के राज्यारोहण की तिथि साधारणतः 324 ई.पू. की मानी जाती है। उन्होंने लगभग 24 वर्षों तक शासन किया। इस प्रकार उनके शासन का अन्त लगभग 297 ई.पू. में हुआ। उनके बाद उनके पुत्र बिन्दुसार ने उनके साम्राज्य को सँभाला। मौर्य्य सम्राट् अशोक महान् इन्हीं बिन्दुसार के पुत्र थे। प्रसिद्ध व पराक्रमी शासक चन्द्रगुप्त मौर्य्य के पुत्र एवं अशोक महान् के पिता होने से बिन्दुसार को 'पिता का पुत्र और पुत्र का पिता' नाम से भी जाना जाता है। मौर्य्य साम्राज्य को इतिहास के सबसे सशक्त साम्राज्यों में से एक माना जाता है। अपने साम्राज्य के अन्त में चन्द्रगुप्त को तमिलनाडु (चेरा, प्रारम्भिक चोला और पंड्या साम्राज्य) तथा वर्तमान ओडिसा (कलिंग) को छोड़कर सभी भारतीय उपमहाद्वीपों पर शासन करने में सफलता भी मिली। उनका साम्राज्य पूर्व में बंगाल से अफगानिस्तान और बलूचिस्तान तक और पश्चिम में पाकिस्तान (वर्तमान) से हिमालय और कश्मीर के उत्तरी भाग में फैला हुआ था। इसके साथ ही दक्षिण में प्लेटो तक विस्तृत था।

ग्रीक और लैटिन खातों के अनुसार चन्द्रगुप्त सैंड्रोकोटो (Sandrocottos) और अंड्रोकोटो (Androcottos) के नाम से भी जाने जाते हैं। चन्द्रगुप्त ने अलेक्जेंडर द ग्रेट (Alexander the Great) के यूनानी सुदूर पूर्वी शासनकाल को भी निर्मित किया और अलेक्जेंडर के सबसे शक्तिशाली शासक सेल्युकस एक्सजाइट निकेटर (Seleucus I Nicator) को युद्ध में पराजित किया। परिणामस्वरूप गठबन्धन के इरादे से चन्द्रगुप्त ने मित्रता की भावना से सेल्युकस की बेटी से विवाह किया ताकि वे सशक्त साम्राज्य का निर्माण कर सकें और यूनानी साम्राज्य से अपनी मित्रता को आगे बढ़ा सकें। इसके चलते भारत का पश्चिमी देशों से सम्बन्ध निर्मित होता गया। साथ ही व्यापारिक सम्बन्ध भी बढ़ा।

अधिकतर भारत को एक करने के बाद चन्द्रगुप्त और उनके मुख्य सलाहकार चाणक्य ने आर्थिक और सामाजिक बदलाव किये। परिणामस्वरूप अनेक प्रकार के आर्थिक और राजनैतिक सुधार हुए। कला और शिल्पकला दोनों के विकास में मौर्य्य साम्राज्य का बहुत बड़ा योगदान रहा है।

4.3.3. 'चन्द्रगुप्त' नाटक में निहित अन्तर्द्वन्द्व का राष्ट्रीय भाव एवं उद्देश्य

जयशंकर प्रसाद राष्ट्रवादी साहित्यकार थे। जिस समय उन्होंने 'चन्द्रगुप्त' नाटक की रचना की थी उस समय अंग्रेजी शासन के विरुद्ध स्वाधीनता संग्राम अपने चरम पर था। उस समय सम्पूर्ण राष्ट्र स्वाधीनता संग्राम में प्राणपण से जुटा हुआ था। परन्तु समाज में ऐसे लोग भी थे जो अंग्रेजों को हर बात में भारतीयों से श्रेष्ठ समझते थे। ऐसे लोग आन्दोलन का विरोध कर रहे थे। इस धारणा के विकास में भारत का इतिहास लिखने वाले विदेशी तथा उन्हीं को प्रमाण मानने वाले देशी इतिहासकारों का बहुत बड़ा हाथ रहा था। इन लोगों ने हर बात में योरोपीय

लोगों को भारतीयों से श्रेष्ठ, वीर, सभ्य और सुसंस्कृत सिद्ध किया। इनसे प्रभावित विशेष रूप से अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीय भी यह समझते थे कि योरोप वाले अजेय हैं और हमसे अधिक श्रेष्ठ हैं। यदि ऐसे अंग्रेज भारत छोड़कर चले गए तो भारत में अराजकता फैल जाएगी और भारतीय पुनः असभ्य और पिछड़े हुए लोगों की श्रेणी में गिने जाने लगेंगे। इसी सोच के चलते वे लोग अंग्रेजों का समर्थन करते रहते थे।

जयशंकर प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक नाटकों के द्वारा पाश्चात्य इतिहासकारों के लिखे हुए भ्रान्तिपूर्ण दृष्टिकोण का खण्डन किया जो योरोपीयों को हर बात में भारतीयों से श्रेष्ठ सिद्ध करता था। इसके लिए उन्होंने भारत के उस प्राचीन युग को अपना आधार बनाया था जिसमें भारतीय सभ्यता-संस्कृति और राजशक्ति अत्यन्त समृद्ध, समुन्नत और सशक्त थी। उस युग को आधार बनाकर प्रसाद ने इतिहास का मौलिक अध्ययन और विश्लेषण कर यह निष्कर्ष निकाला कि योरोपीय इतिहासकारों ने भारतीय प्राचीन इतिहास को बहुत भ्रान्त, विकृत तथा पक्षपातपूर्ण रूप से प्रस्तुत कर घोर अन्याय तथा अक्षम्य अपराध किया है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक लिखकर प्रसाद ने नयी ऐतिहासिक मान्यताओं की स्थापना की। यही 'चन्द्रगुप्त' सहित उनके द्वारा लिखे गए ऐतिहासिक नाटकों का उद्देश्य था।

ऐतिहासिक नाटक लिखने में जयशंकर प्रसाद का मूल उद्देश्य यही था कि इतिहास के माध्यम से अपने समकालीन भारतीय जनता को जागरण का नवीन सन्देश दिया जा सके। भारतीय जनता अपने स्वतन्त्रता-संग्राम को पूरी निष्ठा और शील के साथ तभी आगे बढ़ा सकती थी जब उसे यह विश्वास दिला दिया जाए कि अंग्रेज अजेय नहीं हैं। उन्हें पराजित कर यहाँ से भगाया जा सकता है। भारतीयों को यह विश्वास तभी हो सकता था जब वे अनुभव करने लगें कि अंग्रेज उनसे किसी भी बात में श्रेष्ठ नहीं हैं और भारत का प्राचीन इतिहासअत्यन्त समृद्ध, शक्तिशाली और प्रत्येक दृष्टि से महान् रहा है। अपनी श्रेष्ठता की यह अनुभूति ही भारतीयों के मन के अन्तर्द्वन्द्व को समाप्त कर सकती थी। उनका विश्वास ही उन्हें अंग्रेजों का सामना करने में समर्थ बना सकता था।

भारतीय स्वाधीनता संग्राम के समय जनमानस में व्याप्त यह एक बड़ा अन्तर्द्वन्द्व था कि अंग्रेजों से कैसे मुक्त हुआ जाए। क्या हम सफल होंगे ? हमारा भविष्य क्या होगा ? अंग्रेजों ने हमें सभ्य और आधुनिक बनाया है। वे चले जाएँगे तो देश का क्या होगा ? आदि-आदि अन्तर्द्वन्द्व के कारण थे। प्रसादजी ने सर्वप्रथम ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह प्रमाणित किया कि सिकंदर की सेना ने यह सुनकर आगे बढ़ने से इनकार कर दिया था कि आगे मगध साम्राज्य की विशाल और शक्तिशाली सेना लाखों की संस्था में उनका सामना करने के लिए खड़ी हुई है। अतः उन्होंने आतंकित होकर आगे बढ़ने से मना कर दिया था। प्रसाद ने दूसरा तथ्य यह स्थापित किया कि भारत से लौटते समय सिकंदर को पश्चिमी गणराज्यों की सेना का सामना करना पड़ा था। इस युद्ध में सिकंदर पराजित और मर्मान्तिक रूप से घायल हो भारत से लौटा था। निष्कर्ष यह निकला कि यूरोपीय इतिहासकारों के विश्व विजेता सिकंदर महान् को भारत से पराजित होकर लौटना पड़ा। इसलिए जब हमारे पूर्वज सिकंदर जैसे प्रबल योद्धा और विजेता को पराजित कर भारत से भगा सकते थे तो हम अंग्रेजों को भारत से क्यों नहीं भगा सकते ? 'चन्द्रगुप्त' नाटक को लिखने में प्रसाद का यही उद्देश्य था जिसे राष्ट्रीय भावना का ही सशक्त स्वरूप समझना चाहिए।

4.3.3.1. वर्तमान के अन्तर्द्वन्द्व में अतीत का सन्दर्भ

'चन्द्रगुप्त' में प्राचीनकाल के उस राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम का चित्रण किया गया है, जब भारत पर विदेशी आक्रमण हो रहा था। भारत के राजा पारस्परिक द्वेष, लालच, अहंकार और विलास के मायाजाल में फँसे थे। आम्भीक जैसे कुछ राजा विदेशियों की सहायता करते थे। कुछ राजा स्वयं विलासिता में निमग्न रहते हुए अपनी प्रजा का क्रूर दमन करने में लगे रहते थे। चाणक्य, चन्द्रगुप्त, सिंहरण, अलका आदि ने देश के उस संकट और आन्तरिक दुर्दशा से चिन्तित हो, एक योजनाबद्ध तरीके से पहले विदेशियों से देश की रक्षा की और फिर नन्द जैसे क्रूर, विलासी, देशी शासिकों का उन्मूलन करके सुशासन की स्थापना की थी। इस प्रकार इन देशभक्तों को देशी और विदेशी दोनों प्रकार के शत्रुओं के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ा था।

जिस समय जयशंकर प्रसाद ने 'चन्द्रगुप्त' की रचना की थी उस समय भी देश के राष्ट्रभक्त लोगों को ऐसी ही दो प्रकार की शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ रहा था। द्वन्द्व की स्थिति विद्यमान थी। विदेशी अंग्रेज शासक क्रूर शासन द्वारा भारतीय जनता पर अत्याचार कर रहे थे, दूसरी ओर देशी रियासतों के राजा-नवाब भोग-विलास में डूबे हुए अपनी प्रजा को पशुओं से भी तुच्छ समझ उनकी कमाई पर गुलछर्रे उड़ाते थे। जनता को क्रूर दमन की चक्की में पीसते रहते थे। वे राजा-नवाब अंग्रेजों के आश्रित और उनके कट्टर समर्थक थे। तीसरी ओर भारत में अंग्रेजी पढ़े-लिखे अफसर, सरकारी छोटे कर्मचारी और मध्यम वर्ग के, अंग्रेजी सभ्यता, संस्कृति, भाषा, साहित्य से गहरे रूप से प्रभावित ऐसे लोग भी थे जो अंग्रेजों को ही अपना स्वामी मान स्वतन्त्रता-आन्दोलन का विरोध करते रहते थे। इसलिए राष्ट्रभक्तों को इन तीनों ही वर्गों के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ रहा था। इस प्रकार प्रसाद ने चन्द्रगुप्त युग में हुए उस संघर्ष के माध्यम से अपने युग के वर्तमान में हो रहे संघर्ष औरअन्तर्द्वन्द्व को पार कर आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान की। इन दोनों युगों की परिस्थितियों में दिखाई देने वाला यह साम्य प्रसाद के उद्देश्य को स्पष्ट कर देता है। इसलिए प्रसाद ने ऐतिहासिक नाटक लिखकर 'गड़े मुर्दे नहीं उखाड़े थे' बल्कि उस अतीत के सन्दर्भ में अपने युग के वर्तमान अन्तर्द्वन्द्व को ही अभिव्यक्ति दी।

यदि प्रतीक रूप में इस वास्तविकता को समझना चाहें तो इस प्रकार कह सकते हैं कि स्वाधीनता संग्राम के युग में महात्मा गाँधी चाणक्य के प्रतीक थे, वे योजनाबद्ध तरीके से राष्ट्रीय आन्दोलन का संचालन कर रहे थे। जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस भी क्रमशः चन्द्रगुप्त और सिंहरण की तरह थे। घर-परिवार त्याग कर, हाथ में पिस्तौल, बम लेकर विदेशियों को भगाने का संघर्ष और उनका सामना करने वाली महिलाएँ जैसे दुर्गा आदि अलका का प्रतीक थीं। देशी राजा-नवाब आदि नन्द वंश के प्रतीक थे। भारत में अंग्रेजीराज के कट्टर समर्थक और प्रचारक देशद्रोही अम्भीक का प्रतीक थे। साम्राज्यवादी अंग्रेज शासक सिकंदर और सिल्यूकस के प्रतीक थे। इस प्रकार प्रसादजी का 'चन्द्रगुप्त' नाटक भारत के आधुनिक इतिहास पर घटाया जा सकता है। यही वर्तमान के अन्तर्द्वन्द्व में अतीत का सन्दर्भ था।

4.3.3.2. राष्ट्रीय भावना का अन्तर्द्वन्द्व : 'चन्द्रगुप्त' नाटक का मूल उद्देश्य

'चन्द्रगुप्त' नाटक की रचना का मूल उद्देश्य राष्ट्रीय भावना का प्रचार और प्रसार करना था। उस युग में अत्यन्त तीव्र वेग से सम्पूर्ण भारतीय जनमानस स्वाधीनता संग्राम के अन्तर्द्वन्द्व से आन्दोलित हो रहा था। प्रसादजी ने पहली बार इतिहास के माध्यम से यह सिद्ध कर दिखाया था कि यूरोप के निवासी अंग्रेज न तो अजेय हैं न सभ्यता-संस्कृति अथवा अन्य किसी दृष्टि से भारतीयों से अधिक श्रेष्ठ हैं। इस नाटक ने एक भयंकर हलचल मचा दी थी। विश्वविजयी सिकंदर 'महान्' भारत से पराजित होकर भागा था, इस बात ने भारतीय जनमानस में एक नयी स्फूर्ति, नया आत्मविश्वास उत्पन्न कर दिया था। वर्तमान स्वाधीनता संग्राम का अन्तर्द्वन्द्व इतिहास से ऊर्जा ग्रहण कर रहा था। अंग्रेजों के समर्थक भारतीय जो तत्कालीन अन्तर्द्वन्द्व के मुख्य खलनायक थे, उनमें भी अंग्रेजों के प्रति सन्देह उत्पन्न हो गया था। यह मामूली बात नहीं थी। यद्यपि योरोपीय इतिहासकारों को ही प्रामाणिक मानने वाले भारतीय इतिहासकारों ने प्रसाद की इस नवीन स्थापना का विरोध किया किन्तु जनमानस साहित्यकारों से प्रभावित होता है, इतिहासकारों से नहीं। राष्ट्रीय भावना का अन्तर्द्वन्द्व प्रस्तुत करना ही नाटक का मूल उद्देश्य था।

4.3.4. मानवीय अन्तर्द्वन्द्व का महत्त्व

मनुष्य के मन में अन्तर्द्वन्द्व का प्रकाशन उस समय होता है जब वह एकान्त के क्षणों में अपने उद्‌गार प्रकट करता है। कभी भावावेश के क्षणों में वह किसी अन्य व्यक्ति के सम्मुख अपने हृदयगत भावों और विचारों को प्रकट कर देता है। ऐसे समय में व्यक्ति अपनी अभिव्यक्ति के प्रति पूर्ण निश्छल और ईमानदार होता है।

अन्तर्द्वन्द्व का अर्थ है – 'हृदय के भीतर चलने वाले दो परस्पर विरोधी भावों का द्वन्द्व अर्थात् संघर्ष।' प्रायः व्यक्ति के व्यक्तित्व के दो पक्ष होते हैं – पहला, उसका व्यक्तित्व जैसा ऊपर से दिखाई देता है; दूसरा, उस ऊपरी व्यक्तित्व से नितान्त भिन्न उसका आन्तरिक व्यक्तित्व। यह आन्तरिक व्यक्तित्व उसका वास्तविक रूप होता है। जब व्यक्ति अपने बाह्य व्यक्तित्व का प्रदर्शन करते-करते थक जाता है तो उन क्षणों में ही उसका आन्तरिक व्यक्तित्व उभरने का प्रयत्न करने लगता है। यही अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति कहलाती है। इसी कारण अन्तर्द्वन्द्व किसी के चरित्र-चित्रण का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है। इसके द्वारा पात्र का चरित्र खिल उठता है। प्रसाद ने अपने नाटकों में अन्तर्द्वन्द्व की इस तकनीक का प्रचुरता से प्रयोग किया है। इसीलिए उनके प्रमुख पात्रों का चरित्र जटिल-सा दिखाई पड़ता है। पाश्चात्य नाटकों में भी अन्तर्द्वन्द्व को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है।

4.3.5. 'चन्द्रगुप्त' नाटक में अन्तर्द्वन्द्व

जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित 'चन्द्रगुप्त' नाटक में प्रमुख पात्रों की चारित्रिक विकास प्रक्रिया में अन्तर्द्वन्द्व का विशेष चमत्कार परिलक्षित होता है। चाणक्य जैसे गम्भीर कूटनीतिज्ञ और राजनीतिज्ञ का हृदय भी सरस स्नेह से सिंचित कोमलता को ग्रहण कर लेता है। कल्याणी की मृत्यु पर जो चाणक्य चन्द्रगुप्त से कहता है, "चन्द्रगुप्त आज तुम निष्कंटक हुए।" वही चाणक्य अपने स्नेह की भाजन सुवासिनी को अपने प्रणय-प्रतिद्वन्द्वी राक्षस को हृदय की सम्पूर्ण सद्‌भावना और आशीष के साथ सौंप देता है। चाणक्य जैसा निर्मम और कठोर पुरुष अपने ही

हाथों से अर्जित इतने विकास और शक्तिशाली साम्राज्य के प्रधानमंत्री का पद पथ की धूल के समान त्याग कर संन्यास-मार्ग की ओर आगे बढ़ जाता है। इस नाटक में विभिन्न अवसरों पर चाणक्य के हृदय में चलने वाले प्रेम, त्याग तथा सात्त्विक एवं राजसिक प्रवृत्तियों में चलने वाले पारस्परिक अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण प्रस्फुटित हुआ है। इस अन्तर्द्वन्द्व के प्रस्फुटन से चाणक्य का वह वास्तविक महान् रूप स्पष्ट हुआ है जिसके द्वारा आरम्भ में चाणक्य का निर्मम कूटनीतिक व्यक्तित्व और अन्त में एक ऋषि का स्वरूप प्रस्तुत होता है।

देश की रक्षा और कल्याण के लिए चाणक्य राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेता है। उसमें सफलता के लिए वह कूटनीति के प्रधान अस्त्र छल, षड्यन्त्र, निर्ममता आदि का सहारा लेता हुआ देश के देशी-विदेशी दुश्मनों का विनाश करता है। यह सब करते हुए भी चाणक्य मन में निरन्तर एक अशान्ति का अनुभव करता रहता है। वह जन्म और कर्म दोनों से ब्राह्मण है। ब्राह्मण अपने स्वभाववश सामान्यतः हिंसक, छली, निर्मम और षड्यन्त्रकारी नहीं होता। उसे सांसारिक वैभव, पद, भोग-विलास आदि की इच्छा या आसक्ति नहीं होती। त्याग और तपस्या उसका स्वभाव होता है। यदि अपने स्वभाव के विरुद्ध उसे विवशतापूर्वक कुछ अनुचित कार्य करना पड़ता है तो उसकी अन्तरआत्मा बड़ी दुखी होती है। उसके हृदय में निरन्तर द्वन्द्व चलता रहता है। प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य का यही ब्राह्मण रूप उभरा है। उसे एक महामानव और ऋषि का रूप प्रदान किया गया है। चाणक्य के इस व्यक्तित्व के प्रकाशन हेतु प्रसाद ने उसके अन्तर्द्वन्द्व को ही प्रमुख साधन के रूप में प्रयोग किया है। चाणक्य अपने दोनों शिष्यों चन्द्रगुप्त और सिंहरण की सुरक्षा और कल्याण के लिए चिन्तित बना रहता है। यह चाणक्य का मानव रूप है। उसमें स्नेह, ममता, निर्वेद आदि की कोमल भावनाएँ भी प्रकट होती हैं। प्रसाद ने चाणक्य के हृदय कपाट के निर्मम, कूटनीतिक, गम्भीर, दूरदर्शी तथा कोमल सरस, स्नेहपूर्ण दोनों रूपों को खोला है।

4.3.5.1. चाणक्य का अन्तर्द्वन्द्व

'चन्द्रगुप्त' नाटक में चाणक्य के स्वभाव में प्रारम्भ से ही दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। तक्षशिला से पाटलिपुत्र लौटने पर उसे ज्ञात होता है कि नन्द ने उसके पिता चणक की वृत्ति छीनकर उसे मगध से निष्कासित कर दिया है। उसकी प्रेमास्पदा सुवासिनी के पिता शकटार को पुत्रों सहित अन्धकूप में डाल दिया है जिससे उसे अपना पेट-पालने के लिए अभिनेत्री बन जाना पड़ा है। इस कारण चाणक्य क्रोध से भर जाता है। वह अन्यायी का समूल नाश करने को उद्यत हो जाता है। उसके उग्र रूप के साथ एक संतोषी रूप भी प्रकट होता है। वह नन्द से कहने, उसे समझाने की भी सोचता है। यह उसके व्यक्तित्व का दूसरा रूप है। वह सबकुछ त्याग अन्त में महात्मा दाण्ड्यायन के आश्रम की ओर पलायन कर जाता है।

चाणक्य जानता है कि कर्त्तव्य से प्रेरित हो उसे कई क्रूर कर्म करने पड़े। इस कारण लोग उससे भयभीत रहते हैं। वह सोचता है कि उसका कोई नहीं है। यह जान उसका मन किसी का स्नेह पाने को ललकता है। इस विषम स्थिति में चाणक्य का स्नेहाकुल मन छटपटाता है। साथ ही वह यह भी जानता है कि अब सुवासिनी की ओर लौट चलने का समय नहीं है। इसी कारण चन्द्रगुप्त द्वारा की गई उपेक्षा की एक ठोकर खाकर ही वह अपने प्रकृत, नैसर्गिक ब्राह्मण रूप की ओर लौट चलने को व्याकुल हो उठता है।

अन्त में जब सुवासिनी राक्षस के देशद्रोह से क्षुब्ध हो, उसकी विरोधिनी बन चाणक्य की ओर झुकती है तो चाणक्य घबड़ा जाता है। वह अब मोह के इस बन्धन में बँधना नहीं चाहता। अन्त में चाणक्य यही करता है। उसका अन्तर्द्वन्द्व उसके इसी वास्तविक रूप को स्पष्ट कर देता है।

4.3.5.2. अन्य पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व

जयशंकर प्रसाद के नाटक 'चन्द्रगुप्त' में चन्द्रगुप्त, अलका, कल्याणी आदि पात्रों के हृदयों का भी अन्तर्द्वन्द्व दिखाया गया है किन्तु वह अधिक उभरकर प्रस्तुत नहीं हो पाया है। अलका में केवल एक स्थान पर उस समय हलका सा अन्तर्द्वन्द्व दिखाई दिया है जब वह सिंहरण के सम्मुख पर्वतेश्वर की रानी बन जाने का प्रस्ताव रख उसके मुख से अपने पति प्रेम की बात कहलवा लेती है। सिंहरण की सरलता और निश्छलता देख उसे अपने इस कार्य के प्रति ग्लानि होती है, और वह कह उठती है – "सुन्दर निश्छल हृदय, तुमसे हँसी करना भी अन्याय है। परन्तु व्यथा को दबाना पड़ेगा। सिंहरण को मालव भेजने के लिए प्रणय के साथ अत्याचार करना होगा।"

कल्याणी का अन्तर्द्वन्द्व इससे भिन्न है। वह केवल एक ही पुरुष चन्द्रगुप्त से प्रेम करती है। किन्तु उसका प्राणाधार वही चन्द्रगुप्त उसके पिता नन्द का विरोधी है। उसी के द्वारा प्रारम्भ किए गए विद्रोह के समय शकटार नन्द की हत्या कर डालता है। अपने पिता के विरोधी और पिता के हत्यारे का साथ देने वाले चन्द्रगुप्त को वह कैसे अपना सकती है ? उसके प्रेम और आत्मसम्मान के मध्य चलने वाले अन्तर्द्वन्द्व का कोई समाधान न मिल पाने के कारण अन्त में उसे आत्मघात कर डालने के लिए बाध्य करता है। वह पर्वतेश्वर की हत्या करने के बाद चन्द्रगुप्त के प्रति अपने अनन्य प्रेम को प्रकट करती हुई कहती है – "हाँ यह सच है। परन्तु तुम मेरे पिता के विरोधी हुए, इसलिए उस प्रणय को प्रेम पीड़ा को – मैं पैरों से कुचलकर, दबाकर खड़ी रही। अब मेरे लिए कुछ भी अवशिष्ट न रहा। पिता ! लो मैं भी आती हूँ।" यह कहकर कल्याणी छुरी मारकर आत्मघात कर लेती है। 'चन्द्रगुप्त" नाटक में कल्याणी के अन्तर्द्वन्द्व को उभारने का अधिक अवकाश नहीं मिल सका है। उसके अन्तर्द्वन्द्व की हलकी सी झलक मात्र दिखाई देती है।

4.3.5.3. चन्द्रगुप्त का अन्तर्द्वन्द्व

चाणक्य के पश्चात् इस नाटक में चन्द्रगुप्त का अन्तर्द्वन्द्व ही कुछ अधिक उभरकर प्रस्तुत हुआ है। चन्द्रगुप्त के सम्राट् बन जाने तक हमें उसमें चलने वाले अन्तर्द्वन्द्व का आभास नहीं मिलता। वह चाणक्य की आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करता दिखाई देता है। कभी-कभी तो चाणक्य उसे इस तरह डाँट देता है कि जैसे वह छोटा-सा बालक हो। जैसे पर्वतेश्वर और कल्याणी की मृत्यु पर जब चाणक्य उससे यह कहता है – "चन्द्रगुप्त आज तुम निष्कण्टक हुए।" तो चन्द्रगुप्त उसकी निमर्मता से आहत होकर कह उठता है – "गुरुदेव ! इतनी क्रूरता ?" उस समय चाणक्य उसे फटकारता हुआ कहता है – "महत्त्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की लीपी में रहता है। चलो अपना काम करो। विवाद करना तुम्हारा काम नहीं। अब तुम स्वच्छन्द होकर दक्षिणापथ जाने की आयोजना

करो।" और चन्द्रगुप्त, जो मगध का सम्राट् है, एक बालक के समान चाणक्य की आज्ञा धारण कर दक्षिण भारत चला जाता है।

सम्भवतः यहीं से चन्द्रगुप्त के चरित्र में अन्तर्द्वन्द्व का आरम्भ होता है। दक्षिण विजय करके वह लौटता है। तब वह अन्तर्द्वन्द्वग्रस्त दिखाई देता है। अब वह चाणक्य जैसा ही अनुभव करता है। सभी लोग उससे भयभीत रहते हैं। कोई भी उसका अपना अन्तरंग नहीं है। उसका मन किसी का विश्वास, किसी का स्नेह पाने को छटपटाने लगता है। अब मालविका भी उसे सम्राट् कहकर पुकारती है। इससे चन्द्रगुप्त का मन आहत होता है। 'संघर्ष' शब्द सुनते ही वह उत्तेजित होकर मालविका से कह उठता है – "संघर्ष ! युद्ध देखना चाहो तो मेरा हृदय फाड़कर देखो मालविका। आशा और निराशा का युद्ध, भावों और अभावों का युद्ध। कोई कमी नहीं फिर भी न जाने कौन मेरी सम्पूर्ण सूची में रिक्त चिह्न लगा देता है। मालविका ! तुम मेरी ताम्बूलवाहिनी नहीं हो, मेरे विश्वास की, मित्रता की प्रतिकृति हो। देखो, मैं दरिद्र हूँ कि नहीं, तुमसे मेरा कोई रहस्य गोपनीय नहीं। मेरे हृदय में कुछ है कि नहीं, टटोलने से भी नहीं जान पड़ता।"

चन्द्रगुप्त के हृदय में चलने वाला यह अन्तर्द्वन्द्व है। उसमें एक सम्राट् होते हुए भी एक रिक्तता की अनुभूति थी। यह अनुभूति दार्शनिकता जैसी लगी है। वह अपने राजमहल में टहलता हुआ सोच रहा है – "यह जागरण का अवसर है। जागरण का अर्थ है, कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होना। कर्मक्षेत्र क्या है ? जीवन-संग्राम। किन्तु भीषण संघर्ष करके भी मैं कुछ नहीं हूँ। मेरी सत्ता एक कठपुतली-सी है ...।" यह चन्द्रगुप्त के अन्तर्द्वन्द्व को समझने का ही स्रोत है। अब वह सम्राट् है, अतः चाणक्य का अतिशय अधिकार उसे कुछ अखरने लगा है। यहाँ अन्तर्द्वन्द्व के माध्यम से चन्द्रगुप्त के चरित्र में एक परिवर्तन उपस्थित हो गया है।

चन्द्रगुप्त में आत्मविश्वास का उदय होता है। अब वह चाणक्य के हाथ की कठपुतली बना रहना नहीं चाहता। वह स्वयं निर्णय लेता है और तदनुसार कार्य करता है। सिल्यूकस के साथ होने वाले युद्ध से पूर्व जब उसे सिंहरण द्वारा त्यागपत्र देने की सूचना मिलती है तब हम चन्द्रगुप्त में एक वीर, आत्मविश्वासी, भारत-सम्राट् व्यक्तित्व का उभरता हुआ स्वरूप देखते हैं। वह त्यागपत्र लाने वाले सैनिक नायक से कहता है – "हूँ ! सिंहरण इस प्रतीक्षा में है कि कोई बलाधिकृत जाए तो वे अपना अधिकार सौंप दें। नायक ! तुम खड्ग पकड़ सकते हो। और उसे हाथ में लिए सत्य से विचलित तो नहीं हो सकते ? बोलो, चन्द्रगुप्त के नाम से प्राण दे सकते हो ? मैंने प्राण देने वाले वीरों को देखा है। चन्द्रगुप्त युद्ध करना जानता है। और विश्वास रखो, उसके नाम का जयघोष विजय-लक्ष्मी का मंगल-गान है। आज से मैं ही बलाधिकृत हूँ। मैं आज सम्राट् नहीं, सैनिक हूँ। चिन्ता क्या ? सिंहरण और गुरुदेव साथ न दें, डर क्या ? सैनिको ! सुन लो, आज से मैं सेनापति हूँ। और कुछ नहीं। जाओ, यह लो मुद्रा और सिंहरण को छुट्टी दो। कह देना कि तुम दूर खड़े होकर देख लो सिंहरण। चन्द्रगुप्त कायर नहीं है।' जाओ।"

चन्द्रगुप्त के चरित्र में यह परिवर्तन एकाएक नहीं होता। इसके लिए प्रसाद ने उसके अन्तर्द्वन्द्व को आधार बनाकर धीरे-धीरे उसे इस स्थिति तक पहुँचाया है।

निष्कर्ष यह कि जयशंकर प्रसाद ने अपने 'चन्द्रगुप्त' नाटक में पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का अत्यन्त संतुलित एवं संयमित उपयोग किया है। लेखक ने पात्रों के चरित्र को एक ओर तो व्यक्ति-वैचित्र्यवाद का सा रंग प्रदान किया है और दूसरी ओर चरित्रों में अद्भुत निखार भी उत्पन्न किया है। इस अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण के कारण ही चाणक्य का परम्पराबद्ध रूप बदलकर एक सर्वथा नवीन स्वरूप हमारे समक्ष उपस्थित होता है। लम्बे-लम्बे स्वगत कथनों के माध्यम से अन्तर्द्वन्द्व की गहन अभिव्यक्ति हो पाई है। इसी कारण पात्रों में व्यक्ति-वैचित्र्यवाद भी आ गया है। पात्र कहीं-कहीं असामान्य बन गए हैं। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में कहीं किसी प्रकार की अतिवादिता नहीं है। अन्तर्द्वन्द्व का चित्रांकन प्रसाद की एक अभूतपूर्व सफलता तो है ही, पात्रों के चरित्र की विसंगति उन्हें आज के सन्दर्भ से भी जोड़ती है। यदि चाणक्य केवल एक कूटनीतिज्ञ मात्र रह जाते या चन्द्रगुप्त केवल एक वीर सम्राट् ही रह जाते तो उनके जीवन का अन्य मानवीय चेतना, संवेगात्मकता, संवेदनशीलता भावानुभूति से शून्य व्यक्तित्व केवल इतिहास के संग्रहालय में ही रखे जाने की वस्तु होता उससे हम कुछ सीख न पाते।

4.3.6. 'चन्द्रगुप्त' नाटक की समकालीन प्रासंगिकता

प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों की प्रासंगिकता पर अनेक आक्षेप लगाए जाते हैं। चाहे वह गड़े मुर्दे उखाड़ने की बात हो या सामन्तवादी या पलायनवादी कहने की किन्तु निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें तो यह आक्षेप सही नहीं है। जयशंकर प्रसाद ने जैसे सर्जनात्मक और प्रासंगिक साहित्य का सृजन किया है, उसके आधार पर प्रासंगिकता का प्रश्नय निराधार है।

'चन्द्रगुप्त' ऐतिहासिक नाटक है। यह विशुद्ध इतिहास न होकर इतिहास का पुनर्निर्माण तथा पुनर्संस्कार है। ऐतिहासिक रचनाओं की प्रासंगिकता पर प्रश्न उपस्थित करना स्वयं ही असंगत है। कारण यह कि ऐतिहासिक रचना में लेखक को उस समय के युग एवं परिप्रेक्ष्य का ध्यान रखना आवश्यक होता है। यह अवश्य देखने की बात है कि लेखक ने उस रचना में अपने युग की कठिनाइयों को कहाँ तक सम्प्रेषित किया है। यह तथ्य लेखक के युग बोध की गहनता पर निर्भर है।

'चन्द्रगुप्त' आज का नाटक या रचना है। हमारी समस्याएँ और चुनौतियाँ आज भी वही हैं जो पचास-साठ वर्ष पूर्व की थीं। उस समय हम अंग्रेजी शासन और उस समय की समस्याओं से लड़ रहे थे। आज आर्थिक वैश्वीकरण के युग में हमें उन्हीं औपनिवेशिक शक्तियों का सामना करना है जिन्होंने धीरे-धीरे हमें अपने चंगुल में पकड़ लिया था। 'चन्द्रगुप्त' में यही सजगता एवं सतर्कता है जो उसे अन्य ऐतिहासिक नाटकों से पृथक् करता है। प्रसाद की दृष्टि भविष्य की ओर सतर्क थी किन्तु यह भविष्य भूत को साथ लेकर वर्तमान के साथ चलता है। उन्होंने कहा है कि अतीत और वर्तमान को देखकर भविष्य का निर्माण होता है। इसीलिए चन्द्रगुप्त भी इतिहास का आधार लेकर वर्तमान को प्रतिबिम्बित करते हुए भविष्य की ओर सजग दृष्टि गड़ाए रखता है क्योंकि तीनों एक सीधी रेखा में चलते हैं।

'चन्द्रगुप्त' समकालीनता का नाटक है जिसमें राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक समस्याएँ वही हैं जो वर्तमान की हैं। राजनैतिक अस्थिरता, धार्मिक उत्पाद, सामाजिक विषमता एवं आर्थिक असमानता आज भी बिलकुल प्रासंगिक है। चन्द्रगुप्त का रचनाकाल वही है जब देश आपसी विग्रह में था । नेहरू एवं तेजस्वी व्यक्तियों का उदय हो रहा था किन्तु गाँधीजी अवसन्न रूप से कर्मरत थे। साइमन कमीशन के विरोध में एक महानायक का अवसान हो चुका था। युवा भावनाएँ करवट ले रही थी। नन्दों की भाँति अंग्रेजों का शासन था। ऐसे में देश को एक जुटकर एक दिशा देने की आवश्यकता को 'चन्द्रगुप्त' नाटक ने पूरा किया। आज भी हमारे देश की स्थिति बहुत भिन्न नहीं है। अलग-अलग राज्य बनाने की माँगें उठ रही हैं। उन्हें अपनी अलग पहचान और सत्ता की इच्छा होने लगी है। 'चन्द्रगुप्त' की प्रासंगिकता और अधिक व्यापक रूप से आज उजागर होने लगी है क्योंकि आज हम पराधीन भी नहीं हैं किन्तु स्वार्थ एवं लालचवश देश के लिए नहीं वरन् व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए कार्य कर रहे हैं। क्षेत्रीयता, जातिवाद, सत्ता सुख आदि आज भी व्याप्त है। इन समस्याओं का अन्त 'चन्द्रगुप्त' में निहित है जहाँ सभी शक्तियाँ एक जुट होती हैं। आज भी हमारा लक्ष्य सम्पूर्ण भारतवर्ष की एकता की ओर ध्यान देना है जिसकी अत्यधिक आवश्यकता है। 'चन्द्रगुप्त' का सिंहरण कहता है, "मेरा देश मालव ही नहीं, ... समग्र आर्य्यावर्त्त है।" छोटे-छोटे खण्डों में बँटकर पराजय निश्चित है। साथ ही राष्ट्र के नायक का स्वरूप भी वैयक्तिक राग-द्वेष से मुक्त, साहसी, निष्कपट एवं त्यागपूर्ण होना चाहिए, जैसा स्वयं चन्द्रगुप्त का चरित्र है। आज भी हमारे देश और समाज में अनेक प्रकार के राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित हैं। उनसे सामना करना और सत्य को समझना तथा उसे स्थापित करना समय की आवश्यकता है। स्वाधीनता संग्राम के समय गाँधीजी का अहिंसा और सत्याग्रह का सिद्धान्त तथा क्रान्तिकारियों के गरम दल का स्वाधीनता प्राप्ति का मार्ग सामाजिक और राजनैतिक अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित करता है। प्रसाद ने तत्कालीन भारतीय सामाजिक स्थिति को बहुत ही सूक्ष्मता एवं गहराई से देखा और समझा था। उनके 'चन्द्रगुप्त' ही नहीं अन्य नाटकों में भी अतीत के झरोखे से वर्तमान की झलक दिखाई देती है।

4.3.7. पाठ-सार

जयशंकर प्रसाद युगद्रष्टा रचनाकार थे। अपने नाटकों में उन्होंने इतिहास को वर्तमान के कलेवर में प्रस्तुत किया है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में अन्तर्द्वन्द्व का राष्ट्रीय भाव एवं उद्देश्य निहित है। यदि इतिहासपुरुष चन्द्रगुप्त, चाणक्य, नन्द, यूनानी आक्रान्ता आदि को राजनैतिक दृष्टि से देखें तो प्रसादजी के समकालीन व्यक्ति, परिवेश और समस्याएँ उनके 'चन्द्रगुप्त' नाटक में रूपायित होती प्रतीत होती हैं। समय और परिवेश के अनुसार व्यक्ति, परिवेश, वातावरण, पात्र, परिस्थिति और अन्तर्द्वन्द्व के सन्दर्भ बदल जाते हैं किन्तु कुल मिलाकर इतिहास ही अपने को दोहराता है। वर्तमान परिवेश में भी चन्द्रगुप्त नाटक अत्यधिक प्रासंगिक है।

4.3.8. बोध प्रश्न

1. " 'चन्द्रगुप्त' नाटक की रचना में प्रसाद की राष्ट्रीय-भावना ने अभिव्यक्ति पाई है।" इस कथन की समीक्षा करते हुए इस नाटक के मूल उद्देश्य का विश्लेषण कीजिए।

2. " 'चन्द्रगुप्त' नाटक में तत्कालीन इतिहास को राष्ट्रीयता के साँचे में ढाल दिया गया है।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।
3. 'चन्द्रगुप्त' नाटक में चित्रित अन्तर्द्वन्द्व का विश्लेषण कीजिए।
4. "अन्तर्द्वन्द्व-चित्रण के बिना यह नाटक इतना प्रभावशाली नहीं बन पाता।" 'चन्द्रगुप्त' नाटक में पाये जाने वाले अन्तर्द्वन्द्व का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए, उपर्युक्त कथन के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कीजिए।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 4 : चन्द्रगुप्त

इकाई – 4 : 'चन्द्रगुप्त' नाटक की पात्र-संयोजना एवं प्रमुख पात्रों काचारित्रिक वैशिष्ट्य

इकाई की रूपरेखा

- 4.4.0. उद्देश्य कथन
- 4.4.1. प्रस्तावना
- 4.4.2. पात्र-योजना
    - 4.4.2.1. पात्र की संकल्पना
    - 4.4.2.2. पात्रों के प्रकार
    - 4.4.2.3. पात्रों का चयन
- 4.4.3. 'चन्द्रगुप्त' की पात्र-संयोजना
    - 4.4.3.1. विशिष्ट सन्दर्भ
    - 4.4.3.2. मनोविज्ञान की स्वाभाविक परिणति
    - 4.4.3.3. चिन्तनशीलता और पात्रों की जीवनानुभूति
- 4.4.4. प्रमुख पात्रों का चारित्रिक वैशिष्ट्य
    - 4.4.4.1. चन्द्रगुप्त
    - 4.4.4.2. चाणक्य
    - 4.4.4.3. मालविका
    - 4.4.4.4. कार्नेलिया
    - 4.4.4.5. अलका
    - 4.4.4.6. सिंहरण
- 4.4.5. पाठ-सार
- 4.4.6. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
- 4.4.7. बोध प्रश्न

4.4.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. नाट्य साहित्य में पात्र-योजना की अवधारणा को समझ सकेंगे।
ii. 'चन्द्रगुप्त' नाटक के प्रमुख पात्रों से भलीभाँति अवगत हो सकेंगे।
iii. 'चन्द्रगुप्त' नाटक के प्रमुख पात्रों के चारित्रिक वैशिष्ट्य का विवेचन कर सकेंगे।

4.4.1. प्रस्तावना

नाटक में दृश्य नियोजन के माध्यम से घटना का चाक्षुष प्रत्यक्ष करवाकर दर्शकों को रसानुभूति करायी जाती है, इसलिए मूर्त्त व प्रत्यक्ष होने के कारण नाट्य विधा में पात्र-निर्माण तथा संयोजना अपेक्षाकृत अधिक प्रभावोत्पादक हो जाता है। प्रस्तुत इकाई में पात्र-योजना की सैद्धान्तिक व्याख्या सहित चन्द्रगुप्त नाटक में पात्र-योजना व प्रमुख पात्रों के चारित्रिक वैशिष्ट्य पर प्रकाश डाला गयाहै।

पात्र-संयोजना नाट्य विधा का अनिवार्य तत्त्व है। चरित्र-चित्रण के माध्यम से रचनाकार अपने चरित्रों अथवा पात्रों को दर्शकों व पाठकों की चेतना में अमर बना देता है। चरित्र-चित्रण की उत्तमता ही नाट्य विधा का प्राणतत्त्व है और इसके अभाव में कोई भी चरित्र जीवन्त नहीं हो सकता और उसका अस्तित्व नाटक के पृष्ठों तक ही सीमित रह जाता है। साथ ही चरित्र की सफलता के अभाव में उत्तम चरित्र-चित्रण की आशा भी नहीं की जा सकती। प्रसिद्ध उक्ति है – 'काव्येषु नाटकं रम्यं नाटकान्त कवित्वं।' यह सूक्ति नाटक की महत्ता को प्रतिपादित करती है। नाटक निश्चय ही अन्य विधाओं से कहीं अधिक प्रभावोत्पादक, मनोरंजक एवं आनन्ददायक होता है। नाटक विधा में दृश्य संयोजन के माध्यम से घटना का चाक्षुष प्रत्यक्ष करवाकर दर्शकों को रसानुभूति करायी जाती है। नाटक मानव जीवन की सजीव प्रतिलिपि है। वह आँखों के माध्यम से जीवन के यथार्थ का प्रत्यक्ष अनुभव कराता है। मूर्त्त और प्रत्यक्ष होने के कारण वह अन्य अमूर्त्त काव्यों की तुलना में प्रभावोत्पादक हो जाता है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार "अभिनेय नाटक कला की सर्वोतम सृष्टि है।" मानव चरित्र को शक्ति और गति देने में सामूहिक प्रतिक्रिया और प्रेरणा उत्पन्न करने में जितना कार्य अभिनेय नाटक कर सकते हैं, उतना दूसरी कलाकृति नहीं। वस्तुतः चरित्र के अभाव में न तो चरित्र-चित्रण की कल्पना की जा सकती है और न ही चरित्र-चित्रण के अभाव में पात्र की सर्जना अतः चरित्र तथा चरित्र-चित्रण की कल्पना नाटक के लिए परस्पर अनुस्यूत है।

4.4.2. पात्र-योजना

विविध पात्रों के चरित्र के माध्यम से कथावस्तु का विकास होता है। कथानक तथा पात्र दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। महनीय चारित्रिक विशेषताएँ कथानक को गति प्रदान करती हैं, उसमें प्राणों का संचार करती हैं। इनके पारस्परिक योग से ही रस का चरम आनन्द आस्वाद्य होता है। भरत-परवर्ती आचार्यों की दृष्टि रस की अभिनिवेशिनी रही, जबकि भरत का नाट्य-विधान नाट्योपयोगी तथा शास्त्रीय विश्लेषण का विषय रहा। पाश्चात्य विद्वानों में चरित्र को नाटक के प्रमुख तत्त्व के रूप में स्वीकार करने में इब्सन तथा बर्नार्ड शॉ की यथार्थवादी कलादृष्टि के साथ ही शेक्सपियर की स्वच्छन्दतावादी दृष्टि को भी श्रेय जाता है। पात्र नाटककार की प्रतिभा, अनुभवगम्यता तथा अनुभूतिमूलक ज्ञान का प्रतिफलन होता है, इसलिए नाटककार पात्र के क्रिया-कलापों का स्वानुभूति के बल पर चित्रण कर जीवन्तता प्रदान करता है। साथ ही साथ पात्रों के चारित्रिक विकास में नाटककार अपनी मानस सृष्टि से ऐसे चरित्रों का निर्माण करता है जो उसकी रचना की कसौटी होते हैं।

4.4.2.1. पात्र की संकल्पना

नाटक में पात्र-योजना की प्रत्यक्ष शैलियों में नाटककार स्वयं पात्र के चरित्र की रूपरेखा आकृति, वेशभूषा, रूप-रंग, नामकरण, बाह्य परिस्थितियाँ, प्रथम परिचय आदि के आधार पर प्रस्तुत करता है। साहित्य व समाज का दर्पण होता है। जिस प्रकार समाज में घटित होने वाली घटनाओं एवं विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार मनुष्य के जीवन में अनेक परिवर्तन आते हैं और उसकी मानसिक स्थिति में अनेक उतार-चढ़ाव आते रहते हैं जो उसके व्यवहार को भी प्रभावित करते हैं, ठीक उसी प्रकार नाटक के अन्तर्गत पात्रों का व्यवहार भी नाटक के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक एक समान नहीं बना रहता। नाटक की विभिन्न घटनाओं एवं परिस्थितियों के आधार पर पात्रों की मानसिक स्थिति में परिवर्तन आते रहते हैं जिसके परिणामस्वरूप वह कभी सुख, कभी दुःख, कभी क्रोध, कभी प्रतिशोध, कभी विराग और कभी आसक्ति आदि की अनुभूति करते हैं।

प्रत्येक मनुष्य को जीवन में विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। ये परिस्थितियाँ अनुकूल भी हो सकती हैं और प्रतिकूल भी। इन परिस्थितियों के प्रति पात्र की प्रतिक्रिया होना भी स्वाभाविक है। नाटक के पात्र कई स्थलों पर इन परिवर्तित परिस्थितियों के प्रति होने वाली प्रतिक्रिया को प्रत्यक्ष रूप में अभिव्यक्त कर देते हैं तो कई प्रसंगों में प्रत्यक्ष रूप में अभिव्यक्त न करके एकान्त में स्वगत कथन द्वारा अपनी प्रतिक्रिया को व्यक्त करते हैं। भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ पात्रों के आचरण और उनके विचारों को भी प्रभावित करती हैं। स्वगत कथनों के माध्यम से उनके आन्तरिक विचार, अन्तर्द्वन्द्व आदि अभिव्यक्त होकर नाटकीय चरित्र को और अधिक स्पष्टता प्रदान करते हैं। नाटक में पात्र अथवा चरित्र को सबसे अधिक चमत्कृत करने का श्रेय कथावस्तु में निहित नाटकीय स्थिति को होता है, इसलिए इस स्थिति की सूचना रचनाकार एक सुनिश्चित फलक को पात्र अथवा चरित्र की पृष्ठभूमि में रखकर करता है।

4.4.2.2. पात्रों के प्रकार

नाटक में पात्रों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पात्र ही कथा को विकसित करते हैं। पात्रों में नायक, खलनायक, नायिका, विदूषक आदि होते हैं। मनुष्य की चित्तवृत्ति की विविधता, समरूपता एवं प्रतिकूलता को देखते हुए नाट्य चरित्रों का वर्गीकरण दुष्कर कार्य होता है। भारतीय विचारकों ने पात्रों की विशेषताओं को भलीभाँति समझकर युगीन सामाजिक चेतना के प्रतीक रूप में गुणाधारित उनका बहुविध वर्गीकरण किया है और उनके सुपरिभाषित व सुनिश्चित आधार भी प्रस्तुत किए हैं। उदाहरणार्थ नाटक का प्रमुख पात्र जो कथा का केन्द्र-बिन्दु होता है, नायक कहलाता है। वही अन्तिम फल का भोक्ता भी होता है। नायक चार प्रकार के हो सकते हैं; यथा – धीरललित, धीर शान्त, धीरोदात्त तथा धीरोद्धत। इन सबमें धीरोदात्त नायक सर्वश्रेष्ठ होता है। उसमें क्षमा, दया, गौरव, वीरता, विनय एवं निरभिमानता आदि गुण विद्यमान रहते हैं। चन्द्रगुप्त इसी प्रकार का नायक है।

शृंगाररसप्रधान नाटकों में धीरललित नायक का विधान किया जाता है। उदाहरणार्थ दुष्यन्त धीरललित नायक है। ऐसे नायक में रसिकता, कला एवं प्रेम का संगम होता है। धीरशान्त कोटि का नायक आत्मसंतोषी,

विनम्र, धर्मपरायण एवं शान्त स्वभाव का होता है। कुटिल, कपटी, दुष्ट एवं प्रचण्ड व्यक्तित्व वाला नायक धीरोद्धत कोटि का नायक होता है।

नायिका के भी विभिन्न भेद होते हैं। मुख्य रूप से नायिका तीन प्रकार की होती है – स्वकीया, परकीया तथा साधारण स्त्री। नायिका की आठ अवस्थाएँ होती हैं – स्वाधीन पतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तारिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रिया तथा अभिसारिका।

नाटक में हास्य की सृष्टि करने वाला पात्र विदूषक होता है। प्रायः वह नायक का सहयोगी होता है। फलप्राप्ति में नायक की सहायता करने वाला पात्र पीठमर्द कहलाता है। नायक का विरोधी पात्र खलनायक अथवा प्रतिनायक कहलाता है।

4.4.2.3. पात्रों का चयन

पात्रों के चयन पर बल देकर निश्चित रूप और आकार देने की प्रक्रिया में नाटककार अपने पात्रों को अधिकाधिक जीवन्त बनाने का प्रयास करता है। अपने पात्रों के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए वह उन्हें एक निश्चित परिणति तक भी ले जाता है। पात्रों के नाटकोचित क्रियाकलापों, भाव व्यंजनाओं से रचनाकार नाट्यकथा को गति देने के लिए संयोजित करता है। नाट्य समीक्षक डॉ॰ नेमीचन्द्र जैन का कथन है कि "नाटक का पात्र, नाटक में अपने कार्यों के बल पर ही जीवित रहता है और अन्ततः अपने कार्यों के द्वारा ही वह नाटक को आगे बढ़ाता है। साथ ही उसके लिए यह आवश्यक होता है कि अपने प्रत्येक कार्य का औचित्य, उसकी विश्वसनीयता, वह स्वयं निर्मित करे और दर्शकों के समक्ष उसे स्थापित करे।"

नाटक में पात्रों का चयन एवं कलात्मक विधान उसकी स्वच्छन्दतावादी कलाधर्मी-रचनाधर्मी विशिष्टता तथा अन्तर्वृत्ति में मौजूद होता है, इसलिए नाटककार उसे अपने अन्तर्विवेक तथा आत्मा-निर्देश से विविध जीवन सन्दर्भों में प्रस्तुत कर नया आयाम देता है। भारतीय नाट्य परम्परा में पात्र का महत्त्व असाधारण है। कथानक के बाद पात्र-योजना और उसके चारित्रिक वैशिष्ट्य पर विशेष बल दिया गया है। इस आधार पर नाट्य विधा में पात्रों का चयन महत्त्वपूर्ण दायित्व हो जाता है। नाटक का पात्र ही अन्ततः अपने चरित्ररूपी पात्र में रचनाकार, निर्देशक, कलाकार, प्रेक्षक आदि सभी को रसदशा तक ले जाने में सफलतापूर्वक नेतृत्व करता है। उसके आचार-विचार, शील, स्वभाव, अवस्था तथा प्रकृति की वैविध्यपूर्ण पृष्ठभूमि में कथावस्तु चरितार्थ होती है। पात्रों के चयन से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण तथ्य निम्नलिखित हैं –

i. पात्रों का चयन देशकाल, परिस्थितियों के अतिरिक्त रचनाकारों की संकल्पना एवं अनुभूति के परिणामस्वरूप समय-समय पर परिवर्तित होती रही है।
ii. भारतीय विचार परम्परा पात्र के मूल में कर्म और सौन्दर्य को एक साथ स्थापित करती है।
iii. नाट्य कथावस्तु के अनुरूप पात्रों का चयन किया जाना आवश्यक एवं उपयोगी होता है।
iv. पात्रों के चयन में यथार्थ जीवन का प्रतिनिधित्व एवं प्रतीकात्मकता महत्त्वपूर्ण होती है।

V. पात्र-चयन एवं चित्रण में घटना एवं भावों का सम्बन्ध पात्र के अन्तःबाह्य व्यक्तित्व को अधिक प्रखर, संवेदनशील एवं प्रभावी बनाता है।

4.4.3. 'चन्द्रगुप्त' की पात्र-संयोजना

'चन्द्रगुप्त' की पात्र-संयोजना का मूल आधार इतिहास है। यहाँ नाटककार का जीवन को अतीत और वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में देखने की रचनात्मक प्रवृत्ति अन्तर्निहित है। प्रसाद का अपना युग समसामयिक राष्ट्रीय-सांस्कृतिक व सामाजिक चेतना से सम्पन्न पुनरुत्थान, अतीत गौरव तथा जातीय जनजागरण का युग था। उसकी प्रेरणा से प्रसाद ने 'चन्द्रगुप्त' में तत्युगीन समस्याओं की खोज करते हुए स्वातन्त्र्य चेतना और सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों तथा अपेक्षाओं को कुशलतापूर्वक उभारने का महती प्रयास किया है।

'चन्द्रगुप्त' में नाटककार ने इतिहास को पुनर्जीवित करने और उसे युगीन व मानवीय संवेदनाओं से जोड़ने में तथ्य और कल्पना दोनों का अभूतपूर्व संयोजन किया है। भारतीय चिन्तन और युगीन गाँधीवादी नैतिकता के साथ जगी पुनरुत्थान की भावना तथा राष्ट्रीय व सुधारवादी आन्दोलनों ने 'चन्द्रगुप्त' के पात्रों को विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया है। चाणक्य, चन्द्रगुप्त, सिंहरण आदि देशोद्धारक पात्र नाटककार प्रसाद के अपने युग के प्रतिनिधि पात्र कहे जा सकते हैं। ये पात्र जीवन के अन्तःबाह्य संघर्षों से जूझते हुए अपनी अदम्य प्राणशक्ति एवं जीवन्त व्यक्तित्व का परिचय देते हैं। पात्रों के व्यवहार की प्रेरक मनोवृत्ति के निर्माण में नाटककार की अन्तश्चेतना का सन्निवेश दिखाई देता है। वे अपने स्रष्टा की चेतना के जड़वाहक न होकर अपना विशेष व्यक्तित्व रखते हैं। विशिष्ट धारणा से परिचालित और नियन्त्रित होते हुए भी वे अपने निजी व्यक्तित्व की छाप पाठक वा दर्शक के मन पर अंकित करते हैं और नाटक पूरा होने के उपरान्त भी मानस-पटल पर छाए रहते हैं।

कार्यव्यापार के लिए उपयोगी न होने पर भी जयशंकर प्रसाद अपने नाटकों में पात्रों के 'स्वगत कथन' की संयोजना करते हैं जिसके माध्यम से पात्रों के मनोवेग एवं चरित्र का प्रकाशन सहजता से हो जाता है। उदाहरणार्थ चन्द्रगुप्त नाटक में आम्भीक की कुटिलता एवं देशद्रोह की भावना, उसकी स्वार्थ-भावना का परिचय उसके पिता गान्धार नरेश के इस स्वगतकथन द्वारा मिलता है – "बूढ़ा हो चला, परन्तु मन बूढ़ा न हुआ। बहुत दिनों तक तृष्णा को तृप्त करता रहा, पर तृप्त नहीं होती। आम्भीक, अभी तो युवक है, उसके मन में महत्त्वाकांक्षा का होना अनिवार्य है। उसका पथ कुटिल है, गन्धर्व नगर की सफलता उसे अपने पीछे दौड़ा रही है। हाँ, ठीक तो नहीं है, पर उन्नति के शिखर पर नाक की सीध में चढ़ने में बड़ी कठिनता है।"

4.4.3.1. विशिष्ट सन्दर्भ

भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ पात्रों के आचरण और उनके विचारों को भी प्रभावित करती हैं। उनके आन्तरिक विचार, अन्तर्द्वन्द्व आदि स्वगत कथनों के माध्यम से व्यक्त होकर उनके चरित्र को और भी अधिक स्पष्टता प्रदान करते हैं। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में चाणक्य शिक्षा-ग्रहण करने हेतु गान्धार जाता है। वहाँ शिक्षा-ग्रहण करने के पश्चात् वह तक्षशिला के गुरुकुल में गुरुदक्षिणा चुकाने हेतु एक वर्ष तक अर्थशास्त्र का अध्यापन कार्य

करता है। उपरान्त जब वह मगध लौटकर आता है तो वहाँ ब्राह्मणों की दुर्दशा को देखकर क्षोभ व्यक्त करता है। लौटकर आने पर उसके पिता अपनी कुटिया में नहीं मिलते। अपनी भग्न कुटिया को देखकर चाणक्य दुखी हो उठता है। चाणक्य के निम्नलिखित स्वगत कथन में तत्कालीन परिस्थितियों के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त हुई है जो उसके चरित्र को विराटता में प्रकट करती है – "झोपड़ी ही तो थी, पिताजी यहीं मुझे गोद में बिठाकर राज-मन्दिर का सुख अनुभव करते थे। ब्राह्मण थे, ऋत और अमृत जीविका से संतुष्ट थे, पर वे भी न रहे। कहाँ गए, कोई नहीं जानता। मुझे भी कोई नहीं पहचानता। यही तो मगध का राष्ट्र है। प्रजा की खोज है किसे। वृद्ध दरिद्र ब्राह्मण कहीं ठोकरें खाता होगा या मर गया होगा।" परिस्थितियों के प्रति होने वाली पात्र की प्रतिक्रिया को प्रसाद ने 'चन्द्रगुप्त' में स्वगत कथनों द्वारा बड़ी सफलतापूर्वक दर्शाया है जिससे पात्रों के चरित्र व चारित्रिक अन्तर्द्वन्द्व पूरी स्पष्टता के साथ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हो उठते हैं और इससे पात्रों के चरित्र को समझने में भरपूर सहायता मिलती है।

4.4.3.2. मनोविज्ञान की स्वाभाविक परिणति

देशकाल व वातावरण के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की मनोस्थिति में परिवर्तन आता रहता है। 'चन्द्रगुप्त' के पात्रों में भी परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन आता रहता है जिसकी अभिव्यक्ति नाटककार ने सफलतापूर्वक की है। उदाहरणस्वरूप गान्धार नरेश भलीभाँति जानता है कि उसका पुत्र राजकुमार आम्भीक यवन आक्रान्ताओं के साथ मिल गया है और उत्तरापथ में यवनों को प्रवेश करने में सहायता प्रदान कर रहा है। यह सब जानते हुए भी वह आम्भीक को रोकता नहीं है, क्योंकि वह सोचता है कि वह महत्त्वाकांक्षी है और किसी भी प्रकार उन्नति के शिखर पर पहुँचना चाहता है। लेकिन दूसरी ओर परिस्थितियों को देखते हुए उसे ऐसा लगता है कि उसे यवनों को आने से रोक देना चाहिए, क्योंकि यवनों के आक्रमण से समस्त आर्य्यावर्त्त पदाक्रान्त होगा और तब गान्धार भी उससे नहीं बच पाएगा।

एक अन्य प्रसंग में मगध सम्राट् नन्द राक्षस को अपने अमात्यवर्ग में नियुक्त कर लेता है और सुवासिनी को अभिनयशाला की रानी बना देता है। वे दोनों उपासक होकर सुखी बनने की बात करते हैं। सुवासिनी के यह कहने पर कि मैं तुम्हारी अनुचरी हूँ, मैं नन्द की विलास-लीला का क्षुद्र उपकरण बनकर नहीं रहना चाहती, राक्षस उसी क्षण कोई निर्णय नहीं कर पाता। वह इस सोच में डूब जाता है कि क्या सुवासिनी को वरण करना उचित है। एक ओर तो वह उसे अपनाना भी चाहता है तथा दूसरी ओर राजकोप से भयभीत भी है। परन्तु उसके इस मानसिक द्वन्द्व में अन्त में उसकी वैयक्तिक भावनाओं की विजय होती है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि सुवासिनी के बिना उसका जीवन व्यर्थ है। राक्षस का निम्नलिखित स्वगत कथन उसके चारित्रिक अन्तर्द्वन्द्व से पाठकों का परिचय करवाता है – "एक परदा उठ रहा है या गिर रहा है, समझ में नहीं आता। सुवासिनी कुसुमपुर का स्वर्गीय कुसुम, मैं हस्तगत कर लूँ। नहीं, राजकोप होगा। परन्तु जीवन वृथा है। मेरी विद्या, मेरा परिष्कृत विचार सब व्यर्थ है।"

4.4.3.3. चिन्तनशीलता और पात्रों की जीवनानुभूति

'चन्द्रगुप्त' में हमें पात्रों की चिन्तनशीलता के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। उदाहरणार्थ जब कुसुमपुर (मगध) लौटकर आने के उपरान्त चाणक्य अपने आत्मीय जनों को नहीं पाता और एक प्रतिवेशी से पूछने पर उसे ज्ञात होता है कि उसके पिता ब्राह्मण चणक को राजा नन्द ने राजा के विरुद्ध प्रचार करने के आरोप में निर्वासित कर दिया, मंत्री शकटार का बंदीगृह में ही वध करवा दिया, शकटार की कन्या सुवासिनी बौद्ध विहार में चली गई। यह सब जानने पर चाणक्य क्षोभ और क्रोध से भर उठता है। इस सन्दर्भ में चाणक्य के निम्नलिखित स्वगत कथन द्वारा उसकी चिन्तनशीलता और सशक्त जीवनानुभूति अभिव्यक्त हुई है – "पिता का पता नहीं, झोपड़ी भी न रह गई। सुवासिनी अभिनेत्री हो गई ... सम्भवतः पेट की ज्वाला से। एक साथ दो-दो कुटुम्बों का सर्वनाश और कुसुमपुर फूलों की सेज में ऊँघ रहा है। क्या इसीलिए राष्ट्र की शीतल छाया का संगठन मनुष्य ने किया था !"

दक्षिणापथ में विजय प्राप्त करके जब चन्द्रगुप्त मगध लौटता है तो उसे स्वागत का कोई उत्साह नहीं दिखाई पड़ता। जब उसे ज्ञात होता है कि चाणक्य ने नगरवासियों को उत्सव मनाने से मना कर दिया है तो वह चिन्तन में डूब जाता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह तो नाम मात्र का सम्राट् है और अपनी इच्छा से कुछ भी नहीं कर सकता तब वह कहता है कि "यह जागरण का अवसर है। जागरण का अर्थ है कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण होना। और कर्मक्षेत्र क्या है, जीवन संग्राम। किन्तु भीषण संघर्ष करके भी मैं कुछ नहीं हूँ। मेरी सत्ता एक कठपुतली सी है। तो फिर ... मेरे पिता, मेरी माता, इनका तो सम्मान आवश्यक था। वे चले गए, मैं देखता हूँ कि नागरिक तो क्या मेरे आत्मीय भी आनन्द मनाने से वंचित किए गए। यह परतन्त्रता कब तक चलेगी।" प्रत्येक बुद्धिजीवी प्राणी चिन्तनशील होता है और परिस्थितियाँ उसके चिन्तन को प्रभावित करती हैं। उसकी यह चिन्तनशीलता उसके चरित्र को दूसरों के समक्ष प्रकट करने में सहायक होती है।

4.4.4. प्रमुख पात्रों का चारित्रिक वैशिष्ट्य

'चन्द्रगुप्त' नाटक में पात्रों का चरित्र निर्माण कृत्रिम न होकर मनोवैज्ञानिक आधार पर विकसित है। पात्रों के स्वगत कथनों द्वारा उनका चारित्रिक वैशिष्ट्य स्पष्ट होता है और उनके जीवन के विविध मूल्यों का ज्ञान सरलता से हो जाता है। यहाँ पात्रों के चारित्रिक वैशिष्ट्य को प्रकट करने के लिए प्रसाद ने उनके अन्तर्द्वन्द्व का भी चित्रण किया है। यह अन्तर्द्वन्द्व पात्रों के स्वगत कथनों में प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त हुआ है। नाटक में चन्द्रगुप्त, चाणक्य, सिंहरण, कल्याणी, कार्नेलिया, अलका, आम्भीक, नन्द आदि पात्रों की मूल्यगत विविधमुखी भावभूमि के आलोक में उनके चारित्रिक वैशिष्ट्य को समझा जा सकता है।

4.4.4.1. चन्द्रगुप्त

चन्द्रगुप्त नाटक का नायक है और उसमें देशभक्ति की निःस्वार्थ भावना है। नाटक में चन्द्रगुप्त का व्यक्तित्व भी भारतीय संस्कृति के अनुरूप ढाला गया है। वह त्याग, उत्साह, शौर्य्य, क्षत्रियत्व आदि विशेषताओं

से युक्त है। प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार तक्षशिला के गुरुकुल में अध्ययन कर वह भारतीय गुणों से सम्पन्न होकर लौटता है। कर्मक्षेत्र में वह क्षत्रिय के रूप में अवतीर्ण होता है। उसके स्वगत कथनों में उसके इस वीर क्षत्रिय रूप की अभिव्यंजना हुई है। वह कहता है – "अदृष्ट, खेल न करना। चन्द्रगुप्त मरण से अधिक भयानक को आलिंगन करने के लिए प्रस्तुत है।" जब चाणक्य उसे बालकों जैसी चपलता को त्यागने का परामर्श देता है तो वह कहता है – "आर्य्य ! संसार भर की नीति और शिक्षा का अर्थ मैंने यही समझा है कि आत्मसम्मान के लिए मर मिटना ही दिव्य जीवन है।"

चन्द्रगुप्त के हृदय में राष्ट्र के प्रति भक्ति-भाव एवं देश-प्रेम की भावना कूट-कूट कर भरी हुई है। वह चाणक्य को आश्वस्त करते हुए कहता है – "गुरुदेव विश्वास रखिए यह सब कुछ नहीं होने पाएगा। यह चन्द्रगुप्त आपके चरणों की शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करता है कि यवन यहाँ कुछ न कर पाएँगे।"

चन्द्रगुप्त की कर्त्तव्यनिष्ठा अनुकरणीय है। वह अपने कर्त्तव्यों को भलीभाँति जानता है और उनका पालन करता है। सच्चे मित्र के रूप में सिंहरण की सहायता कर वह अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा का परिचय देता है। राष्ट्र की रक्षा हेतु अपने प्राणों की बाजी लगाने से भी वह नहीं चूकता। वह चाणक्य को बंदीगृह से अकेले ही मुक्त कराकर अपनी गुरुभक्ति और वीरता का परिचय देता है। इसी प्रकार चीते से राजकुमारी कल्याणी की रक्षा कर वह असहायों, अबलाओं के प्रति अपनी कर्त्तव्य-सजगता का परिचय देता है।

4.4.4.2. चाणक्य

चाणक्य केवल ब्राह्मण के तप, तेज, त्याग का प्रतीक ही नहीं है, अपितु राष्ट्र की एकता और अखण्डता का प्रमाण भी है। विदेशियों को पराजित करके उन्हें भारत से बाहर निकाल देने के साथ-साथ वह समस्त भारत को एक शासनसूत्र में बाँधकर एक योग्य शासक को उस साम्राज्य के सिंहासन पर विराजमान कर पूरे राष्ट्र को बाह्य आक्रमणों एवं अन्तर्विद्रोहों से मुक्त कर देने का प्रयास करता है। जब वह मगध के बढ़ते अत्याचार और उसकी विलासिता को देखता है तो उसे विनिष्ट कर देने निश्चय करता है। वह कहता है – "मगध, मगध, सावधान, इतना अत्याचार, सहना असम्भव है। तुझे उलट दूँगा। नया बनाऊँगा, नहीं तो नाश ही करूँगा।"

4.4.4.3. मालविका

मालविका सिन्धु देश की राजकुमारी है। 'चन्द्रगुप्त' में मालविका के चरित्र से भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्त्व त्याग की अभिव्यंजना हुई है। उसकी यह त्याग भावना स्वगत कथनों की सहायता से प्रकट हुई है। वह कभी भी चन्द्रगुप्त के कर्त्तव्य के मार्ग में बाधक नहीं बनती। यहाँ तक कि चन्द्रगुप्त के प्राणों की रक्षा करने के लिए अपने प्राणों का बलिदान देने के लिए भी तत्पर हो जाती है। जब उसे आचार्य चाणक्य के माध्यम से यह ज्ञात होता है कि रात्रि के समय चन्द्रगुप्त के शयनगृह में उसकी हत्या का षड्यन्त्र रचा जा रहा है तो वह सहर्ष चन्द्रगुप्त के स्थान पर अपने प्राणों का बलिदान देने के लिए तत्पर हो जाती है और चन्द्रगुप्त की रक्षा के लिए अपने प्राणों का

त्याग करने में अपना परम सौभाग्य समझती है। वह चन्द्रगुप्त के शयन का प्रबन्ध प्राचीन राजमन्दिर में न करवाकर चन्द्रसौध में करवाती है और खुद प्राचीन राजमन्दिर में चन्द्रगुप्त की शैय्या पर सोती है।

4.4.4.4. कार्नेलिया

कार्नेलिया सिल्यूकस की पुत्री है। उसके वैयक्तिक चिन्तन द्वारा भारत की राष्ट्रीय सांस्कृतिक भावना का प्रकाशन हुआ है। 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' के रूप में वह भारत-भूमि का गौरव गान करती है। वह भारत-भूमि के प्रत्येक तत्त्व पर पूर्णरूपेण अनुरुक्त है, भारत के प्रति गहन आस्था का भाव रखती है, भारत की प्रत्येक वस्तु से प्रेम करती है तथा भारत को सच्चे मानव जाति की जन्मभूमि मानती है। यह कार्नेलिया की उदार राष्ट्रीयता का स्वरूप है। निम्नलिखित स्वगत कथन के माध्यम से कार्नेलिया की चारित्रिक विशेषताएँ प्रकट होती हैं – "सिन्धु का यह मनोहर तट जैसे मेरी आँखों के सामने एक नया चित्रपट उपस्थित कर रहा है। इस वातावरण से धीरे-धीरे उठती हुई प्रशान्त स्निग्धता जैसे हृदय में घुस रही है। लम्बी यात्रा करके जैसे मैं वहीं पहुँच गयी हूँ, जहाँ के लिये चली थी। यह कितना निसर्ग सुन्दर है – कितना रमणीय है !" कार्नलिया प्राकृतिक सौन्दर्य से प्रेम करती है। भारत का नैसर्गिक सौन्दर्य देख वह अभिभूत हो जाती है।

4.4.4.5. अलका

अलका गान्धार की राजकुमारी है। वह भारतीय संस्कृति के उदारता, सहिष्णुता, निःस्वार्थ, त्याग आदि गुणों से विभूषित है। उसे जब ज्ञात होता है कि उसका भाई विदेशी आक्रमणकारियों के साथ मिल गया है तो वह उसका विरोध करती है। देश के लिए वह अपने पिता और भाई का परित्याग कर देती है। यहाँ तक कि बन्दिनी बना लिए जाने पर भी वह आर्य्यावर्त्त की मान-प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए अपने प्राणों की बलि देने के लिए तत्पर रहती है और गान्धार में विद्रोह मचाने की घोषणा करती है और राजमन्दिर छोड़कर चली जाती है। उसके निम्नलिखित स्वगत कथन में उसकी निःस्वार्थ भावना का परिचय मिलता है – "चली जा रही हूँ। अनन्त पथ है, कहीं पंथशाला नहीं और न पहुँचने का निर्दिष्ट स्थान है। शैल पर से गिरा दी गई स्रोतस्विनी के सदृश्य अविराम भ्रमण, ठोकर और तिरस्कार। कानन में कहाँ चली जा रही हूँ।" अलका का हृदय देशभक्ति की भावना से परिपूर्ण है। वह जन साधारण को देश की रक्षा के लिए सन्नद्ध करती है।

4.4.4.6. सिंहरण

'चन्द्रगुप्त' नाटक का प्रमुख पात्र सिंहरण एक राष्ट्रभक्त, कर्त्तव्यनिष्ठ, निडर और वीर योद्धा है। उसके व्यक्तित्व में भारतीय संस्कृति के आदर्श गुणों की अभिव्यक्ति हुई है। उदाहरणार्थ जब उसे ज्ञात होता है कि आम्भीक, तक्षशिला का राजकुमार, यवनों की सहायता कर रहा है और शीघ्र ही यवन सेना समस्त आर्य्यावर्त्त पर आक्रमण कर उसे पददलित कर देगी तब वह भयभीत होकर अपने कर्त्तव्य-पथ से डगमगाता नहीं, अपितु विदेशी आक्रमण का क्षमतापूर्वक सामना करने के लिए स्वयं को तैयार करता है। वह कहता है – "एक अग्निमय गन्धक

का स्रोत आर्य्यावर्त्त के लौह अस्त्रागार में घुसकर विस्फोट करेगा । चंचला रण-लक्ष्मी इन्द्रधनुष-सी विजयमाल हाथ में लिए उस सुन्दर नील-लोहित प्रलय जल में विचरण करेगी और वीर हृदय मयूर-से नाचेंगे।"

4.4.5. पाठ-सार

जयशंकर प्रसाद ने 'चन्द्रगुप्त' की पात्र-योजना और प्रमुख पात्रों के चारित्रिक वैशिष्ट्य के माध्यम से विदेशी शक्तियों के प्रति संघर्ष की भावना को प्रोत्साहित करने का उल्लेखनीय प्रयास किया है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक के पात्र चिन्तनशील प्रवृत्ति के हैं। प्रमुख पात्रों के स्वगत कथनों के माध्यम से तत्युगीन सन्दर्भ, परिस्थितियों, राष्ट्र के संकट बोध एवं राष्ट्रप्रेम की भावना की प्रखर अभिव्यक्ति हुई है। स्वगत कथनों द्वारा पात्रों का चरित्र अधिक स्पष्ट होकर पाठकों अथवा प्रेक्षकों के समक्ष आया है तथा पात्रों की चारित्रिक महत्ता अथवा हीनता पूर्णतया स्पष्ट हो गई है। वस्तुतः स्वगत कथनों के अभाव में जटिल पात्रों को उनकी पूर्णता में समझ पाना सम्भव नहीं है।

4.4.6. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. जैन, नेमीचन्द्र, आधुनिक हिन्दी नाटक एवं रंगमंच, मेकमिलन प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. शर्मा, राजनाथ, चन्द्रगुप्त : एक मूल्यांकन, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा.
3. रस्तोगी, गिरीश, जयशंकर प्रसाद और चन्द्रगुप्त, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद.
4. शर्मा, कृष्णदेव व अग्रवाल, माया, जयशंकर प्रसाद-कृत नाटक चन्द्रगुप्त : एक विवेचन, अनीता प्रकाशन, दिल्ली.
5. तनेजा, सत्येन्द्र कुमार (सं.), नाटककार जयशंकर प्रसाद, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.
6. व्यास, विनोदशंकर, प्रसाद और उनका साहित्य, हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी.
7. शर्मा, जगन्नाथ प्रसाद, प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

4.4.7. बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. 'चन्द्रगुप्त' नाटक की पात्र-योजना पर प्रकाश डालिए।
2. 'चन्द्रगुप्त' नाटक के प्रमुख स्त्री पात्रों का परिचय दीजिए।
3. 'चन्द्रगुप्त' नाटक के प्रमुख पात्रों का उल्लेख कीजिए।
4. पात्र-योजना की अवधारणा को समझाइए।
5. नाटक में पात्रों के वर्गीकरण एवं उनके आधार को स्पष्ट कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "चन्द्रगुप्त चरित्रप्रधान नाटक है।" इस कथन के सन्दर्भ में चन्द्रगुप्त की चारित्रिक विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
2. "चन्द्रगुप्त नाटक में नारी पात्रों के माध्यम से जयशंकर प्रसाद ने नारी जागरण के विविध आयामों को प्रस्तुत किया है।" चर्चा कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. कार्नेलिया किसकी पुत्री है?

(क) सिल्यूकस
(ख) गान्धार नरेश
(ग) सिंहरण
(घ) चन्द्रगुप्त

2. चन्द्रगुप्त नाटक का प्रसिद्ध गीत 'हिमाद्रि तुंग शृंग से' कौन गाती है?

(क) मालविका
(ख) अलका
(ग) कार्नेलिया
(घ) उपर्युक्त सभी

3. 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' के रूप में भारत की महिमा का गुणगान कौन करता है?

(क) चन्द्रगुप्त
(ख) अलका
(ग) चाणक्य
(घ) सिंहरण

4. "आत्मसम्मान के लिए मर मिटना ही दिव्य जीवन है।" यह किसका कथन है?

(क) चन्द्रगुप्त
(ख) चाणक्य
(ग) आम्भीक
(घ) अलका

5. "एक अग्निमय गन्धक का स्रोत आर्य्यावर्त्त के लौह-अस्त्रागार में घुसकर विस्फोट करेगा ।" यह किसका कथन है ?

(क) सिंहरण
(ख) आम्भीक
(ग) चन्द्रगुप्त
(घ) इनमें से कोई नहीं

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 4 : चन्द्रगुप्त

इकाई – 5 : 'चन्द्रगुप्त' नाटक का भाषा-शिल्प

इकाई की रूपरेखा

4.5.0. उद्देश्य कथन
4.5.1. प्रस्तावना
4.5.2. भाषा और नाट्यभाषा
4.5.3. नाट्यभाषा की मूल संवेदना
4.5.4. प्रसाद की नाट्यभाषा पर आरोप और प्रतिक्रियाएँ
4.5.5. प्रसाद की नाट्यभाषा
4.5.6. 'चन्द्रगुप्त' की नाट्यभाषा
4.5.7. 'चन्द्रगुप्त' का भाषा-शिल्प
4.5.7.1. विदेशी पात्रों की समस्या
4.5.7.2. संस्कृतनिष्ठ भाषा का पात्रानुकूल रूप
4.5.7.3. भाषा का कोमल रूप
4.5.7.4. भाषा का उग्र कठोर रूप
4.5.7.5. पात्र मनोविज्ञान के अनुकूल भाषा
4.5.7.6. सूक्तियों का प्रयोग
4.5.8. पाठ-सार
4.5.9. बोध प्रश्न

4.5.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. भाषा और नाट्यभाषा का अध्ययन कर सकेंगे।
ii. नाट्य-भाषा की मौलिकता और संवेदना का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
iii. प्रसाद की नाट्य-भाषा पर आरोप और प्रतिक्रियाओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
iv. प्रसाद की नाट्य-भाषा के स्वरूप को समझ सकेंगे।
v. 'चन्द्रगुप्त' की नाट्य-भाषा में आवेग और वक्रता, लय तथा संघर्ष का अध्ययन कर सकेंगे।
vi. भाषा के सन्दर्भ में विदेशी पात्रों की समस्या से आप परिचित हो सकेंगे।
vii. संस्कृतनिष्ठ भाषा का पात्रानुकूल रूप, भाषा का कोमल रूप, भाषा का उग्र या कठोर रूप, पात्र मनोविज्ञान और भाषा, सूक्तियों का प्रयोग आदि की सम्यक् जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

4.5.1. प्रस्तावना

प्रस्तुत खण्ड की पिछली इकाइयों में आपने प्रसाद की नाट्य-कला और चन्द्रगुप्त नाटक सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना, 'अन्तर्द्वन्द्व' का महत्त्व, पात्र-योजना, प्रमुख पात्रों का चारित्रिक वैशिष्ट्य आदि का अध्ययन कर लिया है। प्रस्तुत पाठ में आप जयशंकर प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक के भाषा-शिल्प का बृहत् अध्ययन करेंगे। भाषा-शिल्प किसी भी रचना की अभिव्यक्ति और उसके गुण-दोष का आधार होता है।

4.5.2. भाषा और नाट्यभाषा

अभिव्यक्ति मानवीय सभ्यता की अमूल्य उपलब्धि है। अनेक प्रकार की अनुभूतियों, सूचनाओं, सन्देशों आदि की अभिव्यक्ति का आधार भाषा है। यद्यपि भाषा का आधार ध्वनि, वाक्, मुद्रा, कला तथा बोली है किन्तु भाषिक अभिव्यक्ति का अपना अलग स्वतन्त्र अस्तित्व तथा निजी सार्थकता है। भाषा स्वयं सार्थक अभिव्यक्ति का ध्वनि-चिह्नित-प्रचलित रूप है। सामान्य रूप से भाषा को केवल वाचिक और लेख्य रूप में ही जाना जाता है। 'भाषा' शब्द स्वयं में अभिव्यक्ति के कई माध्यमों का समुच्चय रूप है। ध्वनि, वाच्य, वाणी और मौन भी भाषा हैं। ललित कलाएँ, लेखन, मुद्रा, संकेत, शारीरिक हरकतें, नृत्य, नाट्य, गीत, संगीत आदि सभी अभिव्यक्तिपरक भाषा-रूप हैं। इनका मानवीय संस्कृति, सभ्यता एवं समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

मानवीय समुदाय की परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। तदनुसार उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न ढंग से विकसित और प्रचलित हुआ है। साहित्य जगत् में नाट्य-भाषा को लेकर केवल एक विधागत दृष्टि का ही विकास हुआ है। इसमें कथोपकथन तथा मामूली रंग-संकेतों के साथ कहानी या उपन्यास की तरह पाठ्यक्रम साहित्य के रूप में नाट्य-भाषा अभिव्यक्त हुई है। लेकिन यह एक सीमित दृष्टि है। वास्तविकता यह है कि नाटकों और नाट्य रूपकों का विकास कथित तौर पर बहुविकसित सम्पर्क भाषाओं से पहले हुआ है। भाषा और अभिव्यक्ति की संरचना को गढ़ते रहने, तराशते रहने और बनाते रहने का क्रम निरन्तर होता रहा है। इसमें अनुकरण तथा अभिनय की प्रधानता है। अतः नाटक के कथ्य और कथ्य की परिस्थितियों के अनुरूप सर्जनात्मक रूप से उपयोग की गई भाषा ही 'नाटक की भाषा' है। नाट्य का अर्थ नाटक नहीं, थियेटर है, 'समग्र थियेटर'। इसलिए नाट्य-भाषा 'थियेटर की भाषा' कही जाएगी। उसे नाट्य-भाषा और उसके एक रूप 'रंग भाषा' (मंचीय भाषा) के रूप में समझा जा सकता है।

नाट्य-भाषा नाटक और रंगमंच की सर्जनात्मक दृष्टि से परिपक्व दृश्य-श्रव्य एवं अनुभूत भाषा रूप है। नाट्य-भाषा दर्शकों-प्रेक्षकों तथा वातावरण व देशकाल के अनुरूप भी बदलती रहती है। नाट्यभाषा का स्वरूप अभिनेता की वाचिक गुणवत्ता और कौशल से भी पुनर्निर्धारित होता रहता है। साथ ही अभिनय की दृष्टि से भी उसमें परिवर्तन होता रहता है। कारण यह है कि नाटक मूलतः अभिनेता का ही माध्यम है। नाट्य लेखन में भी नाटक के चरित्र और अभिनेता का व्यक्तित्व प्रधान होता है। नाट्य-भाषा में एक ओर नाटककार द्वारा लिखी गई भाषा और दूसरी ओर निर्देशकीय दृष्टि से रची गई भाषा होती है। उसके साथ वाद्यों की लय, धुन, संगीत और

गीतों का अनुकूल संयोजन होता है। सभी कला-कौशलों का सर्जनात्मक एवं उपयुक्त संयोजन भीनाट्य-भाषा का प्रमुख अंग है । आदिनाट्याचार्य भरतमुनि नाटक को नाना ज्ञान-विज्ञान, नीति, कला-कौशल आदि से सम्पन्न मानते थे । वास्तव में नाटक एवं रंगमंच के समूचे उपांगों केअन्तःसम्बन्ध, उसकी एकसूत्रता और उनके सर्जनात्मक उपयोग को समझे बिना नाट्य-भाषा की दृष्टि सम्भव नहीं है।

4.5.3. नाट्यभाषा की मूल संवेदना

नाट्यभाषा से आशय केवल भाषा के शाब्दिक रूप से नहीं है, नाटक से जुड़े हुए अन्य बहुत से पक्षों को भी नाट्यभाषा के रूप में ग्रहण किया जाता है । नाटककार शाब्दिक भाषा के माध्यम से कथ्य प्रस्तुत करता है । उस शाब्दिक भाषा के अन्दर जो फैलाव या बहुत सारे संकेत या बहुत सारी सम्भावनाएँ, जो वह कहना चाहता है उसे विभिन्न सन्दर्भों में कहा जा सकता है । भाषा की सम्पूर्णता तभी आती है जब शब्द के अन्दर निहित संकेत, व्यंजनाएँ, सम्भावनाएँ, पूरा रंग-परिदृश्य और पूरे युग से जुड़ने का नाटक का सारा सम्बन्ध बनता है, वह नाट्य-भाषा की विशेष तौर से पहचान कराता है । पढ़ने से ज्यादा रंगमंच पर प्रस्तुतीकरण से नाटक अनुभव किया जाता है । नाट्य रूप में लिखित शब्द अभिनेता के माध्यम से उच्चरित होकर निर्देशित होकर मंचीय भाषा बन जाते हैं । उसमें व्यंजना, अर्थ, लय आदि का संयोजन होता है। शब्दों के बीच में सन्नाटा या मौन भी बहुत कुछ कह जाता है।

ये सारे तथ्य नाट्य-भाषा को सामान्य एवं साहित्य की अन्य विधाओं की भाषा से अलग करते हैं। लिखित भाषा के साथ-साथ एक नयी रंगभाषा बनती है। मनोशारीरिक रूप में कोई नाट्य प्रस्तुति की गई तो वहाँ शब्द काम नहीं करते । वहाँ शारीरिक क्रियाओं, गतियों, मुद्राओं आदि से भी बहुत कुछ कहा जाता है। मुद्राओं से ही अभिनव हो जाता है और दर्शक सब कुछ समझ जाते हैं। लिखित पक्ष और प्रस्तुति पक्ष दोनों नाट्य-भाषा का महत्त्वपूर्ण अंग है।

भरतमुनि ने तो अभिनेता को ही रंगमंच का प्रमुखकर्त्ता माना है। शब्द, शरीर, गतियाँ, हाव-भाव आदि के द्वारा अभिनेता सभी कुछ व्यक्त कर देता है जो लिखित शब्द से कहीं बहुत अधिक होता है। यदि दर्शक मंचित भाषा के शब्द रूप को नहीं जानता तो भी भाव-भंगिमा, संकेत आदि से अर्थ ग्रहण कर लेता है। शाब्दिक भाषा भी यहाँ पीछे छूट जाती है । शाब्दिक भाषारूप को एकदम नकार कर नाट्य-भाषा को नहीं समझा जा सकता । भाषा के शाब्दिक रूप और नाट्य-भाषा के विभिन्न प्रस्तुतीकरण से, उसके दृश्यात्मक पक्ष से जुड़े हुए अंगों से मिलकर नाट्य-भाषा का सार्थक, सम्पूर्ण और संश्लिष्ट रूप प्रस्तुत होता है।

हमारे यहाँ हिन्दी रंगमंच का कोई अविच्छिन्न विकसित रूप प्राप्त नहीं होता। इसलिए यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि नाटक शब्द-मूलक कला है या अभिनयमूलक। भारतेन्दु के नाटकों में यह समस्या नहीं लगती क्योंकि उन्होंने नाटक को शाब्दिक कला मानकर ही लिखा । उनकी भाषा का लचीलापन और उतार-चढ़ाव ही ऐसा है कि भाषा ही अभिनय-मूलक प्रतीत होती है। अलग से उसमें अभिनय की सम्भावना ढूँढ़ने की ज़रूरत नहीं पड़ती ।

आगे चलकर रचना-प्रक्रिया और प्रस्तुतीकरण-प्रक्रिया दोनों को ध्यान में रखकर नाटक लिखे गए । विशेषकर लोकनाट्य अधिकतर अभिनय-मूलक ही होते हैं।

भारतेन्दु और प्रसादजी की नाट्य-भाषा में अन्तर की दृष्टि से कहा जा सकता है कि प्रसाद की भाषा बोझिल और काव्यात्मक है। भारतेन्दु की भाषा सहज-स्वाभाविक है। प्रसाद के नाटकों में अभिनव-मूलकता की निरन्तरता का अभाव है। रंगमंच का व्यावहारिक अनुभव न होने के कारण उनकी भाषा में कहीं-कहीं एक लम्बा-सा गढ़ा-गढ़ाया वाक्य-विन्यास आता है जो मंच पर उतना अभिनय-मूलक प्रतीत नहीं होता। कहीं-कहीं उच्चारण की दिक्कतें भी आती हैं।

4.5.4. प्रसाद की नाट्यभाषा पर आरोप और प्रतिक्रियाएँ

जयशंकर प्रसाद ने ऐतिहासिक नाटकों की रचना करके कथ्य, शिल्प और रंगमंच तीनों की दृष्टियों से नये युग का सूत्रपात किया । प्रसाद के नाटकों के मंचन का प्रश्न अब भी जटिल बना हुआ है। उनके नाटकों को शुद्ध साहित्यिक पाठ्याभिनय के अयोग्य कहकर उपेक्षित किया गया । उनके नाटकों में दृश्यों की अतिशय वैविध्यता, आध्यात्मिकता, आकस्मिकता, पात्र बहुलता, संवादों में अतिशय विस्तार, बोझिलता, क्लिष्टता तथा भाषा के मंचीय सन्दर्भ की उपेक्षा का आरोप लगाया गया । इसके साथ ही अस्वाभाविक, अतिकाव्यात्मक, दुरूह, संगीतमय गीतों की अधिकता आदि की कमी का आरोप भी प्रसाद की नाट्य-भाषा पर लगाया जाता है।

प्रसाद की अभिव्यंजनापूर्ण भाषा अपनी सारी सुन्दरता के बावजूद उस औसत दर्शक को समझ नहीं आती जो इन नाटकों की पृष्ठभूमि से अपरिचित होता है। कालान्तर में इब्राहिम अल्काजी और ब. व. कारंत आदि ने माना है कि प्रसाद के नाटक सीमित दर्शक वर्ग के लिए नहीं है। उसके लिए व्यापक दर्शक समूह चाहिए। प्रसाद के नाटकों के लिए विशेष प्रकार के निर्देशकों की आवश्यकता है । सूक्ष्म भारतीय दृष्टि सम्पन्न अभिनेता की आवश्यकता है। स्पीच पैटर्न निर्धारित करना होगा जिससे लय विधान बन सके । प्रस्तुति का स्वरूप पूर्व निश्चित करना ज़रूरी है । यथार्थवाद का दखल बाधक सिद्ध होगा । अतः उक्त आग्रह छोड़ कल्पनाशील निर्देशक ही प्रसाद के नाटकों का उचित प्रस्तुतीकरण कर सकता है । जयशंकर प्रसाद हमारे जीवन और इतिहास की महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं । उनके नाटकों के क्लासिक गुण हमें बार-बार पढ़ने को विवश करते हैं । उनके नाटकों में, इतिहास और संस्कृति से हमारे समय और समाज का आमना-सामना होता है।

4.5.5. प्रसाद की नाट्यभाषा

जयशंकर प्रसाद के नाटकों में 'अजातशत्रु' से एक नया मोड़ आता है । उनके नाटकों में क्रमशः ऐतिहासिकता और आधुनिक चेतना का समन्वय जितना ही बढ़ता गया, चरित्रों के अन्तर्जगत् गूढ़ होते गए, उनमें अन्तर्द्वन्द्व की स्थितियाँ एक दूसरे में गुँथती गईं, उतनी ही प्रसाद की नाट्य-भाषा क्रमशः अधिक सूक्ष्म व्यंजक, काव्यमय, नाटकीय और अनेक स्तरीय होती गई, अर्थ-विस्तार बढ़ता गया । सामान्यतः प्रसाद के नाटकों की भाषा को ऐतिहासिक नाटक, काव्यात्मकता, दार्शनिकता, सांस्कृतिक जागरण, भावात्मकता, गीतात्मकता के

आधार पर देखा जाता रहा, यह एक स्थूल और वर्गीकृत दृष्टि थी और शायद साहित्यिकता, शास्त्रीयता के आग्रह के कारण थी, रंगमंच से सम्बद्ध भाषा की कल्पना नहीं बन पायी थी । प्रसाद के तीनों प्रौढ़ नाटकों में भाषा की नाटकीय क्षमता, उसका वैविध्य और वैचित्र्य दर्शनीय है, वहाँ एकरसता नहीं है । 'चन्द्रगुप्त' तक प्रसाद की विकासमान भाषा परिष्कृत हो चुकी है । 'चन्द्रगुप्त' का मूल स्वर राष्ट्रीयता, उद्‌बोधन, संघर्ष, भारतीय सांस्कृतिक चेतना के औदात्य का है, उसके कथ्य की इस गरिमा, विराटत्व, घनात्मक-संघटनात्मक राजनैतिक फलक और उच्च ब्राह्मणत्व का बोलता कण्ठ है । भाषा में वाचिक-आंगिक सौन्दर्य है । 'स्कन्दगुप्त' की राष्ट्रीय भावना 'चन्द्रगुप्त' में बहुत आगे बढ़ी है । वह कर्म का नाटक है, राजनैतिक चातुर्य का, कूटनीति का नाटक है, उसमें शुरू से ही एक आवेग मिलता है, कर्म-जगत् मिलता है । वक्तृता, ताण्डव जैसी क्रिया, गति, हाव-भाव सबका अनुभव भाषा के द्वारा होता है । उसी में विश्वव्यापी दृष्टि, तेजस्विता है, उसी में रोमांटिक कोमल अनुभूतियाँ हैं। लेकिन करुणा के साथ कठोर कर्त्तव्य का और लोकमंगल भावना का स्मरण 'चन्द्रगुप्त' में होता रहता है । जयशंकर प्रसाद अपने नाटकों में चारित्रिक उदात्तता, भावानुभूति की वैविध्यपूर्ण एवं उत्कृष्ट सृजनात्मकता के कारण हिन्दी के सभी नाटककारों में सर्वथा विशिष्ट एवं वैविध्यपूर्ण रचनाकार हैं। अपने इसी सृजनात्मक वैशिष्ट्य के कारण जयशंकर प्रसाद हिन्दी के क्लासिक नाटककार माने जा सकते हैं ठीक उसी तरह जैसे संस्कृत में कालिदास और अंग्रेजी में शेक्सपियर हैं । प्रसाद के नाटक कालिदास और शेक्सपियर के नाटकों की तरह रंगमंचीय नहीं हैं किन्तु यह भी सही है कि हिन्दी की रंगमंचीय सत्ता न होने के कारण उनके नाटकों का उसकी आन्तरिक आवश्यकता के अनुरूप प्रयोगशील एवं उपयुक्त मंचन भी नहीं हुआ। यदि प्रयोगशील मंचन होता रहता तो निश्चय ही प्रसाद के नाटकों का मंचीय सत्य बहुत उत्साहजनक होता । प्रसाद की नाट्य-भाषा में जो कथ्य और चरित्रों के भारतीय गुण हैं और आज के समय के अनुरूप उसमें जो समकालीन प्रासंगिकता है, वह जनसाधारण से सीधे संवाद करती है। दुरूहता का कहीं कोई प्रश्न ही नहीं है । प्रसाद की भाषा में एक परिष्कृत संस्कृति है। संस्कृति की निजी दृष्टि भी है। अतीत के गौरव के साथ आदर्श मूल्यों आदि को आज के मूल्यहीन विकट सामाजिक स्थिति में लौटा ले आने और उसमें स्थापित करने की गम्भीर चिन्ता के साथ प्रसाद की नाट्यभाषा अपना महत्त्वपूर्ण दायित्व निभाती है। सतत सतर्क एवं गम्भीर रंगकर्म करने वाला व्यक्ति यह निश्चय ही महसूस करेगा कि प्रसाद के नाटक स्वयं अपनी आन्तरिक चेतना और भारतीय दृष्टि का विधिवत् प्रशिक्षण देते हैं । प्रसाद के नाटक इसीलिए रंगमंच के लिए चुनौतीपूर्ण हैं क्योंकि वे भावात्मक, रागात्मक और भारतीय दृष्टि से शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक समृद्धि की माँग करते हैं । 'चन्द्रगुप्त' नाटक में कुछ अप्रचलित शब्दों का प्रयोग प्रसाद के नाटकों की युगीन संस्कृति, संस्कार और चरित्रगत वैशिष्ट्य व्यक्त करने के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था । चाणक्य शिष्य सिंहरण को 'सौम्य' सम्बोधन आज के अप्रचलित अर्थों में करता है जिससे जो ध्वनि, स्थिति व्यंजित करनी थी वह प्रिय और शिष्य जैसे सम्बोधनों से सम्भव नहीं थी । इसी तरह प्रतारण, पुष्कल, स्पृहणीय आदि शब्द भी वातावरण और भाव-सृष्टि के लिए ही महत्त्वपूर्ण हैं। मंचन की दृष्टि से निर्देशक, समीक्षक और रंगकर्मी को समझना और उसका निदान खोजना होगा।

4.5.6. 'चन्द्रगुप्त' की नाट्यभाषा

प्रसादजी की भाषिक क्षमता और नाटकीय कौशल का उदाहरण 'चन्द्रगुप्त' की नाट्य-भाषा में दिखाई देता है। इसमें कथ्य और संवेदना की प्रमुखता है। हर चरित्र का अपना वैशिष्ट्य है। सभी चरित्रों का व्यक्तित्व और उसकी निजी विशेषताएँ उसकी भाषा और संवाद रचना से प्रकट होती हैं। चाणक्य का देश-प्रेम, राष्ट्र-चिन्ता, भारतीय मूल्यों की चिन्ता, राजनैतिक कुटिलता, कूटनीतिज्ञ की कठोरता और उसके आवेश, क्रोध, व्यंग्य, कर्त्तव्यबोध के साथ-साथ उसकी कोमल भावनाओं का संस्पर्श, प्रणय की टीस, मधुर स्मृतियाँ प्रसाद की भाषा की बुनावट में सृजित हैं। नाटक के सम्पूर्ण तन्त्र का नियन्त्रण चाणक्य के हाथों में होने का अनुभव नाटक की भाषा के द्वारा ही होता है। एक कसा हुआ वातावरण उभरता है। इसलिए प्रसाद शब्दों की ध्वनि देते हैं, अर्थ की लय देते हैं। इससे चरित्र और उसका अभिनय उभरता है। चाणक्य का कर्मशील व्यक्तित्व, ब्राह्मणत्व का गर्व आदि शब्द-संयोजन से अभिव्यक्त होता है। प्रसाद अपने आरम्भिक संवाद में ही अपने मुख्य पात्र को पाठक/ दर्शक के समक्ष प्रस्तुत कर देते हैं। इसे उनकी शैली भी माना जा सकता है। चाणक्य से ही शुरू होकर नाटक प्राचीन अवधारणा से अलग, नायक चन्द्रगुप्त के स्थान पर चाणक्य को स्थापित करता है। सम्पूर्ण नाटक में कर्म की चिन्ता, प्रेरणा और संघर्ष की तीव्रता है। छोटे, तेज, गतिवान्, सार्थक, एक दूसरे में सघनता से बुने हुए संवादों के द्वारा पात्रों की चारित्रिक क्षमता, सूक्ष्म सूझ-बूझ तथा वर्तमान और भावी स्थितियों का गुम्फन अभिव्यक्त हुआ है। यथा –

चाणक्य : राजकुमार, ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है; स्वराज्य में विचरता है और अमृत होकर जीता है। यह तुम्हारा मिथ्या गर्व है। ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी, स्वेच्छा से इन माया-स्तूपों को ठुकरा देता है, प्रकृति के कल्याण के लिये ज्ञान का दान देता है।

उक्त उद्धरण में चाणक्य के ब्राह्मणत्व के तेज और गरिमा की अभिव्यक्ति के साथ प्रस्फुटन, आवेग और भारतीयता एवं सांस्कृतिक चेतना भी है। चाणक्य का 'चुप' रहना नाट्य-भाषा में मौन की सर्जनात्मकता से जुड़ा है। चाणक्य की राजनैतिक दृष्टि भविष्यवाणी के रूप में सम्पूर्ण आत्मविश्वास के साथ भाषा के तने हुए तेवर के साथ नाट्य-सौन्दर्य की सृष्टि करती है।

नाटककार का शब्द-अनुशासन भी 'चन्द्रगुप्त' में मिलता है। प्रसाद ने साहित्यिकता और रंग-परिकल्पना दोनों को साकार करने का प्रयास किया है। यह नहीं कहा जा सकता कि नाट्यभाषा की आन्तरिक अपेक्षाओं से प्रसाद अवगत नहीं थे। 'चन्द्रगुप्त' में भी भाषा-संरचना के सारे गुण, वैचित्र्य और आन्तरिकता उपलब्ध है। प्रसाद के नाटकों को लेकर जो समस्या है वह उनके विषय-विस्तार के कारण है। उन्होंने कथा-प्रसंगों, चरित्रों, दर्शन, इतिहास, काव्य, भारतीयता, संस्कृति, समाज, राजनीति, राष्ट्रीय उद्बोधन, आधुनिकता जैसे व्यापक फलक को एक साथ समेटने का प्रयास किया है। इस कारण उनकी भाषा में भी फैलाव-बिखराव आया है। 'चन्द्रगुप्त' राष्ट्रीय और व्यावहारिक चिन्तन की कृति अधिक बन पड़ी है। इसीलिए उसमें भाषा का वाचिक पक्ष बहुत सबल है। भाषा का पूर्णतः सुलझा हुआ रूप अपनी भाषिक क्षमता और नाट्यकौशल से युक्त हमें 'चन्द्रगुप्त' में मिलता है।

नाट्य-भाषा का आवश्यक गुण उसमें आरोह-अवरोह और क्रियात्मक सौन्दर्य का होना है। प्रायः यह आरोप लगाया जाता रहा है कि प्रसाद की भाषा नाटकों में बोझिल, एकरस और कार्यविहीन है जबकि यह कथन भाषा को ऊपर-ऊपर से शब्दों की दुरूहता में देखने के कारण है। शब्दों के संयोजन, ध्वनि, लय, वैचित्र्य, वैविध्य, आरोह-अवरोह का अनुभव करते हुए पात्र की मनोस्थिति, व्यक्तित्व और टकराहट से जोड़कर देखने पर भाषा का अद्भुत सौन्दर्य परिलक्षित होता है। स्पष्ट है कि इसके लिए प्रसाद के साहित्य, व्यक्तित्व, हिन्दीभाषा, भारतीय नाट्यशास्त्र, संस्कृतभाषा की गहन जानकारी तथा तादात्म्य होना चाहिए। 'चन्द्रगुप्त' में प्रसाद की नाट्यभाषा की मौलिकता जहाँ एक ओर आभिजात्य सौन्दर्य, संस्कृत शब्दावलियों एवं सांस्कृतिकउद्बोधन को स्वर देने में है वहीं भाषा के स्वरूप को गढ़ने एवं परिष्कृत करने तथा व्यक्तित्व एवं संवेदनाओं की गरिमा में अनुकूल शब्दावली तलाश करने में भी है। प्रसाद की भाषा में उपलब्ध वैविध्य सम्पूर्ण रूप से मंच पर शुद्ध भारतीय शैली में ही व्यक्त हो सकता है।

4.5.7. 'चन्द्रगुप्त' का भाषा-शिल्प

'चन्द्रगुप्त' नाटक की कथा आज से लगभग तेईस सौ वर्ष पहले की है। उस युग में संस्कृत भारत की साहित्यिक भाषा थी। प्रसाद ने इसी कारण अपनी भाषा को इस नाटक में संस्कृतनिष्ठ रखा है। ऐसी ही संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के माध्यम से उस युग को साकार किया जाना सम्भव था। आर्य, चर, प्रतिवेशी, बलाधिकृत, क्षत्रप जैसे प्राचीन उपाधि और स्थिति-सूचक प्राचीन शब्दों के प्रयोग ने वातावरण निर्माण में और अधिक सहायता की है। इसमें अरबी-फारसी के एक भी शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है। क्योंकि उस युग में भारतीय भाषाओं में इन विदेशी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग नहीं होता था। प्रसाद की भाषासम्बन्धी यह सतर्कता सराहनीय है।

4.5.7.1. विदेशी पात्रों की समस्या

'चन्द्रगुप्त' नाटक में अनेक विदेशी पात्र हैं। ये विदेशी पात्र भारत से कई हजार मील पश्चिम में स्थित ग्रीस से भारत आते हैं। ये सभी पात्र उसी भाषा में बोलते हैं जिस भाषा का प्रयोग भारतीय पात्र करते है। व्यावहारिक रूप से यह कुछ अटपटा लगता है किन्तु समस्या यह भी है कि ये विदेशी पात्र किस भाषा का प्रयोग करते ? इस असुविधा को ध्यान में रखकर ही प्रसाद ने इस नाटक के विदेशी पात्रों से संस्कृतनिष्ठ हिन्दी ही बुलवायी है। सिकंदर, सिल्यूकस, कार्नेलिया, फिलिप्स आदि इसी भाषा को बोलते हैं। यथा सिकंदर कहता है – "विजय करने की इच्छा क्लान्ति से मिटती जा रही है। हम तो इतने बड़े आक्रमण के समारम्भ में लगे हैं और यह देश जैसे सोया हुआ है, लड़ना जैसे इनके जीवन का उद्वेगजनक अंश नहीं। अपने ध्यान में दार्शनिक के सदृश निमग्न हैं; सुनते हैं – पौरव ने केवल झेलम के पास कुछ सेना प्रतिरोध करने के लिये या केवल देखने के लिये रख छोड़ी है। हम लोग जब पहुँच जायेंगे तब वे लड़ लेंगे !"

4.5.7.2. संस्कृतनिष्ठ भाषा का पात्रानुकूल रूप

'चन्द्रगुप्त' नाटक की भाषा आरम्भ से अन्त तक संस्कृतनिष्ठ प्रांजल हिन्दी का रूप है किन्तु यह पात्रों के स्वभाव तथा मनोस्थिति के अनुरूप अपने स्वरूप में थोड़ा परिवर्तन करती चलती है । यथा सिंहरण उत्तेजना, आक्रोश और व्यंग्य की भाषा में कहता है, "हाँ-हाँ रहस्य है ! यवन आक्रमणकारियों के पुष्कल-स्वर्ण से पुलकित होकर, आर्य्यावर्त्त की सुख-रजनी की शान्ति-निद्रा में, उत्तरापथ की अर्गला – धीरे से खोल देने का रहस्य है। क्यों राजकुमार – सम्भवतः तक्षशिलाधीश वाल्हीक तक इसी रहस्य का उद्घाटन करने गये थे ?" इसके विपरीत सिंहरण जब भावी संघर्ष की कल्पना करता है और उसमें भाग लेने के लिए उसका वीर हृदय उत्साह से भर उठता है, उस समय उसके मुख से जो भाषा निकलती है उसमें भारत के चिन्तन की गम्भीरता के साथ ओज और उत्साह का अद्भुत मिश्रण उसे एक गम्भीरता और अलंकृति प्रदान कर देता है, यथा – "एक अग्निमय गन्धक का स्रोत आर्य्यावर्त्त के लौह-अस्त्रागार में घुसकर विस्फोट करेगा । चंचला रण-लक्ष्मी इन्द्रधनुष-सी विजय-माल हाथ में लिये उस सुन्दर नील-लोहित प्रलय-जलद में विचरण करेगी और वीर-हृदय मयूर-से नाचेंगे तब आओ देवि ! स्वागत !!"

4.5.7.3. भाषा का कोमल रूप

संस्कृतनिष्ठ भाषा होते हुए भी 'चन्द्रगुप्त' नाटक में प्रसाद की भाषा रसानुकूल अपना स्वरूप परिवर्तित करती चलती है। कोमल भावनाओं का चित्रण करते समय यह अधिक भावात्मक और अलंकृत रूप धारण कर लेती है। सुवासिनी प्रेम और यौवन का रूपक बाँधती हुई कहती है – "अकस्मात् जीवन-कानन में, एक राका-रजनी की छाया में छिपकर मधुर बसन्त घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल-कौन ?"

कार्नेलिया विदेशी पात्र है, वह जब भारत की प्राकृतिक सुषमा पर मुग्ध होकर उसके सौन्दर्य का वर्णन करती है तो उसकी भाषा सरल-सुन्दर बन जाती है, यथा – "मुझे इस देश से जन्मभूमि के समान स्नेह होता जा रहा है। यहाँ के श्यामल-कुंज, घने जंगल, सरिताओं की माला पहने हुए शैल-श्रेणी, हरी-भरी वर्षा, गर्मी की चाँदनी, शीतकाल की धूप और भोले कृषक तथा सरल कृषक-बालिकायें, बाल्यकाल की सुनी हुई कहानियों की जीवित प्रतिमायें हैं। यह स्वप्नों का देश – यह त्याग और ज्ञान का पालना, यह प्रेम की रंगभूमि – भारत-भूमि क्या भुलायी जा सकती है ? कदापि नहीं – अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि है, यह भारत मानवता की जन्मभूमि है।"

उक्त दोनों उद्धरणों की भाषा भिन्न-भिन्न है। यह अन्तर अद्भुत भाषाधिकार है।

4.5.7.4. भाषा का उग्र कठोर रूप

अपने क्षोभ और क्रोध की अभिव्यक्ति के समय पात्रों की भाषा उग्र-कठोर रूप धारण कर लेती है। इस नाटक में ऐसी भाषा-शैली के अनेक उदाहरण मिलते हैं। अपमानित होने पर चाणक्य कहता है – "खींच ले ब्राह्मण की शिखा ! शूद्र के अन्न से पले हुए कुत्ते ! खींच ले। परन्तु यह शिखा नन्दकुल की काल-सर्पिणी है ... ।"

इसके पूर्व चाणक्य की शिष्ट-संयत भाषा के भी दर्शन होते हैं, जब वह सम्राट् नन्द को यवनों के भारत पर आक्रमण की बात बताते हुए कहता है – "यवनों की विकट वाहिनी निषध-पर्वतमाला तक पहुँच गई है। तक्षशिलाधीश की भी उसमें अभिसन्धि है।"

4.5.7.5. पात्र मनोविज्ञान के अनुकूल भाषा

'चन्द्रगुप्त' नाटक के प्रत्येक पात्र अपने स्वभाव, चरित्र और मनोस्थितियों के अनुरूप ही भाषा का प्रयोग करते हैं। उन सभी पात्रों की अपनी एक विशिष्ट शैली है। चाणक्य इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। चाणक्य का क्रोधयुक्त रूप, कूटनीतिज्ञ रूप, करुणा और प्रणय-भावना से विगलित रूप उसकी अलग-अलग भाषा-शैली से प्रकट हो जाता है। चाणक्य के व्यक्तित्व पर 'शैली ही व्यक्ति है' वाली कहावत चरितार्थ होती है। उसकी भाषा से स्वच्छन्द और अजस्र प्रवाह तथा अद्भुत आत्म-विश्वास झलकता है। भयानक अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति में भी चाणक्य की भाषा अपनी गरिमा से विचलित नहीं होती।

चन्द्रगुप्त की भाषा में उत्साह और ओज तो है किन्तु आत्मविश्वास का अभाव झलकता है। कारण यह है कि चन्द्रगुप्त चाणक्य पर आश्रित है। सिंहरण और अलका की भाषा-शैली सबसे अलग है। दोनों ही स्वतन्त्रता-संग्राम के एकनिष्ठ सेनानी हैं। इसलिए प्रायः साहस और ओजभरी भाषा का प्रयोग करते हैं। आम्भीक स्वार्थी, लोभी, देशद्रोही तथा कायर है। इसीलिए वह कपटभरी भाषा का प्रयोग करता है। उसका दम्भ उसकी कायरता को छिपा नहीं पाता।

नारी पात्रों की भाषा भी ऐसी ही है। सुवासिनी की भाषा में प्रणय उद्वेलन तो है किन्तु एक असुरक्षित वर्तमान और अनिश्चित भविष्य की आशंका भी झलकती रहती है। कार्नेलिया की भाषा में भारत-प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। साथ ही उसमें एक गहरी टीस भी दिखती है जो उसके गुप्त प्रच्छन्न प्रेम का आभास दे देती है। इन दोनों से भिन्न भाषा-शैली कल्याणी की है। उसमें अस्थिरता, उद्विग्नता और क्षोभ का आभास मिलता है। यह उसके अपमानित और अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित मन के कारण है। मालविका में आरम्भ से अन्त तक विचित्र सी दृढ़ता और एकनिष्ठता भरी शान्ति एवं एकाग्रता दिखती है।

इस प्रकार नाटक के पात्र अपने वैयक्तिक चरित्र के अनुरूप ही भाषा-शैली का प्रयोग करते हैं। उनकी मनोस्थिति की विभिन्नता के अनुरूप ही भाषा-शैली भी परिवर्तित होती जाती है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में प्रसाद ने पात्रों के व्यक्तित्व को आधार बनाकर समुचित भाषा-शैली का प्रयोग किया है।

4.5.7.6. सूक्तियों का प्रयोग

'चन्द्रगुप्त' नाटक में कहावतों-मुहावरों का प्रयोग नहीं के बराबर हुआ है। कहावतें-मुहावरे लोकभाषा की निधि होती है। साहित्यिक परिष्कृत भाषा में प्रायः इनका प्रयोग कम होता है। इसी कारण 'चन्द्रगुप्त' की साहित्यिक शैली में कहावतें-मुहावरे अत्यल्प हैं। फिर भी प्रसाद ने कुछ उपयोगी सूक्तियों का प्रचुरता से प्रयोग किया है। यथा –

"आत्मसम्मान के लिए मर-मिटना ही दिव्य जीवन है।"

* * *

"ब्राह्मणत्व एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धि वैभव है।"

* * *

"कृतज्ञता का बन्धन अमोघ है।"

* * *

"विजय-तृष्णा का अन्त पराभव में होता है।"

* * *

"समझदारी आने पर यौवन चला जाता है।"

इस प्रकार 'चन्द्रगुप्त' नाटक की भाषा-शैली को कथावस्तु के पूर्ण अनुरूप, प्रांजल, सशक्त और सुन्दर माना जा सकता है। इसकी भाषा-शैली सामान्य मानसिक स्तर और अल्प शिक्षित पाठक-दर्शक के लिए क्लिष्ट है। उच्च शिक्षित पाठक-दर्शक ही इस नाटक का आनन्द ले सकते हैं। इसकी भाषा-शैली संस्कृतनिष्ठ और साहित्यिक है। इसे वर्तमान हिन्दुस्तानी या बोलचाल की भाषा में लिखा भी नहीं जा सकता था। यदि लिखा भी जाता तो कथावस्तु और वातावरण का समीकरण सफल नहीं हो पाता।

4.5.8. पाठ-सार

मानवीय सभ्यता की अमूल्य उपलब्धि अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति का आधार भाषा है। मानवीय समुदाय की परिस्थितियाँ अलग-अलग होती हैं। तदनुसार उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा के रूप में बदलता रहता है। नाटक के कथ्य और कथ्य की परिस्थितियों के अनुरूप सर्जनात्मक रूप से उपयोग की गई भाषा ही नाटक की भाषा है। नाट्य का अर्थ नाटक नहीं, थिएटर है, 'समग्र थिएटर'। नाट्य-भाषा का स्वरूप अभिनेता की

वाचिक गुणवत्ता और कौशल से भी पुनर्निर्धारित होता रहता है। नाटक मूलतः अभिनेता का ही माध्यम है। सभी कला-कौशलों का सर्जनात्मक एवं उपयुक्त संयोजन भी नाट्य-भाषा का प्रमुख अंग है। लिखित पक्ष और प्रस्तुति पक्ष दोनों नाट्य-भाषा का महत्त्वपूर्ण अंग है।

रंगमंच विषयक दृष्टिकोण से प्रसाद की नाट्यभाषा पर अनेक आरोप और प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की गई हैं किन्तु अपने समय, परिस्थिति, आवश्यकता और पात्रों के अनुकूल भाषा-प्रयोग में प्रसादजी ने अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि अपनायी है। 2300 साल पुराने इतिहास को नाटक के रूप में प्रस्तुत करना प्रसाद जैसे सिद्धहस्त साहित्यकार द्वारा ही सम्भव था। उनकी भाषिक क्षमता और नाटकीयता का उदाहरण उनके 'चन्द्रगुप्त' नाटक में स्पष्ट दिखाई देता है। इसमें कथ्य और संवेदना की प्रमुखता है। सभी पात्रों का व्यक्तित्व और उनकी निजी विशेषताएँ उनकी भाषा और संवाद योजना से प्रकट होती हैं। विदेशी पात्रों की समस्या, संस्कृतनिष्ठ भाषा का पात्रानुकूल रूप, भाषा का कोमल, सरस एवं कठोर रूप, पात्रों के मनोविज्ञान के अनुरूप भाषा तथा सूक्तियों का प्रयोग आदि की दृष्टि से 'चन्द्रगुप्त' नाटक का भाषा-शिल्प अत्यन्त सराहनीय, संतुलित और सरस है।

4.5.9. बोध प्रश्न

1. जयशंकर प्रसाद के प्रसिद्ध नाटक 'चन्द्रगुप्त' की भाषा-शैली की समीक्षा कीजिए।
2. "प्रसाद के नाटकों की भाषा-शैली में विकास की परम्परा अन्तर्निहित है। यह भाषा के सारल्य और भावों के नैसर्गिक निर्माण और उत्कर्ष की ओर बढ़ती गई है।" 'चन्द्रगुप्त' नाटक के आधार पर इस कथन की विवेचना कीजिए।
3. "प्रसाद की भाषा की तत्समता उसका अनिवार्य गुण है। उसके सहारे काल-साम्य का निर्वाह होता है।" इस कथन की प्रामाणिकता सिद्ध कीजिए।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 5 : अन्धा युग

इकाई – 1 : मिथकीय आख्यान का पुनर्सृजन

इकाई की रूपरेखा

5.1.00. उद्देश्य कथन
5.1.01. प्रस्तावना
5.1.02. धर्मवीर भारती का व्यक्तित्व
5.1.03. धर्मवीर भारती का साहित्य
5.1.04. कथा का स्रोत 'महाभारत'
5.1.05. मिथक की व्याख्या : पुनर्सृजन का आशय
5.1.06. पुनर्सृजन : उपलब्धि एवं अभाव
5.1.07. 'अन्धा युग' का राजनैतिक सन्दर्भ
5.1.08. 'अन्धा युग' आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में
5.1.09. 'अन्धा युग' और अस्तित्ववाद
5.1.10. पाठ-सार
5.1.11. बोध प्रश्न
5.1.12. कठिन शब्दावली
5.1.13. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

5.1.00. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. धर्मवीर भारती के व्यक्तित्व और कृतित्व से परिचित हो सकेंगे।
ii. आधुनिक सन्दर्भ में 'अन्धा युग' की प्रासंगिकता की विवेचना कर सकेंगे।
iii. पुनर्सृजन के रूप में इसकी समीक्षा कर सकेंगे।
iv. अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में 'अन्धा युग' का मूल्यांकन कर सकेंगे।

5.1.01. प्रस्तावना

पाठ्यचर्या 'हिन्दी नाटक एवं रंगमंच' के खण्ड – 5 के अन्तर्गत हम डॉ॰ धर्मवीर भारती द्वारा लिखित गीति-नाट्य 'अन्धा युग' का अध्ययन करेंगे। यह कृति 'महाभारत' पर आधारित है। संस्कृत के इस प्रख्यात महाकाव्य से कथा-सूत्र लेकर इस कृति के माध्यम से लेखक किस 'अन्धा युग' की बात कर रहा है ? यदि यह अन्धा युग महाभारतकालीन है तो वर्तमान युग के लिए वह किस प्रकार प्रासंगिक है ? इन सभी प्रश्नों के उत्तर हमें इस इकाई में क्रमशः खोजने हैं। हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों के लिए इस बात की जानकारी आवश्यक है कि

भारती के पूर्व मैथिलीशरण गुप्त एवं रामधारी सिंह'दिनकर' 'महाभारत' पर आधारित 'जय भारत' और 'कुरुक्षेत्र' जैसी कृतियाँ प्रस्तुत कर चुके हैं।

अब तक विश्व में दो महायुद्ध घटित हो चुके हैं। प्रथम की अपेक्षा दूसरा महायुद्ध अधिक विनाशकारी था। हिरोशिमा और नागासाकी पर एटम बम ने जो विनाशलीला घटित की उससे सबक लेकर संवेदनशील मानवतावादियों ने विश्व में शान्ति-स्थापना के प्रयासों को अधिक महत्त्वपूर्ण माना। इसके विपरीत प्रभुत्व और वर्चस्व स्थापित करने की होड़ विश्व के प्रमुख राष्ट्रों को घातक अस्त्र-शस्त्रों और युद्ध की विनाशकारी नूतन विधियों की ओर अग्रसर होने के लिए बाध्य करती गई। छोटे और विकसनशील राष्ट्र भी बड़े राष्ट्रों का अनुकरण करते हुए आत्मरक्षा हेतु शस्त्रीकरण की ओर गतिमान हैं। सम्पूर्ण भूगोल के किसी न किसी हिस्से में स्वार्थ और संकीर्ण विचारधारा से प्रेरित युद्ध जैसी परिस्थितियाँ विद्यमान हैं। विवेकवान् विचारधारा का निष्कर्ष है कि युद्ध मानव-संस्कृति और सभ्यता के लिए विनाशकारी है अतएव युद्धविरोधी आन्दोलन छेड़े जाने की ज़रूरत है। अन्धे राष्ट्रवाद और नव उपनिवेशवादी प्रवृत्तियों से मुक्ति आवश्यक है। इस इकाई में यह देखना है कि 'अन्धा युग' युद्धविरोधी सोच से कितनी सम्पृक्ति रखता है।

'अन्धा युग' में महाभारत युद्ध के अट्ठारहवें दिन की संध्या से लेकर प्रभास-तीर्थ में कृष्ण की मृत्यु के क्षण तक की घटनाओं को लिया गया है। 'निर्देश' के अन्तर्गत लेखक ने लिखा है – 'इस दृश्य-काव्य में जिन समस्याओं को उठाया गया है, उनके सफल निर्वाह के लिए महाभारत के उत्तरार्द्ध की घटनाओं का आश्रय ग्रहण किया गया है। ये समस्याएँ मानव जीवन से सम्बन्धित हैं। महाभारत के माध्यम से लेखक उनसे रूबरू होता है और उनके समाधान खोजने का प्रयास करता है। नाटक में अभिनेयता का गुण होना चाहिए। यह गीति-नाट्य या काव्य-नाटक है तो इसमें बाह्य घटनाओं के बदले आन्तरिक भावों के आलोड़न-विलोड़न को अधिक महत्त्व दिया गया है। महाभारत के प्रमुख पात्रों को ज्यों का त्यों रखा गया है या उनमें यथेष्ट प्रतीकात्मकता रची गई है। धर्मवीर भारती 'दूसरा सप्तक' और 'नयी कविता' के कवि हैं, जो आधुनिकता से घनिष्ठतम सम्बन्ध रखती है। आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में भी हमें 'अन्धा युग' का अध्ययन करना होगा। मिथक के पुनर्सृजन पर विचार करने के पूर्व हमें राजनैतिक और वैचारिक पृष्ठभूमि से भी परिचित होना होगा।

5.1.02. धर्मवीर भारती का व्यक्तित्व

प्रायः सभी विधाओं में लेखन करने वाले डॉ॰ धर्मवीर भारती सन् 1960 से सन् 1987 तक मुंबई से प्रकाशित होने वाले हिन्दी साप्ताहिक 'धर्मयुग' के सम्पादक रहे। उनका जन्म 25 दिसंबर, 1926 को इलाहाबाद के अतरसुइया मुहल्ले में हुआ था। उनके पिता श्री चिरंजीवलाल वर्मा ने ओवरसियरी की शिक्षा प्राप्त की थी। कुछ दिन उन्होंने बर्मा में सरकारी नौकरी और ठेकेदारी की। वहाँ से लौटकर वे कुछ दिन मिर्जापुर में रहे और बाद में स्थायी रूप से इलाहाबाद में बस गए। भारती आठवीं कक्षा में थे तभी उनके पिता का देहान्त हो गया। उनकी माता का नाम चंदादेवी था। सन् 1942 में उन्होंने इंटरमीडिएट की परीक्षा पास की। सन् 1945 में प्रयाग विश्वविद्यालय से उन्होंने बी.ए. की उपाधि प्राप्त की। हिन्दी में सर्वाधिक अंक प्राप्त करने के कारण उन्हें चिन्तामणि

घोष मैडल प्रदान किया गया। सन् 1947 में प्रयाग विश्वविद्यालय से एम.ए. की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की और डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा के निर्देशन में सिद्ध साहित्य पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की।

डॉ॰ भारती को अर्थाभाव के कारण पढ़ाई का खर्च निकालने के लिए ट्यूशन करनी पड़ी। एम.ए. की पढ़ाई के समय उन्होंने 'अभ्युदय' समाचार पत्र में अंशकालिक पत्रकार के रूप में कार्य किया। बाद में दो वर्ष तक इलाचन्द्र जोशी द्वारा सम्पादित 'संगम' में सहायक सम्पादक के रूप में काम किया। 'संगम' छोड़कर वे हिन्दुस्तानी अकादमी के उपसचिव के पद पर कार्य करने लगे। तदुपरान्त इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक नियुक्त हुए। विभाग में कार्य करते हुए 'हिन्दी साहित्य कोश' के सम्पादन में सहयोग दिया। प्रगतिवादी साहित्यकारों से अलग हटकर 'परिमल' नामक साहित्यिक संस्था का गठन किया, जिसने अनेक कवियों एवं साहित्यकारों को सृजन की प्रेरणा दी। भारती साहित्यिक आन्दोलनों एवं साहित्यिक पत्रकारिता से जुड़े रहे। 'आलोचना', 'नयी कविता', 'निकष' आदि के सम्पादन में आप का महत्त्वपूर्ण योगदान था।

भारती सन् 1950 से दस वर्षों तक इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक रहे। सन् 1960 में 'वे' धर्मयुग के सम्पादक होकर मुंबई चले गए। 27 वर्षों की लम्बी अवधि में भारती ने 'धर्मयुग' को अपने कुशल सम्पादन से लोकप्रियता के शिखर पर पहुँचा दिया। सन् 1989 में वे हृदय रोग के मरीज बने और 4 सितंबर 1997 में उनका देहावसान हो गया।

डॉ॰ भारती को पुस्तकें और यात्राएँ बहुत सुख देती थीं। सन् 1961 के 1991 तक उन्होंने इंग्लैंड, यूरोप, जर्मनी, इंडोनेशिया, थाइलैंड, मॉरिशस, चीन, अमेरिका आदि देशों की यात्राएँ कीं। 1 सितंबर, 1971 में मुक्तिवाहिनी के साथ बांग्लादेश की गुप्त यात्रा की तथा क्रान्ति का पहला 'आँखों देखा' प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया। सन् 1971 के भारत-पाक युद्ध के दौरान भारतीय स्थल सेना के साथ वास्तविक युद्धस्थल पर लगातार उपस्थित रहकर अपने रोमांचक अनुभवों को लिपिबद्ध किया।

सन् 1967 में भारती को साहित्य नाटक अकादमी का सदस्य मनोनीत किया गया। सन् 1972 में भारत सरकार द्वारा पद्मश्री से अलंकृत किये गए। उन्हें विभिन्न पुरस्कारों एवं सम्मानों से नवाज़ा गया, जिनमें 'भारत भारती' (उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान), महाराष्ट्र गौरव (महाराष्ट्र सरकार), 'व्यास सम्मान' (के. के. बिडला फाउंडेशन) आदि प्रमुख हैं।

भारती के जीवन-वृत्त का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि वे प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने कठिन आर्थिक अभावों की प्रारम्भिक ज़िंदगी से गुजरते हुए अपने लेखकीय व्यक्तित्व के बल पर स्वयं को उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करने में सफलता पायी।

5.1.03. धर्मवीर भारती का साहित्य

डॉ॰ धर्मवीर भारती की प्रतिभा बहुमुखी थी। उन्होंने काव्य, कहानी, उपन्यास, निबन्ध, एकांकी, नाटक, समीक्षा आदि सभी विधाओं में लेखन किया। उनकी कृतियों की सूची प्रकाशन वर्ष के साथ निम्नलिखित है –

कहानी-संग्रह : मुर्दों का गाँव (1946), स्वर्ग और पृथ्वी (1949), चाँद और टूटे हुए लोग (1955) बन्द गली का आखिरी मकान (1969), साँस की कलम से (सम्पूर्ण कहानियाँ) (2000)

कविता : ठण्डा लोहा (1952), अन्धा युग (1954) सात गीत वर्ष (1959), कनुप्रिया (1959), सपना अभी भी (1993), आद्यन्त (1999)

उपन्यास : गुनाहों का देवता (1946), सूरज का सातवाँ घोड़ा (1952), ग्यारह सपनों का देश (सहयोगी लेखन, प्रारम्भ व समापन के अध्याय) (1960)

निबन्ध : ठेले पर हिमालय (1958), पश्यन्ती (1969), कहनी अनकहनी (1970), कुछ चेहरे कुछ चिन्तन (1995), शब्दिता (1997)

रिपोर्ताज : युद्ध यात्रा (1972), मुक्त क्षेत्रे युद्ध क्षेत्रे (1973)

आलोचना : प्रगतिवाद – एक समीक्षा (1949), मानव मूल्य और साहित्य (1960)

एकांकी संग्रह: नदी प्यासी थी (1954)

अनुवाद : ऑस्कर वाइल्ड की कहानियाँ (1946), देशान्तर (इक्कीस देशों की आधुनिक कविताएँ) (1960)

शोध-प्रबन्ध : सिद्ध साहित्य (1968)

यात्रा विवरण : यात्रा चक्र (1954)

पत्र संकलन : अक्षर अक्षर यज्ञ (1999)

साक्षात्कार : धर्मवीर भारती से साक्षात्कार (1999)

ग्रन्थावली : धर्मवीर भारती ग्रन्थावली (9 खण्डों में – 1999)

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में 'अन्धा युग' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके प्रकाशन (सन् 1954) के पूर्व भारती की दो महत्त्वपूर्ण कृतियों का प्रकाशन हो चुका था – 'गुनाहों का देवता' और 'ठण्डा लोहा'। 'गुनाहों का

देवता' के अब तक कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं । यह तथ्य उसकी लोकप्रियता का प्रमाण है । इसकी काव्यात्मक और रोमांटिक शैली पाठकों की बाँधे रहती है । लेखक प्रेम और वासना के सन्दर्भ में मानव मन की गहराइयों की थाह लेता है । 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' प्रयोगात्मक शैली में निम्न मध्यम वर्ग के जीवन की झाँकी दिखाने वाला उपन्यास है । भारती के निबन्धों में उनके चिन्तक के दर्शन होते हैं । पश्चिमी विचारधारा, दर्शन व साहित्य का उन्होंने गहन अध्ययन किया है, लेकिन उसका अन्धानुकरण न कर उसके अभावों को दर्शाया है । इस दृष्टि से 'मानव-मूल्य और साहित्य' उनकी महत्त्वपूर्ण कृति है । भारती की कीर्ति को अक्षुण्ण रखने वाली कृति 'अन्धा युग' है । हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'अन्धा युग' का विशिष्ट स्थान इसलिए है कि पूर्ण गीति-नाट्य लिखने की परम्परा इसके उपरान्त ही चल पड़ी । 'अन्धा युग' ने पहली बार हिन्दी नाटक में यह स्थापित किया कि काव्य और नाट्य का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

5.1.04. कथा का स्रोत 'महाभारत'

आदिकवि वाल्मीकि रचित 'रामायण' एवं व्यास-कृत 'महाभारत' संस्कृति की अनमोल धरोहर हैं । इन्होंने भारतीय साहित्य एवं जीवन को गहनतम रूप से प्रभावित किया है । हिन्दी ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों ने इन ग्रन्थों से प्रेरणा एवं कथावस्तु लेकर कथा एवं काव्य की विधाओं में महत्त्वपूर्ण एवं सफल रचनाएँ लिखी हैं ।

'अन्धा युग' के लेखक भारती ने नाट्क के प्रारम्भ में कथास्रोत का उल्लेख किया है – "इस दृश्य-काव्य में जिन समस्याओं को उठाया गया है उनके सफल निर्वाह के लिए महाभारत के उत्तरार्द्ध की घटनाओं का आश्रय ग्रहण किया गया है । अधिकतर कथावस्तु 'प्रख्यात' है, केवल कुछ ही तत्त्व 'उत्पाद्य' हैं – कुछ स्वकल्पित पात्र और कुछ स्वकल्पित घटनाएँ ।" उपर्युक्त कथन से यह साफ हो जाता है कि लेखक ने महाभारत का आधार लेते हुए अपने लक्ष्य की पूर्ति हेतु किंचित परिवर्तन भी किए हैं । इसे ही मिथकीय आख्यान का पुनर्सृजन कहा जाता है । इस पर हम आगे चलकर विचार करेंगे ।

'अन्धा युग' की कथावस्तु 'महाभारत' के 'गदापर्व' से 'मौसुलपर्व' तक बिखरी हुई है । 'गदापर्व' के 63वें अध्याय में सम्पूर्ण कुल के नष्ट हो जाने पर युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्ण को राजा धृतराष्ट्र व माता गान्धारी को समाश्वासन देने हेतु भेजते हैं और श्रीकृष्ण महाराज धृतराष्ट्र को युद्ध-पूर्व मर्यादोल्लंघन का दोषी बताते हुए उन्हें आश्वासित करते हैं । जैसा महाभारत के 'स्त्रीपर्व' में है, उसी प्रकार धृतराष्ट्र 'अन्धा युग' में अपना अपराध विदुर के समक्ष स्वीकार करते हैं –

समझ नहीं सकते हो विदुर तुम
मैं था जन्मान्ध

*   *   *

कौरव जो मेरी मांसलता से उपजे थे
वे ही थे अन्तिम सत्य
मेरी ममता ही वहाँ नीति थी,
मर्यादा थी।

भारती ने प्रख्यात कथा को प्रतीकात्मक मोड़ दिया है और महायुद्धीय विभीषिका के बोध को खुलकर अभिव्यक्त किया है। 'स्त्रीपर्व' के 25वें अध्याय में गान्धारी पुत्रों के शो में विह्वल हो शोकोन्माद में कृष्ण को कटु अभिशाप देती है। 'अन्धा युग' में गान्धारी का क्रोधोन्मादी रूप निम्नलिखित पंक्तियों में प्रकट हुआ है –

तो सुनो कृष्ण!

प्रभु हो या परात्पर हो
कुछ भी हो
सारा तुम्हारा वंश
इसी तरह पागल कुत्तों की तरह
एक-दूसरे को परस्पर फाड़ खायेगा
तुम खुद उनका विनाश करके कई वर्षों बाद
किसी घने जंगल में
साधारण व्याध के हाथों मारे जाओगे

प्रभु हो
पर मारे जाओगे पशुओं की तरह।

'अन्धा युग' में कृष्ण गान्धारी के शाप को नतमस्तक हो स्वीकार कर लेते हैं जबकि 'महाभारत' में कृष्ण इस विनाश का दायित्व अपने ऊपर न लेकर गान्धारी पर ही डाल देते हैं। ऐसा करके भारती कृष्ण के चरित्र को उदात्त भावभूमि पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं।

'अन्धा युग' में कृष्ण से अधिक महत्त्वपूर्ण चरित्र अश्वत्थामा का है। वह अपने पिता के वध का बदला लेने के लिए युद्ध-शिविर में जाकर सम्पूर्ण पाण्डव पांचाल वीरों का संहार कर डालना चाहता है, लेकिन शिविर द्वार पर स्वयं भगवान् शिव रक्षक और प्रहरी बन कर खड़े थे। अश्वत्थामा के सारे भयंकर अस्त्र-शस्त्र महादेव पर प्रभावहीन हो जाते हैं। वह पश्चात्तापयुक्त होकर उनसे वरदान की याचना करता है। तभी उसके सम्मुख प्रज्ज्वलित अग्नियुक्त एक वेदी प्रकट होती है। वह महाशिव को रिझाने के लिए अपनी देह व प्राण बलि के रूप में वेदी में अर्पित कर देता है। तब शिव उस पर प्रसन्न होते हैं। भारती ने इस प्रसंग को बहुत संक्षिप्त कर दिया है। अश्वत्थामा 'शिव-ताण्डव' का पाठ करते हुए स्तुति करता है और शिव प्रसन्न होकर उसे अपनी दैवी असि देकर विजयी होने का वरदान दे देते हैं। इस प्रसंग को भारती ने चौथे अंक में कथा-गायन के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इसे उन्होंने प्रतीकात्मक सूच्य रूप में रखकर काम चला लिया है। विस्तार में जाने से काव्य-नाटक का संतुलन बिगड़ सकता था।

युयुत्सु कौरव-वंश का होकर भी पाण्डवों का साथ देता है। गान्धारी उसे देखकर सामान्य स्त्री की तरह उस पर व्यंग्य वाणी की वर्षा करती है –

बेटा,
भुजाएँ ये तुम्हारी
पराक्रम भरी
थकी तो नहीं
अपने बन्धुजनों का
वध करते-करते ?
पाण्डव के शिविरों के वैभव के बाद !
तुम्हें अपना नगर तो श्रीहत-सा लगता होगा ?

महाभारत में गान्धारी की इस प्रवृत्ति के दर्शन नहीं होते।

महाभारत की कथा को दोहराना कवि का उद्देश्य नहीं है। वस्तुतः वह मिथकीय आख्यान पुनर्सृजन कर रहा है। उसे व्यास की कथा के माध्यम से अपनी बात कहनी है – 'यह कथा ज्योति की है, अन्धों के माध्यम से।'

5.1.05. मिथक की व्याख्या : पुनर्सृजन का आशय

यूनानी शब्द 'मिथ' को हिन्दी में 'मिथक' कहा जाता है। मिथक शब्द का प्रयोग दन्तकथा, पुराख्यान, धार्मिक कथा आदि के पर्याय के रूप में किया जाता है। अलौकिक गाथाओं को अर्थ देने के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है। मिथक परिवर्तनशील नहीं होता। मिथक किसी की जाति की सांस्कृतिक अस्मिता को बचाये रखते हैं। मिथक देश-कालातीत होते हैं। जनमानस में पूर्णतः रचे-बसे मिथकों का ही प्रासंगिकता के अनुसार प्रयोग किया जाता है। मिथक की प्रासंगिकता का अर्थ है कि वह युग के यथार्थ का बोध कराने में सक्षम हो। साहित्यकार मिथक के माध्यम से अपने युग की ज्वलन्त समस्या और संवेदना को व्यक्त करता है।

अब हम पुनर्सृजन का आशय समझने का प्रयास करें। रामायण और महाभारत का कथानक, उनमें वर्णित प्रसंग और चरित्र मिथक बन चुके हैं, क्योंकि वे जनमानस में रचे-बसे हैं। 'अन्धा युग' में महाभारत के अन्तिम दिन के युद्ध की संध्या से कृष्ण की मृत्यु तक की घटनाओं को लिया गया है। महाभारत में दिये गए इन प्रसंगों के वर्णन को भारती ने कहीं यथावत् और कहीं किंचित परिवर्तन के साथ ग्रहण किया है। इन परिवर्तनों की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। महाभारत में कौरव और पाण्डव के बीच के जिस भीषण युद्ध का वर्णन है, उसमें अन्यायी पक्ष तो विनष्ट हुआ ही, विजयी पाण्डव भी राजसुख नहीं भोग सके। अन्त में गहरी निराशा, ग्लानि और पश्चात्ताप का वातावरण है। अब तक विश्व में दो महायुद्ध घटित हो चुके हैं। द्वितीय महायुद्ध पहले की अपेक्षा अधिक विनाशकारी रहा है। फिर भी राजनेताओं और राष्ट्राध्यक्षों ने कोई सबक नहीं सीखा है। विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ युद्ध लड़ने के साधनों एवं हथियारों को अधिकाधिक मारक एवं विध्वसंक बनाने की होड़ चल रही है युद्ध का कारण वर्चस्व स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षा एवं प्रभाव विस्तार करने की होड़ है। उग्र एवं चरम

राष्ट्रवाद भी इसका एक कारण है । युद्धविरोधी एवं शान्तिवादी चिन्तक चाहते हैं कि राष्ट्रों के पारस्परिक विवाद संवाद, चर्चा एवं मध्यस्थता के द्वारा हल हों। इस हेतु 'संयुक्त राष्ट्र संगठन' (यू.एन.ओ.) का गठन किया गया है। उस संगठन में कुछ बड़े राष्ट्रों का वर्चस्व है। उन्हें जो निषेधाधिकार प्राप्त है, उनके कारण विवादों के हल में बाधा पैदा होती है । निषेधाधिकारों के बल पर बड़े राष्ट्र अपने स्वार्थों के लिए शीतयुद्ध को बनाये रखना चाहते हैं। 'अन्धा युग' का लेखक महाभारत के युद्ध की पृष्ठभूमि में वर्तमान वैश्विक परिस्थिति की चर्चा कर रहा है। जरा के बाण से आहत कृष्ण अपने महाप्रस्थान के समय युद्धजनित विध्वंस में लथपथ विश्व मानवता को आशावाद का सन्देश देते हैं –

पर एक तत्त्व है बीज रूप स्थित मन में।
वह है, निरपेक्ष उतरता है, पर जीवन में ...

वह तत्त्व है विवेक, मानव अस्तित्व की रक्षा के दायित्व का तीव्र बोध, युद्ध का विरोध, शान्ति का प्रचार, विज्ञान का मानव-कल्याण हेतु प्रयोग – 'अन्धा युग' का प्रतिपाद्य यही है । इसी सन्देश को पाठकों-दर्शकों तक पहुँचाने के लिए भारती ने महाभारत के मिथकीय आख्यान का सहारा लिया है। 'महाभारत' पर आधारित होकर भी 'अन्धा युग' का आख्यान एक अलग ढंग से कहा गया है। लेखक की प्रतिभा ने उसे फिर से रचा है, उसका पुनर्सृजन किया है।

5.1.06. पुनर्सृजन : उपलब्धि एवं अभाव

अपने समय के युद्धोन्मादग्रस्त जीवन को वाणी देने हेतु 'अन्धा युग' के लेखक ने मिथकीय आख्यान का सफलतापूर्वक पुनर्सृजन किया है। द्वितीय महायुद्ध में शत्रु पक्ष को घुटने टेकने के लिए मजबूर करने के लिए जिस एटम बम का प्रयोग किया गया था आज युद्ध-विज्ञान उससे बहुत आगे निकल गया है । आज विश्व के बड़े विकसित राष्ट्रों के शस्त्रागारों में ऐसे-ऐसे मारक हथियार और विनाशक प्रणालियाँ हैं कि महायुद्ध छिड़ने पर पूरी सृष्टि राख के ढेर में परिणत हो सकती है। इस भयावह परिणति का दुखद चित्र 'अन्धा युग' में व्यास के शब्दों में अंकित है –

ज्ञात क्या तुम्हें है परिणाम इस ब्रह्मास्त्र का ?
यदि यह लक्ष्य सिद्ध हुआ ओ नरपशु !
तो आगे आने वाली सदियों तक
पृथ्वी पर रसमय वनस्पति नहीं होगी
शिशु होंगे पैदा विकलांग और कुष्ठग्रस्त
सारी मनुष्य जाति बौनी हो जायेगी

जो कुछ भी ज्ञान संचित किया है मनुष्य ने
सतयुग में, त्रेता में, द्वापर में
सदा-सदा के लिये होगा विलीन वह

गेहूँ की बालों में सर्प फुफकारेंगे
नदियों में बह-बहा कर आयेगी पिघली आग।

अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र के प्रत्युत्तर में अर्जुन ने भी अपना ब्रह्मास्त्र छोड़ दिया। व्यास के अनुसार दोनों ब्रह्मास्त्रों की टकराहट का परिणाम विश्व विनाशक होगा –

ये दोनों ब्रह्मास्त्र अभी नभ में टकरायेंगे
सूरज बुझ जायेगा।
धरा बंजर हो जायेगी।

प्रश्न उठता है कि क्या 'अन्धा युग' में केवल अन्धत्व, अन्धकार, निराशा, मूल्यहीनता और मर्यादाहीनता ही व्याप्त है ? क्या प्रस्तुत कृति मानव भविष्य को पूर्णतः प्रकाशरहित मानती है ? क्या आशा की कोई किरण शेष नहीं है ? इन प्रश्नों के उत्तर 'अन्धा युग' का वृद्ध याचक देता है जो लेखक के दृष्टिकोण को समर्थ वाणी देने में सक्षम है। वह लेखक की विचारधारा का मूर्धन्य प्रतीक है। वह मानव भविष्य को शिवम् से अलंकृत करने का उपदेश देता है। लेखक की दृष्टि कोरे भविष्यकथन मात्र तक सीमित न रहकर वर्तमान क्षणों में नूतन सर्जना को भी महत्त्व देती है। वह मानव व्यक्तित्व की अमित सम्भावनाओं की ओर भी संकेत करती है –

पता नहीं
प्रभु हैं या नहीं
किन्तु उस दिन सिद्ध हुआ
जब कोई भी मनुष्य
अनासक्त होकर चुनौती देता है इतिहास को
उस दिन नक्षत्रों की दिशा ही बदल जाती है
नियति नहीं है पूर्व निर्धारित
उसको हर क्षण मानव-निर्णय बनाता मिटाता है।

'अन्धा युग' के प्रहरीद्वय दासवृत्ति और आम आदमी के प्रतीक है। डॉ॰ भारती का एतद् विषयक चिन्तन उनकी पुस्तक 'मानव मूल्य और साहित्य' में अभिव्यक्त है – "लेकिन पिछले दस वर्षों में न केवल विदेशों में वरन् भारत में भी राजनीति का महत्त्व घटा है। मानव-नियति को केवल राजनीति की परिभाषाओं में ही समझा जा सकता है, सत्य इसके विपरीत ही सिद्ध हुआ। राजनीति की कई चिन्तन-धाराओं ने बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में यह दावा पेश किया था कि वे मानव-मुक्ति को ही लक्ष्य बनाकर चल रही हैं, पर इन्होंने जिन व्यवस्थाओं को स्थापित किया उनको जनतन्त्र का नाम तो अवश्य दिया, पर अधिकांश व्यवस्थाओं में तन्त्र औरों के ही हाथ रहा 'जन' तो ज्यों का त्यों दास बना रहा। यह बात केवल विदेशों पर ही लागू नहीं होती। दुर्भाग्यवश यह कटु सत्य हमारे देश पर भी लागू होता दीख रहा है।" आम आदमी का रोना है – 'जैसे हम पहले थे। वैसे ही अब भी हैं।'

प्रहरियों के वार्तालाप में व्यंग्य विडम्बना और गहन वेदना वर्तमान है। ये प्रहरी व्यर्थता के कड़वे एहसास से थके हुए हैं। इन्होंने सत्रह दिनों के लोमहर्षक संग्राम में भाग तो नहीं लिया किन्तु यहाँ राजमहल के सूने गलियारे में पहरा दे रहे हैं। ये शारीरिक रूप से अधिक मानसिक स्तर पर थके हुए जान पड़ते हैं। ये प्रहरी कौरवों के राजमहल के गलियारे में टहलने वाले प्रहरी मात्र नहीं, बल्कि प्रतीक भी हैं। हर मानव के भीतर इसी प्रकार का एक सूना गलियारा है, अन्धकार है, जिसमें उदासी टहल रही है। व्यक्ति जब स्वेच्छानुसार जीवन जीना चाहता है और जब उसे अवसर नहीं मिल पाता तब उसे जीवन की निरर्थकता का बोध होने लगता है, जीवन उसके लिए भार बन जाता है। प्रतीक का एक दूसरा पहलू भी है। सामान्यजन या प्रजा व्यवस्था की आज्ञाओं के बोझ से दबी अपने क्रोध और असंतोष को अन्दर ही अन्दर पीती हुई खामोश रहती है। उनका मौन और उनकी निष्क्रियता शासनकर्त्ताओं को निरंकुश और तानाशाह बनने की छूट देती है। इतिहास इसके उदाहरणों से भरा हुआ है।

'अन्धा युग' की सबसे बड़ी न्यूनता इसके अन्त में है, जहाँ एक तत्त्व की बात कहीं गई है, जो मन में बीज रूप में स्थित है। अन्ततः यह सन्देश रहस्यमय रह जाता है। समस्याओं का कोई ठोस समाधान लेखक प्रस्तुत नहीं कर पाता।

5.1.07. 'अन्धा युग' का राजनैतिक सन्दर्भ

'अन्धा युग' का रचनाकाल वह है जब महायुद्धीय तूफान के तेज और खूँखार चपेटे से दुनिया सँभल रही थी। ध्वस्त मानवता तीव्र जिजीविषा शक्ति के बल पर नवनिर्माण में लग गई थी। समय ने यह भी सिद्ध कर दिया कि खेमा कोई भी हो, उसको परिचालित करने वाली प्रवृत्ति एक ही है – राजसत्ता पर निरंकुश अधिकार। कौरव-पाण्डव के बीच वैमनस्य और अन्ततः युद्ध का कारण भी यही प्रवृत्ति थी। पाण्डवों को छलकपट से निष्कासित करने के बाद भी दुर्योधन मर्यादा का पालन करने को तैयार नहीं था। कृष्ण की मध्यस्थता भी व्यर्थ सिद्ध हुई। भीषण संहारकारी द्वितीय महायुद्ध के महानायक हिटलर ने भी नस्लवाद के आधार पर यहूदियों को दूसरे दर्जे का नागरिक घोषित कर उनके स्वत्व का अपहरण ही नहीं किया उन्हें नेस्तनाबूत करने की हरसम्भव कोशिश की। महाभारत की तरह लाखों निर्दोष लोग मौत के घाट उतार दिए गए। महायुद्ध के उपरान्त दुनिया समाजवादी और पूँजीवादी इन दो शिविरों में बँट गई। वर्चस्व की होड़ में शस्त्रीकरण की दौड़ शुरू हुई और दोनों के शस्त्रागारों में नये-नये मारक हथियारों का ज़ख़ीरा बढ़ने लगा। इससे तनाव और संघर्ष बढ़ा और शीतयुद्धों का माहौल पैदा हो गया। इन्हीं परिस्थितियों में 'अन्धा युग' की रचना हुई।

दो सौ वर्षों की परतन्त्रता से मुक्त हुए भारत के समक्ष दोनों रास्ते खुले हुए थे। इंग्लैंड, अमेरिका जैसे पूँजीवादी देश उसे अपने प्रभाव में रखना चाहते थे। रूस जैसा समाजवादी देश उसे विकास हेतु सहयोग देने को तैयार था। भारत असमंजस की स्थिति में था। वह अपना पथ निर्धारित नहीं कर रहा था। इस स्थिति पर चिन्तक और साहित्यकार भी अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर रहे थे। भारती के अनुसार दोनों पक्ष तनाव, मूल्यहीनता और शीतयुद्ध के लिए उत्तरदायी थे।

महाभारत की परिस्थितियाँ भी द्वितीय महायुद्ध के पूर्व की परिस्थितियों जैसी थीं। राजनीति में व्यक्तिवाद के बढ़ने से नीति मर्यादाओं को दरकिनार कर व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति को सर्वोपरि माना गया। नैतिकता के स्थान पर 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के सिद्धान्त पर अमल किया जाने लगा। आज भी वही स्थिति है। आत्मरक्षा के लिए शक्तिशाली होना ज़रूरी माना जाने लगा है। क्योंकि बड़ी मछली छोटी मछली को निगलने के लिए तैयार बैठी रहती है। धर्म, दर्शन इस स्थिति को बदलने में असमर्थ हैं।

'अन्धा युग' के लेखक पर अनास्था और व्यर्थताबोध का व्यापक प्रभाव है। इसी कारण वह सम्पूर्ण युग को 'अन्धा युग' की संज्ञा प्रदान करता है। लेखक को सर्वत्र आत्मघात और आत्मविनाश की प्रवृत्ति दिखाई देती है –

इस पूरी संस्कृति में
दर्शन में, धर्म में, कलाओं में
शासन व्यवस्था में
आत्महत्या होगा बस अन्तिम लक्ष्य मानव का

समाजवादी शिविर पूँजीवादी व्यवस्था के तौर तरीके अपना रहा है, लेकिन उनमें तनातनी बराबर बनी रहती है, इसलिए विश्वशान्ति की सम्भावनाएँ अभी भी क्षीण हैं।

5.1.08. 'अन्धा युग' आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में

डॉ॰ नगेन्द्र के अनुसार 'आधुनिक' शब्द का सामान्यतः तीन अर्थों में प्रयोग होता है – (i) समय सापेक्ष, (ii) नये का वाचक, (iii) विशिष्ट दृष्टिकोण या जीवनदर्शन का वाचक। उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि आधुनिकता का अर्थ व्यापक और गत्यात्मक ही मानना चाहिए। स्वचेतना आधुनिकता की प्रथम और अनिवार्य शर्त है। अपनी इसी स्वचेतना वृत्ति के कारण आधुनिकता की प्रमुख चिन्ता वर्तमान के लिए है, क्योंकि 'स्व' का सबसे गहरा बोध और सम्पर्क वर्तमान में होता है। आधुनिकता का उदय प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में होता है जो स्वातन्त्र्य और दायित्व को महत्त्व देती है। अपने वर्तमान के प्रति तीव्रतम सजगता आधुनिकता का केन्द्रीय तत्त्व है। 'आधुनिकता' और 'वर्तमान' दो शब्द हैं। 'वर्तमान' केवल समयबोधक शब्द है किन्तु आधुनिकता मात्र समय का ही नही, संवेदना और शैली का बोध भी कराता है। भारतेन्दु-युग से ही आधुनिकता समग्र भारत की खोज थी, जो भारतीय आत्मीयता का भाव विकसित करती है। छायावाद ने हमारी मूलभूत संस्कृति और मूलभूत भारतीय आदर्शों एवं आस्था का विरोध नहीं किया। छायावाद के बाद आधुनिकता का स्वरूप परिवर्तित हुआ। प्रयोगवाद और नयी कविता में आधुनिकता संस्कृति में आस्था का विरोध करती है। नया साहित्य आस्था और विश्वास को नकारता है। 'अन्धा युग' में युयुत्सु का कथन इसी बात को ध्वनित करता है –

सुनता हूँ किसका स्वर इनअन्ध लोकों में
किसको मिली है नयी आस्था ?

आस्था नामक यह घिसा हुआ सिक्का
अब मिला अश्वत्थामा को
जिसे नकली और खोटा समझकर मैं
कूड़े पर फेंक चुका हूँ वर्षों पहले।

युग-जीवन की परिस्थितियों के कारण संस्कृति का विरोध उत्पन्न हुआ हैं। समाज, संस्कृति, राजनीति के घटाटोप में व्यक्ति का जो मूल्यवान् है वह छिप जाता है। व्यवस्था व संस्थान से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण व्यक्ति पुरातन आस्था और सत्य को ढाल बनाकर अपनी रक्षा करते हैं, जिससे नयी पीढ़ी का विकास अवरुद्ध होता है। आधुनिकता में संकट का बोध, विरोध और अस्वीकार की मुद्रा तथा संशय का समावेश होता है। 'अन्धा युग' में कृष्ण के अनुगामी, भक्त और नीतिज्ञ विदुर के मन में संशय उपजता दिखाया गया है –

और अब मेरा स्वर संशयग्रस्त है
क्योंकि लगता है कि मेरे प्रभु
उस निकम्मी धुरी की तरह हैं
जिसके सारे पहिये उतर गए हैं
और जो खुद घूम नहीं सकती

नये साहित्य में उपलब्ध आधुनिकता की इस अवधारणा के फलस्वरूप कृष्ण का चरित्र भी 'अन्धा युग' में एक नये साँचे में ढला है। यहाँ कृष्ण केवल प्रभु अथवा परब्रह्म ही नहीं है, बल्कि देवत्व एवं दानवत्व की सन्धि-रेखा पर खड़े व आधुनिक जटिल मनुष्य भी हैं, जो परिस्थितियों से प्रेरित होकर सत्य की रक्षा करते हैं तो सत्य का त्याग भी, मर्यादा का ग्रहण करते हैं तो अमर्यादा का ग्रहण भी। इस प्रकार पहली बार कृष्ण को अमर्यादित रूप में चित्रित किया गया है। 'अन्धा युग' के कृष्ण सत्य-असत्य, मर्यादा-अमर्यादा के एकमात्र निर्णायक नहीं है। इनका निर्णय संशयग्रस्त मनुष्य कर भी कैसे सकता है ? आधुनिक युगबोध जटिल हो गया है। सभी सिद्धान्त, सभी आदर्श खोखले सिद्ध हो चुके हैं। आधुनिक बुद्धिवादी मनुष्य गहरी प्रश्नाकुलता में डूबा हुआ है, क्योंकि उसे इस बात का ज्ञान हो गया है कि कोई आदर्श अथवा सिद्धान्त परम सत्य तक नहीं पहुँचा सकता है। उसे जीवन की निरर्थकता एवं व्यर्थता का कटु और तिक्त अनुभव होता है और वह अनुभवजन्य ज्ञान के आधार पर पाता है कि सत्य और कुछ नहीं, अनुभव से जो प्राप्त होता है, वही सत्य है।

'अन्धा युग' के अश्वत्थामा के अन्दर की कुरूपता आधुनिक मनुष्य की कुरूपता है, उसके अन्दर की पाशविकता आधुनिक मानव की पाशविकता है – उस आधुनिक मानव की जिसके अन्दर निरन्तर एक युद्धवृत्ति विद्यमान रहती है। इस तरह अश्वत्थामा केवल पौराणिक पात्र नहीं, आधुनिक मानव का प्रतिनिधि या प्रतीक बन जाता है। आधुनिकताबोध ने 'अन्धा युग' को एक महत्त्वपूर्ण कृति बना दिया है।

5.1.09. 'अन्धा युग' और अस्तित्ववाद

मार्क्सवाद पूँजीवाद के विरुद्ध सामूहिक सशक्त क्रान्ति में विश्वास रखता है तो अस्तित्ववाद समूहवाद के विरुद्ध व्यक्ति की इयत्ता एवं उसकी स्वतन्त्रता पर जोर देता है। नास्तिक अस्तित्ववाद के प्रवर्तक ज्यां-पॉल सार्त्र ने घोषित किया कि मनुष्य की कोई पूर्वनिर्धारित अवधारणा नहीं होती है। अस्तित्व में आने के बाद उसके सामने विकल्प होते हैं – उसे स्वयं चुनाव करना होता है। इस कार्य में वह एकाकी है, उसकी मदद करने के लिए कोई ईश्वर नहीं है, अतएव विकल्प का चुनाव पीड़ादायक है। व्यक्ति की इसी विशिष्टता का कथन 'अन्धा युग' में है –

जब कोई भी मनुष्य
अनासक्त होकर चुनौती देता है इतिहास को
उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है
नियति नहीं है पूर्वनिर्धारित
उसको हर क्षण मानव-निर्णय बनाता मिटाता है।

अस्तित्ववाद मनुष्य पर विचार या विचारजनित संस्था के आदेशों के लादे जाने के विरुद्ध है। वह सामाजिक प्रश्नों को सामाजिकता से काटकर निजी स्तर पर हल करने का दावा करता है। 'अन्धा युग' का लेखक भी इस विचारधारा से अभिभूत है। अपनी संक्षिप्त भूमिका में वह लिखता है – "पर एक नाश होता है – अन्धकार के गरजते महासागर की चुनौती को स्वीकार करने का, पर्वताकार लहरों से खाली हाथ जूझने का, अनमापी गहराइयों में उतर जाने का और फिर अपने को सारे खतरों में डाल कर आस्था के, प्रकाश के, सत्य के, मर्यादा के कुछ कणों को बटोरकर, बचाकर, धरातल तक ले जाने का।" लेखक के इस कथन को कसौटी पर कसें तो सत्य इसके विपरीत दिखाई पड़ता है। 'अन्धा युग' में संसार तेजी से विनाश की ओर अग्रसर दिखाया गया है। 'अन्धा युग' के पात्र भी आत्मघात, अमानुषिकता, अपंगत्व की ओर अग्रसर हैं। मर्यादा की पतली डोरी के सुलझाने का साहस रखनेवाले कृष्ण गान्धारी के शाप से ग्रस्त बहेलिए के तीर का शिकार हो जाते हैं। लेखक द्वारा रची गई इस अन्धी सृष्टि में प्रकाश के कण हैं कहाँ, जिन्हें बटोरकर लाने का वह दावा करता है। व्यक्ति के साहसिक अभियान से क्रान्तियाँ नहीं होती। परिवर्तन घटित होने के लिए समूह की शक्ति ज़रूरी है। नेता के साथ अनुयायी न हो तो उसके प्रयास निष्फल होते हैं।

रूसी लेखक फ़्योदोर दोस्तोयेव्स्की ने अस्तित्ववाद में आत्मनिर्वासन का भाव जोड़ा। इस संसार में हमारी स्थिति बड़ी विसंगत (एब्सर्ड) है और किसी बाहरी आदमी (आउटसाइडर) की तरह हमें यह आत्मनिर्वासन झेलना ही पड़ेगा। 'अन्धा युग' में युयुत्सु के सन्दर्भ में आत्मनिर्वासन की भावना के दर्शन होते हैं। वह कौरव होकर भी पाण्डवों के पक्ष में युद्ध करता है। उसे अन्त में हर ओर से व्यंग्य और तिरस्कार की बौछार झेलनी पड़ती है। भीड़ भरी दुनिया में वह स्वयं को अकेला पाता है और आत्मघात कर लेता है।

अस्तित्ववाद मनुष्य को उम्मीद और साहस प्रदान करने वाला दर्शन नहीं है। मूल्यों के टूटने की बातकर वह मनुष्य को हताश करता है। फ्रेडरिक नीत्शे ने ईश्वर की मृत्यु की घोषणा की थी। 'अन्धा युग' का दिव्य पात्र

कृष्ण एक साधारण व्याध के साधारण बाण से मारा जाता है। द्वितीय महायुद्ध के बाद खण्डित मूल्यों एवं ध्वस्त आस्थाओं की छाया में पश्चिम में जो सोचा-विचारा गया उससे अस्तित्ववाद अस्तित्व में आया। इसे दुर्भाग्य का दर्शन कहा जाता है। नाटक के अधिकांश पात्र दुर्भाग्य के मारे हुए हैं। अस्तित्ववाद अनास्था एवं संशय पैदा करता है। कृष्ण के परम भक्त एवं नीतिज्ञ विदुर के मन में प्रभु को लेकर संशय पैदा हो गया है –

क्योंकि लगता है कि मेरे प्रभु
उस निकम्मी धुरी की तरह हैं
जिसके सारे पहिये उतर गए हैं
और जो खुद घूम नहीं सकती

'अन्धा युग' का अधिकांश अन्धकार अस्तित्ववाद की देन है भले ही उसे 'आधुनिकता के नये युगबोध' का नाम दिया जाए।

5.1.10. पाठ-सार

'गुनाहों का देवता' और 'ठण्डा लोहा' के प्रकाशन के बाद सन् 1954 में भारती का काव्य-नाटक 'अन्धा युग' प्रकाशित हुआ। महाभारत के युद्ध के अन्तिम दिन की संध्या के घटनाचक्रों का वर्णन करने वाले इस नाटक को भारती ने 'यह कथा ज्योति की है, अन्धों के माध्यम से' कहा है। युद्ध की दारुण विभीषिका का चित्रण करते हुए नाटककार ने आधुनिक युगबोध को अभिव्यक्त किया है। पात्र प्रतीकात्मक हैं। अस्तित्ववाद की विचारधारा का नाटक पर गहरा प्रभाव है। मनुष्य जीवन में कुरूपता का आ जाना भयानक है और उससे भयानक है उसे अस्वीकार करना। उसे स्वीकार कर ही हम मुक्ति पा सकते हैं। भारती की यह कृति परिस्थितियों के भीतर मानव-जीवन की इसी कुरूपता का उद्घाटन करती है।

5.1.11. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. डॉ॰ धर्मवीर भारती का जन्म कहाँ हुआ था ?

(क) बनारस
(ख) दिल्ली
(ग) लखनऊ
(घ) इलाहाबाद

2. 'अन्धा युग' किस महाकाव्य पर आधारित है ?

(क) रामायण

(ख) महाभारत
(ग) रामचरितमानस
(घ) साकेत

3. 'अन्धा युग' पर किस विचारधारा का विशेष प्रभाव है ?
(क) मार्क्सवाद
(ख) गाँधीवाद
(ग) फासीवाद
(घ) अस्तित्ववाद

4. कृष्ण की मृत्यु कैसे हुई ?
(क) दुर्योधन के प्रहार से
(ख) निराशा के कारण
(ग) समुद्र में डूबने से
(घ) व्याध के बाण से

5. प्रहरी-द्वय किसके प्रतीक है ?
(क) पहरेदारों के
(ख) आम आदमी के
(ग) षड्यन्त्रकारियों के
(घ) विद्रोहियों के

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. मिथक का आशय स्पष्ट कीजिए।
2. 'अन्धा युग' में मिथकीय आख्यान के पुनर्सृजन को स्पष्ट कीजिए।
3. महाभारतकालीन एवं वर्तमान स्थितियों के साम्य को स्पष्ट कीजिए।
4. 'अन्धा युग' में व्यक्त संशय एवं अनास्था की व्याख्या कीजिए।
5. 'यह कथा ज्योति की है, अन्धों के माध्यम से' का आशय स्पष्ट कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. 'अन्धा युग' की कथावस्तु का आधुनिकसन्दर्भ में विवेचन कीजिए।
2. 'अन्धा युग' के राजनैतिक सन्दर्भों को स्पष्ट करते हुए लेखक की सोच की समीक्षा कीजिए।

3. 'अन्धा युग' पर अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन के प्रभाव का मूल्यांकन कीजिए।
4. आधुनिकताबोध का स्वरूप स्पष्ट करते हुए 'अन्धा युग' की रचना-दृष्टि की समीक्षा कीजिए।
5. 'अन्धा युग' की मानव-नियति सम्बन्धी अवधारणा का मूल्यांकन कीजिए।

5.1.12. कठिन शब्दावली

वर्चस्व	:	एकाधिकार
स्रोत	:	उद्गम स्थान
परिचालित	:	संचालित

5.1.13. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. भारती, धर्मवीर, मानव मूल्य और साहित्य, नयी दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ
2. डॉ॰ नगेन्द्र, आस्था के चरण, 1968, नेशनल पब्लिंग हाऊस, दिल्ली
3. डॉ॰ बच्चन सिंह, हिन्दी नाटक 1958, साहित्य भवन, इलाहाबाद
4. लाल, डॉ॰ लक्ष्मीनारायण, रंगमंच और नाटक की भूमिका, 1965, दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस
5. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, हिन्दी नवलेखन, 1960, दिल्ली भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 5 : अन्धा युग

इकाई – 2 : 'अन्धा युग' में चरित्र-सृष्टि

इकाई की रूपरेखा

5.2.0. उद्देश्य कथन
5.2.1. प्रस्तावना
5.2.2. 'अन्धा युग' चरित्र-चित्रण की विधियाँ
5.2.3. 'अन्धा युग' के प्रमुख पात्र
5.2.3.1. अश्वत्थामा
5.2.3.2. कृष्ण
5.2.4. 'अन्धा युग' के गौण पात्र
5.2.4.1. संजय
5.2.4.2. युयुत्सु
5.2.4.3. गान्धारी
5.2.4.4. धृतराष्ट्र
5.2.4.5. विदुर
5.2.4.6. युधिष्ठिर
5.2.4.7. वृद्ध याचक
5.2.4.8. प्रहरी युग्म
5.2.4.9. कृपाचार्य, अपंग गूँगा सैनिक, कृतवर्मा, व्यास और बलराम
5.2.5. 'अन्धा युग' के पात्रों की प्रतीकात्मकता
5.2.6. पाठ-सार
5.2.7. बोध प्रश्न
5.2.8. कठिन शब्दावली
5.2.9. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

5.2.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. 'अन्धा युग' के पात्रों की विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे।

ii. 'अन्धा युग' के पात्रों की प्रतीकात्मकता को समसामयिक सन्दर्भ में विश्लेषित कर सकेंगे।

5.2.1. प्रस्तावना

पिछली इकाई में हम 'अन्धा युग' की कथावस्तु के स्रोत पर विचार कर चुके हैं। भारती ने मिथकीय आख्यान का पुनर्सृजन किया है। पुनर्सृजन की उपलब्धियों एवं अभावों पर भी हम विस्तृत चर्चा कर चुके हैं। कथानक तो एक ढाँचा है, उसमें रक्त, मांस, मज्जा पात्रों के द्वारा आता है। नाटक पढ़ने की नहीं रंगमंच पर दर्शकों के समक्ष अभिनय एवं अन्य साधनों से प्रस्तुत किए जाने की विधा है। नाटक के पात्र अपने आप में निर्जीव होते हैं, जब तक अभिनेता अपने अभिनय से उन्हें सजीव न बनाए। इस इकाई में हमें 'अन्धा युग' के चरित्रों के बारे में विचार करना है।

कोई भी साहित्यिक कृति शून्य में नहीं रची जाती। उसके रचने का एक उद्देश्य होता है। रचना के समय की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि परिस्थितियाँ कृति को प्रभावित करती हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो लेखक उनसे प्रभावित होता है। वे उसे चिन्तन के लिए प्रेरित करती हैं। वही चिन्तन संवेदना के माध्यम से रचना में व्यक्त होता है। 'अन्धा युग' की रचना युद्धोपरान्त की निराशाजनक परिस्थितियों तथा आस्थाओं के चकनाचूर होने की दशा को ध्यान में रखकर की गई है। आधुनिकता-बोध को संवेदना में ढालने के लिए महाभारत की कथा एवं उसके पात्रों को माध्यम बनाया गया है। महाभारत के पात्र 'अन्धा युग' में आकर परिवर्तित हो गए हैं, प्रतीकात्मक हो गए हैं। यह परिवर्तन कैसे और क्यों हुआ ? इन प्रश्नों पर हम इस इकाई में विचार करेंगे।

5.2.2. 'अन्धा युग' चरित्र-चित्रण की विधियाँ

कथा-साहित्य में लेखक को यह सुविधा रहती है कि वह अपने शब्दों में पात्र के व्यक्तित्व की विशेषताएँ बताते हुए उसका चरित्र-चित्रण करे, लेकिन नाटक की शिल्पगत सीमाओं के कारण नाटककार इस सुविधा से वंचित होता है। नाटककार पात्रों के माध्यम से मनुष्य के अन्तर्जीवन का दृश्य दिखाता है। वह मानव मन की अतल गहराइयों में प्रवेश कर छिपे हुए श्वेत-श्याम पक्षों को उजागर करता है। किसी परिस्थिति विशेष में कोई पात्र कैसा आचरण करता है, कैसी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है, इस आधार पर भी उसका चरित्र व्यक्त होता है। नाटक जीवन की ही अनुकृति है। अतएव जीवन के समान ही नाटक में भी पात्र विभिन्न क्रियाओं और आचरणों से अपना चरित्र उद्‌घाटित करते हैं। नाटक के संसार का निर्माता लेखक होता है। नाट्य-निर्देशक लेखक के रंग-निर्देशों के अनुसार अभिनेताओं से अभिनय करवा कर नाटक को प्रेक्षकों के समक्ष साकार करता है। जिस निर्देशक में नाटककार की योजना को पूर्णतः ग्रहण करने की क्षमता होती है उसके द्वारा प्रस्तुत नाटक सजीव एवं प्रभावशाली होता है। कभी-कभी नाटक के चरित्र प्रतीकात्मक होते हैं। तब वे विभिन्न मानवीय भावों, प्रवृत्तियों और मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हुए दिखाई पड़ते हैं। वे परस्पर विरोधी मनोवृत्तियों या मनोविकारों के प्रतीक होते हैं। जो प्रतीकत्व जबरन पात्र पर आरोपित किया जाता है, वह कृति की स्वाभाविकता और सहजता में बाधक सिद्ध होता है।

नाटक के लिए 'ड्रामा' और 'प्ले' शब्दों का प्रयोग होता है। संस्कृत में 'रूपक' और हिन्दी में 'खेला' शब्द प्रयुक्त होता है। उसका एक अर्थ 'करना' भी होता है, क्योंकि उसमें क्रिया-व्यापार ही महत्त्वपूर्ण होता है। पात्रों के क्रिया-व्यापार उसके व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करते हैं। हम सूर्यास्त के दृश्य का उदाहरण लें। इस पर विभिन्न व्यक्ति विभिन्न प्रतिक्रियाएँ व्यक्त कर सकते हैं। एक कवि कहेगा 'संध्या सिन्दूर लुटा रही है', एक वृद्ध व्यक्ति इसे 'जीवन की साँझ' के रूप में देखेगा, दुखी व्यक्ति इसे 'निराशा' के प्रतीक के रूप में देखेगा। इसी प्रकार नाटक में विभिन्न पात्रों की प्रतिक्रियाएँ उनके चरित्र की जानकारी देती हैं।

नाटक में संवाद होते हैं। संवाद और संवाद की भाषा से भी नाटककार चरित्र की अन्तरंग विशेषताएँ प्रकट करता है। पात्रों की भाव-दशा और मानसिक अवस्था उनके शब्दों में, उनकी भाषा में व्यक्त होती है। 'अन्धा युग' में विदुर, धृतराष्ट्र, अश्वात्थामा, गान्धारी आदि के संवादों में उनकी मनोदशा व्यक्त हुई है। युयुत्सु के प्रति गान्धारी का व्यंग्य उसकी मन की हालत बयान करता है –

बेटा,
भुजाएँ ये तुम्हारी
पराक्रम भरी
थकी तो नहीं
अपने बन्धुजनों का
वध करते-करते ?

विदुर कृष्ण के अनुगामी, नीतिज्ञ और भक्त हैं। कृष्ण की सामर्थ्य के बारे में संशयग्रस्त हो विदुर उन्हें 'निकम्मी धुरी' कहने के बाद तुरन्त पश्चात्ताप ग्रस्त होकर कह बैठते हैं –

पर संशय पाप है
और मैं पाप नहीं करना चाहता।

अन्य पात्रों के संवाद भी किसी पात्र के चरित्र को व्यंजित करते हैं। कृष्ण के बारे में बलराम की टिप्पणी उनके व्यक्तित्व के एक पक्ष पर प्रकाश डालती है –

जानता हूँ मैं तुमको शैशव से
रहे हो सदा ही मर्यादाहीन कुटबुद्धि

अश्वत्थामा के निम्नलिखित संवाद में मृतप्राय दुर्योधन की अकड़ और प्रतिशोध-भावना की अभिव्यक्ति हुई है –

उन्होंने कहा है
अश्वत्थामा
जब तक प्रतिशोध का

न दोगे
संवाद मुझे
तब तक जीवित रहूँगा मैं
चाहे मेरे अंग-अंग
ये सारे वन पशु चबा जाए।

हम ऊपर कह आए हैं कि नाटककार को कथाकार जैसी सुविधा नहीं है कि वह पात्र के चरित्र की खूबियाँ बताए। 'अन्धा युग' में नाटककार ने कथागायन की युक्ति का प्रयोग कर इस सुविधा को प्राप्त किया है। नाटक के पाँचवे अंक में इस युक्ति के द्वारा पाँचों पाण्डवों के चरित्र की खूबियाँ बता दी गई हैं –

थे भीम बुद्धि से मन्द, प्रकृति से अभिमानी
अर्जुन थे असमय वृद्ध, नकुल थे अज्ञानी
सहदेव अर्ध-विकसित थे शैशव से अपने
थे एक युधिष्ठिर जिनके चिन्तित माथे पर
थे लदे हुए भावी विकृत युग के सपने।

कथा-गायन की पद्धति का प्रयोग डॉ॰ भारती की प्रयोगशीलता का परिचायक है।

5.2.3. 'अन्धा युग' के प्रमुख पात्र

'अन्धा युग' के पात्रों पर विचार करते समय 'निर्देश' की लेखकीय पंक्तियों पर ध्यान देना ज़रूरी है – "कुछ स्वकल्पित पात्र और कुछ स्वकल्पित घटनाएँ। प्राचीन पद्धति भी इसकी अनुमति देती है। दो प्रहरी, जो घटनाओं और स्थितियों पर अपनी व्याख्याएँ देते चलते हैं, बहुत कुछ ग्रीक कोरस के निम्न वर्ग के पात्रों की भाँति हैं; किन्तु उनका अपना प्रतीकात्मक महत्त्व भी है। कृष्ण के वधकर्त्ता का नाम 'जरा' था ऐसा भागवत में भी मिलता है, लेखक ने उसे वृद्ध याचक की प्रेत काया मान लिया है।"

'अन्धा युग' में पन्द्रह पुरुष और एक स्त्रीपात्र की भूमिकाएँ हैं। हालाँकि नाटक के सूच्य संवादों में उत्तरा, कुन्ती एवं अन्य स्त्रियों का उल्लेख है किन्तु मंच पर केवल एक स्त्री पात्र आती है और वह है गान्धारी जो कृष्ण को शाप देती है। 'महाभारत' के समान 'अन्धा युग' में भी कृष्ण महत्त्वपूर्ण पात्र हैं, लेकिन वे मंच पर एक बार भी नहीं आते। उनके संवाद नेपथ्य से बोले गए हैं। उनकी उपस्थिति वंशी-ध्वनि के द्वारा सूचित की गई है। गान्धारी के शाप के बाद वंशी-ध्वनि के साथ कृष्ण की छाया दिखाई पड़ती है। मंच पर उपस्थित हुए बिना कृष्ण का चरित्र सम्पूर्ण नाटक में व्याप्त है।

महाभारत के अधिकांश पात्र असाधारण हैं। उनके साथ जो कथाएँ चलती हैं, वे उन्हें मिथक बना देती हैं। 'अन्धा युग' के धृतराष्ट्र, संजय, युयुत्सु अश्वत्थामा आदि अपने नाम और काम दोनों से मिथक हैं। स्मरण रखना चाहिए कि ये न आदिम मिथक हैं और न उपनिषद्कालीन। इन्हें ह्रासोन्मुख भारतीय संस्कृति की फलश्रुति

कहा जा सकता है। इसलिए इन्हें आज की ह्रासोन्मुख मूल्यहीन संस्कृति से सार्थक ढंग से सन्दर्भित किया जा सकता है।

5.2.3.1. अश्वत्थामा

अश्वत्थामा के चरित्र के बारे में विभिन्न विद्वानों ने अपने मत प्रकट किए हैं। डॉ॰ कुमार विमल ने लिखा है – "केवल अश्वत्थामा का चरित्र मार्मिकता के साथ चित्रित किया गया है।" इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि अश्वत्थामा अपनी समस्त कुण्ठाओं के साथ जिस रूप में चित्रित किया गया है, वह रूप बहुत ही शक्तिशाली और सजीव बन पड़ा है। लेखक की सहानुभूति बहुत दूर तक अश्वत्थामा के साथ ही दिखाई पड़ती है, युधिष्ठिर के अर्धसत्य की मीमांसा ने लेखक की सहानुभूति का स्रोत अश्वत्थामा की ओर मोड़ दिया। डॉ॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार "वह 'अन्धा युग' की प्रायः सभी समस्याओं का केन्द्र-बिन्दु है और दृश्यकाव्य के समापन तक उसका चरित्र बराबर निखरता गया है।" 'अन्धा युग' के पृष्ठों पर सर्वप्रथम अश्वत्थामा भग्न और खण्डित योद्धा के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है। पिता की क्रूर और छलयुक्त हत्या और दुर्योधन की दीन-हीन स्थिति से विरक्त और खिन्न होकर विक्षुब्धता से वह धनुष को मरोड़ कर, टुकड़े-टुकड़े कर देता है। प्रतिशोध की अग्नि में झुलसता अश्वत्थामा भयावह होते हुए भी शक्तिहीन होता चला जाता है। उसके मस्तिष्क पर बार-बार पिता की क्रूरतापूर्ण निर्मम हत्या का चित्र बिजली की भाँति कौंध जाता है और वह अन्दर ही अन्दर खोखला होता चला जाता है। अश्वत्थामा का चरित्र अपने आप में ध्वंसात्मक पीड़ादायक और एक उलझी हुई गुत्थी है। इस चरित्र के निर्माण की प्रक्रिया का ब्यौरा देते हुए भारती ने लिखा है – "इस बार ही नहीं अनेक बार ऐसा हुआ है। पात्र के बारे में पूरे नोट्स बना लीजिए, यहाँ तक कि घटनाक्रम और संवादों की विस्तृत रूपरेखा भी सोच लीजिए, लेकिन जहाँ लिखते-लिखते पात्र अपने व्यक्तित्व को उपलब्ध कर ले गया, वहीं वह आपके हाथ में नहीं रहता फिर उसका चरित्र-विकास अपने आन्तरिक क्रम के अनुसार होता है और आपका बनाया तथा कागज पर लिखा हुआ सारा ढाँचा नाकाफी होने लगता है। अश्वत्थामा के बारे में भी यही हुआ। जब 'अन्धा युग' के पूरे नोट्स बनाये थे और अंक-प्रतिअंक उसकी रूपरेखा बनायी थी तब कृष्ण के सारे मूल्य-मर्यादा जाल को ध्वस्त करने का दायित्व गान्धारी पर था लेकिन लिखते-लिखते गान्धारी शाप देकर कृष्ण के प्रति सहसा द्रवित हो गई और विद्रोह तथा असहमति की कठिन भूमिका आगे आकर अश्वत्थामा ने सँभाल ली।"

युधिष्ठिर का असत्य से समझौता अश्वत्थामा के अन्दर समस्त मानवीय भावनाओं को निर्मूल कर उसे विध्वंस, घृणा और बर्बरता का प्रतिरूप बना देता है। वह स्वयं ही अपनी पीड़ा की मार्मिक अभिव्यक्ति करते हुए अपने चरित्र पर प्रकाश डालता है –

मैं तुम्हारा यह अश्वत्थामा
कायर अश्वत्थामा
शेष हूँ अभी तक
जैसे रोगी मुर्दे के

मुख में शेष रहता है
गन्दा कफ
बासी थूक
शेष हूँ अभी तक मैं।

वह अपने नपुंसक और खण्डित अस्तित्व से विक्षुब्ध होकर आत्मघात पर उतर आता है, किन्तु अगले ही क्षण वह प्रतिशोध की दारुण ज्वाला में सुलग कर तड़प उठता है और इसी भावना का सहारा लेकर वह ध्वंस और संहार की राह पर चल पड़ता है। वह बर्बर और अमानुषिक पशु बन जाता है –

किन्तु नहीं
जीवित रहूँगा मैं
अन्ध बर्बर पशु सा ...
वध, केवल वध, केवल वध
अन्तिम अर्थ बने
मेरे इस अस्तित्व का।

परिस्थितियों ने उसे उस बिन्दु पर पहुँचा दिया कि न चाहते हुए भी उसे किसी की गर्दन मरोड़ देने की इच्छा होती है। उसके मस्तिष्क में एक जटिल मनोग्रन्थि बन जाती है। वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप वह उन्माद की चरमसीमा को भी पार कर जाता है। वध उसका धर्म बन जाता है। कभी वह कहता है –

मेरे भूखे पंजे
जाकर दबोचेंगे
वह गला युधिष्ठिर का,
जिससे निकला था अश्वत्थामा हतो हतः

और कभी वृद्ध की हत्या कर कहता है –

मैंने नहीं मारा उसे
मातुल विश्वास करो।

उसका व्यक्तित्व स्थिर नहीं रहता। वह अधर्म का उत्तर अधर्म से ही देने का निश्चय कर पाण्डवों का हनन करने की प्रतिज्ञा करता है –

मैं अश्वत्थामा उन नीचों को मारूँगा।

अपने वचन का दृढ़ता से पालन करनेवाला अश्वत्थामा दुर्योधन को दिया अपना वचन और प्रतिज्ञा निभाता है। कृतवर्मा के समक्ष वह अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा को दोहराता है –

सुनते हो कृतवर्मा
कल तक मैं लूँगा प्रतिशोध
सेना यदि छोड़ जाए
तब भी अकेला मैं ...

वह घृणा से मरकर अमानुषिकता पर उतर कर पाण्डव-शिविरों को अग्नि की लपटों में झोंक देता है, स्त्रियों को हाथियों से निर्ममतापूर्वक कुचलवा देता है और धृष्टद्युम्न की हत्या करने में अपनी घृणा की चरम परिणति कर देता है। यातना से तड़पा-तड़पा कर उसका घूँसों से ही हनन करता है। वह दुर्योधन के समक्ष पाण्डव के उत्तराधिकारी को नष्ट करने की घोषणा करता है। वह शंकर का भक्त और परम पराक्रमी है। वह वल्कल धारण करने की इच्छा करता है किन्तु अर्जुन के बाण-प्रहार से क्रुद्ध होकर अर्जुन पर ब्रह्मास्त्र चला देता है।

भ्रूण हत्या के निष्ठुर क्रूर कर्म को कभी क्षमा नहीं किया जा सकता। इससे दर्शकों के मन में अश्वत्थामा के प्रति वितृष्णा, जुगुप्सा, घृणा और अस्वीकार के भाव पैदा होते हैं। अश्वत्थामा एक पराक्रमी योद्धा की भाँति निर्भीक, निडर और स्पष्टवादी है। स्पष्टवादिता की राह पर चलते हुए वह अपने विपक्षी परम शत्रु कृष्ण की प्रशंसा करता है। युयुत्सु कृष्ण के अवसान को'कायर मरण' कहता है। अश्वत्थामा अपनी असहमति व्यक्त करता है –

मेरा था शत्रु वह
लेकिन कहूँगा मैं
दिव्य शान्ति छायी हुई थी
उसके स्वर्ण मस्तक पर

अश्वत्थामा अपने आप को अमानुषिक और मानव-भविष्य की रक्षा करने में अक्षम की संज्ञा देते हुए भी अन्त में आत्मान्वेषी और आत्मदर्शी के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है। अन्ततः यही कहना होगा कि अश्वत्थामा जैसे चरित्र की सृष्टि भारती की एक निजी और अन्यतम उपलब्धि है।

5.2.3.2. कृष्ण

कृष्ण के देवत्व वाले रूप का निषेध न करते हुए भारती ने उनके चरित्र को मानवतावादी धरातल पर स्थित किया है। 'अन्धा युग' में कृष्ण का चरित्र विरोधी प्रवृत्तियों को समाहित किए हुए है। दार्शनिक ,राजनीतिज्ञ और ईश्वर के रूप में चित्रित करने के उपरान्त भी अन्य पात्रों की विभिन्न प्रतिक्रियाएँ हैं। बलराम उन्हें 'कूटबुद्धि' का विशेषण देते हैं–

जानता हूँ मैं तुमको शैशव से
रहे हो सदा ही मर्यादाहीन कुटबुद्धि

भीम द्वारा दुर्योधन को अधर्म से मारने की प्रेरणा देनेवाले कृष्ण को अश्वत्थामा और गान्धारी 'अन्यायी' की संज्ञा से विभूषित करते हैं –

अन्यायी कृष्ण इसके बाद
अश्वत्थामा को जीवित नहीं छोड़ेंगे

और

मैं था अकेला
और अन्यायी कृष्ण पाण्डवों सहित ...

इसी प्रकार गान्धारी कृष्ण पर प्रभुता के दुरुपयोग का खुला आरोप लगाती है –

इंगित पर तुम्हारे ही भीम ने अधर्म किया
क्यों नहीं तुमने वह शाप दिया भीम को
जो तुमने दिया निरपराध अश्वत्थामा को
तुमने किया प्रभुता का दुरुपयोग

कृष्ण के अनुगामी, भक्त एवं नीतिज्ञ विदुर भी अपने प्रभु की सामर्थ्य के प्रति संशयग्रस्त हो जाते हैं –

और अब मेरा स्वर संशयग्रस्त है
क्योंकि लगता है कि मेरे प्रभु
उस निकम्मी धुरी की तरह हैं
जिसके सारे पहिये उतर गए हैं
और जो खुद घूम नहीं सकती

गान्धारी कृष्ण को 'वंचक' कहने में भी नहीं हिचकिचाती –

जिसको तुम कहते हो प्रभु
उसने जब चाहा
मर्यादा को अपने हित में बदल लिया, वंचक है।

अपने पुत्रों के विनाश के लिए वह कृष्ण को दोषी मानती है और क्रोध में आकर उन्हें कठोर शाप दे बैठती है –

तो सुनो कृष्ण !

प्रभु हो या परात्पर हो
कुछ भी हो
सारा तुम्हारा वंश
इसी तरह पागल कुत्तों की तरह
एक-दूसरे को परस्पर फाड़ खायेगा

तुम खुद उनका विनाश करके कई वर्षों बाद
किसी घने जंगल में
साधारण व्याध के हाथों मारे जाओगे

प्रभु हो
पर मारे जाओगे पशुओं की तरह।

कर्मयोगी कृष्ण की असीम शक्ति और क्षमता याचक के शब्दों में ध्वनित होती है –

किन्तु उस दिन सिद्ध हुआ
जब कोई भी मनुष्य
अनासक्त होकर चुनौती देता है इतिहास को
उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है

क्रोध के आवेश में कृष्ण को शाप देनेवाली गान्धारी अपने कृत्य पर पश्चात्ताप करती हुई कहती है –

रोई नहीं मैं अपने
सौ पुत्रों के लिये
लेकिन कृष्ण तुम पर
मेरी ममता अगाध है।
कर देते शाप यह मेरा तुम अस्वीकार
तो क्या मुझे दुःख होता ?
मैं थी निराश, मैं कटु थी,
पुत्रहीना थी।

नाटक के प्रारम्भ में ही कृष्ण को दिव्य आदर्शों की प्रतिमूर्ति मर्यादारक्षक की संज्ञा प्रदान की गई है। उन्हें मर्यादा की पतली डोरी को सुलझाने वाला एकमात्र अनासक्त, निर्विकार, निर्लेप कहा गया है। प्रेतात्मा वृद्ध याचक उनके रथ की गति को इसलिए नहीं बाँध पाता, क्योंकि वे शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव और मर्यादा के रक्षक हैं–

नहीं, उनमें सारे समय के प्रवाह की मर्यादा
बँध पाती है
बाँध नहीं सकता उसको मैं।

पुत्रहीना गान्धारी के विक्षुब्ध मन की आह शाप बनकर निकलती है। सम्पूर्ण यादव वंश के उन्मूलन के अत्यधिक कटु शाप को सुनकर भी कृष्ण मर्यादा का त्याग नहीं करते हैं। शाप को स्वीकार करते हुए वे स्वयं को गान्धारी का पुत्र बताते हैं। इस मर्यादापूर्ण आचरण को देखकर गान्धारी फूट-फूट कर रो पड़ती है, किन्तु युयुत्सु कृष्ण को कायर, वंचक, शक्तिहीन बताते हुए उन्हें मृत्यु का नाटक रचनेवाला कहता है –

जीकर वह जीत नहीं पाया अनास्था को
मरने का नाटक रचकर वह चाहता है
बाँधना हमको ...
वंचक था, कायर था, शक्तिहीन था वह ...

चारित्रिक विशेषताओं के कारण कृष्ण की छवि दिव्य पात्र की बनती है। अश्वत्थामा के सारे पापों का भार वे अपने ऊपर ले लेते हैं। सामान्य आदमी ऐसा नहीं कर सकता। यह केवल प्रभु के द्वारा ही सम्भव था। अश्वत्थामा कृष्ण की मृत्यु का साक्षी था। कृष्ण के तलवे से पीप भरा दुर्गन्धित नीला रक्त उसने बहते देखा। वह अपने शत्रु कृष्ण को सम्बोधित कर कहता है –

मरते समय क्या तुमने
इस नरपशु अश्वत्थामा को
अपने ही चरणों पर धारण किया ?
अपने ही शोणित से मुझको अभिव्यक्त किया।

यहाँ ईसाइयत का प्रभाव दिखाई देता है। क्रूस पर चढ़े ईसा के ज़ख्मों से बहते रक्त की याद आती है।

'अन्धा युग' में भगवान् कृष्ण का चरित्र सबसे अधिक रहस्यमय लगता है। अप्रत्यक्ष रूप से सब जगह विद्यमान रहते हुए भी वे प्रत्यक्ष रंगमंच पर उपस्थित नहीं होते। नाटककार ने वंशी-ध्वनि से उनकी उपस्थिति का आभास दिया है। उनके संवाद नेपथ्य से बोले जाते हैं।

5.2.4. 'अन्धा युग' के गौण पात्र

'अन्धा युग' के अन्य पात्र हैं – गान्धारी, विदुर, धृतराष्ट्र, युधिष्ठिर, कृतवर्मा, कृपाचार्य, संजय, युयुत्सु, वृद्ध याचक, गूँगा भिखारी एवं दो प्रहरी कल्पित पात्र हैं। व्यास और बलराम भी संक्षिप्त भूमिकाओं वाले पात्र हैं।

5.2.4.1. संजय

'अन्धा युग' के गौण पात्रों में संजय सर्वाधिक प्रभावी पात्र है। वह आस्था और अनास्था के द्वन्द्व से ग्रस्त पात्र है। संजय को वरदानस्वरूप दिव्यदृष्टि प्राप्त है। उसकी सहायता से वह युद्ध के सम्वाददाता की भूमिका अदा करता है। युद्ध के अन्त में उसकी दिव्यदृष्टि स्वयमेव नष्ट हो जाती है। संजय तटस्थ द्रष्टा है। तटस्थ चेतना की नियति रही है कि वह कभी किसी स्थिति का अनुभूतिगत साक्षात्कार नहीं कर सकती। तटस्थ द्रष्टा संजय की भी यही वेदना है –

व्यास ! क्यों मुझको दिव्यदृष्टि दी थी
थोड़ी-सी अवधि के लिए
आज से कभी भी इस सीमित दृश्य जगत् से

मैं तृप्ति नहीं पाऊँगा
सीमाएँ तोड़कर अनन्त में समाहित होने को
प्यासी मेरी आत्मा रहेगी सदा !

'अन्धा युग' में संजय प्रकारान्तर से कवि की निष्क्रिय, निरपेक्ष एवं तटस्थ दृष्टि का प्रतीक है, जो सात्यकि की तलवार के ठण्डे स्पर्श की त्रासमयी अनुभूति, धृतराष्ट्र गान्धारी-कुन्ती के जलने के समय गहन दायित्व की स्थिति में भी अपूर्ण भाषा के संकटबोध के बीच फँसा है–

मैं तो निष्क्रिय, निरपेक्ष सत्य ।
मार नहीं पाता हूँ, बचा नहीं पाता हूँ, कर्म से पृथक्
खोता जाता हूँ, अर्थ अपने अस्तित्व का ।

5.2.4.2. युयुत्सु

'अन्धा युग' में युयुत्सु का चरित्र सबसे दयनीय है। कौरव वंश का होकर भी वह पाण्डव के पक्ष में युद्ध करता है, यह मानकर कि वह सत्य की ओर है । पाण्डवों की विजय के बाद उसका स्वागत कोई नहीं करता । माता गान्धारी व्यंग्य बाणों से उसका स्वागत करती है–

बेटा,
भुजाएँ ये तुम्हारी
पराक्रम भरी
थकी तो नहीं
अपने बन्धुजनों का
वध करते-करते ?
पाण्डव के शिविरों के वैभव के बाद !
तुम्हें अपना नगर तो श्रीहत-सा लगता होगा ?

व्यंग्य, उपेक्षा एवं अपमान उसे तोड़ कर रख देते हैं । सत्य और आदर्शों के प्रति उसमें अनास्था पैदा हो जाती है । वह कह उठता है –

अच्छा होता
यदि मैं कर लेता समझौता
असत्य से

जयदेव तनेजा ने इस चरित्र पर टिप्पणी करते हुए लिखा है – "आस्था के प्रति अनास्था का सबसे गहरा स्वर युयुत्सु है। निश्चित परिपाटी से पृथक् होकर अपना पक्ष आप निर्धारित करनेवाले इस चरित्र में आज के मानव की पीड़ा और यातना साकार हो उठी है ।"

युद्धोपरान्त उपेक्षा भरे जीवन का साक्षात्कार करने पर उसे कटु सत्य का बोध होता है –

अन्तिम परिणति में
दोनों जर्जर करते हैं
पक्ष चाहे सत्य का हो
अथवा असत्य का।

कृष्ण के प्रति युयुत्सु की आस्था पूर्णतः खण्डित हो जाती है। हताश होकर वह आत्मघात कर लेता है। प्रेत बनकर वह फिर उपस्थित होता है। कृष्ण के महिमामय मरण पर उसकी टिप्पणी उसकी गहरी अनास्था को प्रकट करती है –

जीकर वह जीत नहीं पाया अनास्था को
मरने का नाटक रचकर वह चाहता है
बाँधना हमको ...
नैतिकता, मर्यादा, अनासक्ति

5.2.4.3. गान्धारी

गान्धारी नैतिकता, मर्यादा, अनासक्ति, कृष्णार्पण को अन्ध मनोवृत्तियों की संज्ञा देती है, जो सामाजिक रूप को स्वीकारने के लिए झूठे आडम्बर मात्र हैं। मिथ्याडम्बरों से ग्रसित नैतिकतावादी जगत् से गान्धारी को घृणा थी। फलस्वरूप उसने आँखों पर पट्टी बाँधकर अन्धत्व को स्वीकार कर लिया। मनोवैज्ञानिक युग के सिद्धान्त के आधार पर देखें तो गान्धारी अन्तर्मुख प्रेरणा-प्रधान चरित्र है, जिसके लिए वास्तविकता का कोई महत्त्व नहीं होता। अन्धता से ग्रसित पुत्रों के प्रति असीम ममता सीमातीत उत्तेजनशीलता, कटुता के तीव्र आवेश के वशीभूत होकर कृष्ण को घोर शाप देना, तत्पश्चात् संवेदनशील हो आँखों से पश्चात्ताप के आँसू बहाना अन्तर्मुख प्रेरणा-प्रधान चरित्र की विशेषताएँ हैं।

5.2.4.4. धृतराष्ट्र

धृतराष्ट्र अपने रूप में एक ऐसे पात्र को प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित करता है, जिसका चरित्र अन्तर्मुखी संवेदन से निर्मित हुआ है। वस्तुजगत् की सीमाएँ धृतराष्ट्र के लिए उतनी ही थीं जितना वह उस वस्तुजगत् को अपनी वैयक्तिक संवेदन-शक्ति के द्वारा जान सकता था। उसकी नैतिकता किसी बाहरी मापदण्ड पर आधारित नहीं थी। उसकी मांसलता से उत्पन्न कौरव ही उसके लिए अन्तिम सत्य थे। उसकी नैतिकता की सीमाएँ भी कौरवों के अन्दर ही समाहित थीं। उसकी चेतना में जगत् के यथार्थ भी धुँधली रेखाएँ तब उभरती हैं जब सब कुछ समाप्त हो चुका है। प्रारम्भ में भीष्म, द्रोण तथा कृष्ण ने उसे बार-बार चेतावनी दी थी कि मर्यादा मत तोड़ो, क्योंकि –

तोड़ी हुई मर्यादा

कुचले हुए अजगर सी गुंजलिका में
कौरव वंश को लपेटकर
सूखी लकड़ी-सा तोड़ डालेगी।

धृतराष्ट्र सत्य को अनदेखा करते रहे क्योंकि उनकी अन्तर्मुखी संवेदनशीलता बाह्य यथार्थ अथवा सामाजिक मर्यादा को ग्रहण करने में असमर्थ थी।

5.2.4.5. विदुर

विदुर बाह्य जीवन में संजय की अपेक्षा अधिक निर्लिप्त दिखाई देते हैं। कौरव-पक्ष की अनैतिकता और धृतराष्ट्र के विवेकशून्य अन्ध निर्णयों – दोनों को ही प्रहारों की व्यंग्यमय चोटों से उद्वेलित करता हुआ विदुर का वार्तालाप प्रथम अंक में ही अनेक विवादास्पद प्रश्नों को वाणी देकर भी एक तटस्थ द्रष्टा की भाँति उदासीन और निरपेक्ष रहता है। कृष्ण के प्रति माता गान्धारी की आक्रोशमय कटुता भी विदुर को विचलित नहीं कर पाती। उनके मन में रोष के बदले माता गान्धारी के प्रति उदात्त करुणा उपजती है। गान्धारी द्वारा कृष्ण के लिए 'वंचक' शब्द का प्रयोग किए जाने पर विदुर उसे कटु निराशा की प्रतिक्रिया निरूपित करते हैं –

यह कटु निराशा की
उद्धत अनास्था है
क्षमा करो प्रभु!
यह कटु अनास्था भी अपने
चरणों में स्वीकार करो

नीतिकुशल विदुर कौरवों का अनुसरण करते हुए भी पाण्डवों के प्रति अपने अन्दर स्नेहभाव बनाए रखते हैं और कृष्ण के प्रति अपना भक्तिभाव भी अविचलित रखते हैं। यह भारती की कलम का कमाल है कि धृतराष्ट्र का सेवक होते हुए भी विदुर की भूमिका संतुलित रहती है। परिवर्तित जीवन-यथार्थ पर उनकी पैनी निगाह है, तभी तो वे अपने प्रभु को 'निकम्मी धुरी' कह देते हैं, लेकिन उनके संस्कार उन्हें अनास्था की धारा में बहने से रोकते हैं, जिसकी अभिव्यक्ति इन शब्दों में हुई है –

संशय पाप है और पाप मैं करना नहीं चाहता।

5.2.4.6. युधिष्ठिर

युधिष्ठिर का चरित्र दुर्बल रेखाओं से निर्मित है। इच्छा रहते हुए भी भीम द्वारा युयुत्सु को अपमानित करने से न रोक पाना, कुटुम्ब पर नियन्त्रण न रख पाना, प्रहरियों की कटुक्तियाँ आदि उसके निर्बल व्यक्तित्व की ओर संकेत करती है। युधिष्ठिर अपने परिजनों की चारित्रिक व्याख्या देता है, जिसमें उसकी चरम हताशा, निराशा, दुश्चिन्ता के साथ-साथ सर्वव्यापी अन्धकार और ह्रास के संकेत छिपे हुए हैं–

यह है मेरा
ह्रासोन्मुख कुटुम्ब
जिसे कुछ ही वर्षों में बाहर घिरा हुआ
अन्धेरा निगल जाएगा।

युद्ध के उपरान्त आत्मघात की मनोवृत्ति युधिष्ठिर को राज्य-त्याग कर चले जाने को प्रेरित करती है। उनकी विरक्ति एक सीमा-बिन्दु को भी पार कर जाती है। मानसिक अशान्ति से ग्रस्त युधिष्ठिर धृतराष्ट्र आदि की मृत्यु का समाचार पाकर हिमालय में जाकर तप करने की इच्छा प्रकट करते हैं। युधिष्ठिर का क्षोभ भी विकृत मनोवृत्तियों से ग्रसित समाज की ओर संकेत करता है। ह्रासोन्मुख समाज और कुटुम्ब की निम्न मनोवृत्तियों की जैसी सशक्त अभिव्यक्ति 'अन्धा युग' में है, वैसी 'जयभारत' (मैथिलीशरण गुप्त) तथा 'कुरुक्षेत्र' (दिनकर) में नहीं उपलब्ध होती। युधिष्ठिर युद्ध की निस्सारता की अनुभूति से गुजरते हैं –

ऐसे भयानक महायुद्ध को
अर्धसत्य, रक्तपात, हिंसा में जीत कर
अपने को बिलकुल हारा हुआ अनुभव करना
यह भी यातना ही है ...

5.2.4.7. वृद्ध याचक

वृद्ध याचक का चरित्र एक मनस्वी चिन्तक के रूप में उभरता है। वृद्ध याचक का आधा रूप प्रख्यात है और आधा रूप कल्पना के कोमल धागों से रचा गया है। यहाँ भी भारती अपनी बात कहने के लिए इस पात्र को माध्यम बनाते हैं। डॉ॰ रामदरश मिश्र ने इस बात की पुष्टि करते हुए लिखा है – "वास्तव में वृद्ध व याचक कवि की एक कल्पना है – यह और कोई नहीं, कौरवों के भीतर से उपजा हुआ भावी है जो द्वन्द्व में, लड़ाई में उनकी विजय देखता था, लेकिन कौरव हार गए। उनका भविष्य, उनका भावी स्वप्न जीर्ण याचक-सा असत्य सिद्ध होकर उन तक ही लौट आया और फिर यहाँ मारा-मारा फिर रहा है। उस भविष्य ने अपने को वर्तमान से काटकर देखा, स्वप्न ने अपने को यथार्थ से विच्छिन्न करके देखा इसलिए उसकी वाणी मिथ्या सिद्ध हुई।"

अन्त में कवि ने उसको 'जरा' संज्ञा दी है जो श्रीमद्‌भागवत के अनुसार है। इस पात्र के मुख से कवि ने मानव व्यक्तित्वों की विशिष्टता या अपने मानववाद को रखा है –

नियति नहीं है पूर्व निर्धारित
उसको हर क्षण मानव निर्णय बनाता मिटाता है

5.2.4.8. प्रहरी युग्म

प्रहरी युग्म कल्पना की उर्वर शक्ति से रचित ऐसे पात्र हैं जो क्रियाशील तो नहीं है, किन्तु तटस्थ द्रष्टा के रूप में समग्र घटनाक्रम के तारों को उन्होंने अपनी अनुभूतियों के साथ बड़ी गम्भीरता से गूँथा है। एक ओर तो

प्रहरी सामान्यजन या आम आदमी के प्रतिनिधि हैं और दूसरी ओर वे नाटककार की विचारधारा के वाहक हैं। कथा-गायन के माध्यम से जो बातें नाटककार नहीं कह पाता है, उन्हें प्रहरियों के माध्यम से कहता है। उन्हें प्रहरी मात्र मानने में सबसे बड़ी बाधा उनकी भाषा है जो किसी कवि की चिन्तनशीलता एवं संवेदनशीलता से युक्त है। प्रहरी तटस्थ टीकाकार भी लगते हैं। पाँचवे अंक में कथा-गायन की पंक्तियाँ हैं –

अभिषेक युधिष्ठिर का सम्पन्न हुआ,
फिर से पर पा न सकी।
खोयी शोभा कौरव-नगरी

तथा

इस तरह पाण्डव-राज्य हुआ
आरम्भ पुण्यहत, अस्तव्यस्त।

इसी अस्तव्यस्तता और शोभाहीनता की बात प्रहरी भी करते हैं –

इससे तो पहले के ही शासक अच्छे थे
अन्धे थे
... लेकिन शासन तो करते थे
ये तो सन्त ज्ञानी हैं
शासन करेंगे क्यों ?
जानते नहीं हैं ये प्रकृति प्रजाओं की ...
ज्ञान और मर्यादा
उनका क्या करें हम ?

कथा-गायन में बीज रूप में कही गई बातों की प्रहरी तटस्थ टीकाकार की तरह स्पष्ट व्याख्या करते हैं। युयुत्सु प्रहरी के हाथ से भाला छीनकर आत्मघात कर लेता है। इस पर प्रहरी की टिप्पणी है –

अस्त्र रहेंगे तो
उपयोग में आएँगे ही
अब तक वे अस्त्र
दूसरों के लिए उठते थे
अब वे अपने ही विरुद्ध काम आएँगे।

यह तो निःशस्त्रीकरण के समर्थकों की भाषा है जो प्रहरी द्वय के मुख से अस्वाभाविक लगती है।

5.2.4.9. कृपाचार्य, अपंग गूँगा सैनिक, कृतवर्मा, व्यास और बलराम

कृपाचार्य को द्रोणाचार्य की भाँति क्षत्रियोचित ओजदीप्त स्वभाव के रूप में अंकित किया गया है। युद्ध की विभीषिका का जीवित अभिशाप, अपंग गूँगा सैनिक युद्ध की विडम्बना की साक्षात् यातना का, मानवता को एक घायल विक्षिप्त उपहार है। कृतवर्मा वीरोचित मर्यादा का निर्वाह करता है। व्यास, बलराम आदि प्रधान पात्रों के चरित्र विकास में सहायक हैं किन्तु स्वयं में नगण्य हैं। संक्षेप में कहें तो इस नाटक के सभी पात्र मूल्यान्धता के किसी-न-किसी स्तर, रूप या पक्षों के प्रतीक हैं।

5.2.5. 'अन्धा युग' के पात्रों की प्रतीकात्मकता

'अन्धा युग' के अधिकांश पात्र निश्चित ऐतिहासिक चरित्र होते हुए भी विशिष्ट मानसिक प्रवृत्तियों, दृष्टिकोणों एवं अन्तर्ग्रन्थियों के प्रतीक हैं। यह प्रतीकत्व उनके चरित्र की स्वतन्त्रता को नष्ट नहीं करता वरन् उन्हें एक विराट् मानवीय प्रासंगिकता प्रदान करता है, जिसके कारण महाभारत की कथा के एक अंश का पुनर्कथन मात्र न रहकर 'अन्धा युग' मानव-मन के अन्तर्जगत् का महाकाव्य बन गया है।

'अन्धा युग' का सबसे सशक्त पात्र अश्वत्थामा है। साहित्यिक क्षेत्रों में नीत्शे और सार्त्र आदि ने जिस मनुष्य की कल्पना की है, अश्वत्थामा उसी का प्रतीक है। वह राजनैतिक क्षेत्र में अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित युद्धवादियों प्रतिहिंसक प्रशुत्व और युद्ध-लिप्सा तथा महाभारत-युग का व्यक्ति-विशेष न होकर उस सम्पूर्ण वर्ग का प्रतीक है, जिसकी आत्मा ने युद्ध के संत्रास को प्रत्यक्ष झेलकर अचिन्त्य वेदना झेली है। अश्वत्थामा को हम नाजीवादी भावना का प्रतीक भी मान सकते हैं जो मनुष्य के यथार्थ को मान्यता नहीं देता। वह किसी भी यथार्थ, व्यक्ति, देश को पदाक्रान्त कर दलित कर सकता है। वह नास्तिक अस्तित्ववाद के प्रवर्तक फ्रेंच दार्शनिक ज्यां-पॉल सार्त्र की विचारधारा का भी प्रतीक है। सार्त्र ने स्थायी मानव मूल्यों को अस्वीकृत कर व्यक्ति की अबाध किन्तु अस्वाभाविक और अमर्यादित स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया है। डॉ॰ भारती के अनुसार "सार्त्र एक तीव्र संहारकारी अनास्था मात्र है, एक विराटकाय विध्वंसकारी संशय जो सारी स्थापित मर्यादाओं के रूप के मूल्य को नहीं मानता।" अश्वत्थामा मरणोन्मुख संस्कृति का भी पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है। प्रख्यात फ्रेंच अस्तित्ववादी नाटककार गैब्रील मार्सेल पश्चिम की मरणोन्मुख संस्कृति की व्याख्या करते हुए कहते हैं– "हमारी संस्कृति का आन्तरिक मूल्य कुछ नहीं रहा। मनुष्य में आन्तरिक रुग्णता आ गई है। दोनों ओर की सत्ताएँ प्रगति की शत्रु हैं। अतः वे जान-बूझकर मनुष्य की आन्तरिक वैयक्तिकता को रुग्ण और कुण्ठित बना रही हैं।" डूबते हुए अन्धे धृतराष्ट्र की मरणोन्मुख संस्कृति के जलपोत का अश्वत्थामा सशक्त पक्षधर है। अपनी पराजय और पिता की अमानुषिक क्रूर हत्या से विक्षिप्त होकर मानसिक रोगी बन गया है। यहाँ आकर अश्वत्थामा आज के आधुनिक मानव का प्रतीक बन गया है। आज ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं कि मनुष्य के अन्दर पशुत्व उभर आया है।

संजय उस आधुनिक मानव का प्रतीक है जो सचेत, विवेकशील और तटस्थ है। वह अन्धों की अविवेकी साम्राज्यवाद की चक्रव्यूही नगरी में भटककर भी त्राण नहीं पाता और निरन्तर मोहनिशा के भँवर में झूलता

कण्टकित पथ में भटकता फिरता है । वह न परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर सकता है, न उनसे पलायन कर मानसिक शान्ति में जी सकता है ।

युयुत्सु सत्य की त्रासदी का जीता-जागता प्रतीक है । उसे सत्य की ज्योति अपनी ओर खींचती है । वह पाण्डवों को सत्य का पक्षधर मानकर उनकी ओर रहता है । इसका दण्ड उसे अपमान और उपेक्षा के रूप में मिलता है । उसकी आस्था के मानदण्ड कृष्ण शापग्रस्त हो जाते हैं । सबकी उपेक्षा और मर्मान्तक अपमान उसकी आत्मा को छलनी कर देते हैं और वह अनास्था से ऊबकर आत्मघात कर लेता है ।

युधिष्ठिर और धृतराष्ट्र अन्धी शक्ति-उपासना और सम्पूर्ण विश्व पर एकाधित्य की संकीर्ण और स्वार्थ-भावना के प्रतीक हैं । युधिष्ठिर नेतृत्व वर्ग के साथ-साथ पेशेवर राजनीतिज्ञ के भी प्रतीक हैं । उनकी शासन-व्यवस्था में प्रजा (जनता) सुखी नहीं है। युधिष्ठिर उस मनुष्य के प्रतीक भी हैं जो विजय की उल्लासमयी पीड़ा में अन्दर कहीं से खोखले हैं ।

'अन्धा युग' का वृद्ध याचक लेखक की विचारधारा का मूर्धन्य प्रतीक है। वह मानव-भविष्य को शिवम् से अलंकृत करने का उपदेश देता है । लेखक की दृष्टि कोरे भविष्य-कथन तक ही सीमित नहीं, नूतन सर्जना को भी महत्त्व देती है ।

'अन्धा युग' के प्रहरी युग्म दासवृत्ति और आम आदमी के प्रतीक हैं । उनके वार्तालाप इसके प्रमाण हैं –

जैसे हम पहले थे
वैसे ही अब भी हैं ।
शासक बदलते हैं लेकिन
आम आदमी का जीवन
पूर्ववत् अभावग्रस्त रहता है ।

माता गान्धारी अन्ध मनोवृत्तियों का प्रतिनिधि प्रतीक है, जिसकी विचारशीलता में बौद्धिक तर्कों को स्थान नहीं । गान्धारी का चरित्र इस बात का प्रमाण है कि मानव-मन पर अवचेतन की बहुत गहन पकड़ होती है । कृष्ण ब्रह्म नहीं, आधुनिक संशयग्रस्त मानव के प्रतीक हैं, जो सत्य-असत्य का निरपेक्ष वरण नहीं कर सकता, सत्य-असत्य को परिस्थिति सापेक्ष मानकर परिस्थिति के अनुसार कार्य करने लगता है । कृष्ण युद्ध की सारी पीड़ा को अकेले झेलते हैं । कृष्ण के माध्यम से आधुनिक युद्धपीड़ित उस मानव का चित्र उभरता है जो यह मानता है कि कोई भी आदर्श एवं मर्यादा उसका उद्धार नहीं कर सकती। पीड़ा झेलना उसकी नियति है और उसका उद्धार उसके अपने ही हाथों से होगा ।

5.2.6. पाठ-सार

'अन्धा युग' का केन्द्रीय पात्र अश्वत्थामा है । इसके बाद दूसरे महत्त्वपूर्ण पात्र कृष्ण हैं, जिनकी सत्ता पूरे नाटक में व्याप्त है किन्तु उन्हें मंच पर नहीं लाया गया है। प्रायः वंशी-ध्वनि से उनकी उपस्थिति का आभास दिया गया है । 'अन्धा युग' के पात्रों की प्रतीकात्मकता आधुनिक युद्ध पीड़ित मानवता का सम्पूर्ण सत्य हमारे सामने रख देती है । अश्वत्थामा आधुनिक मानव का प्रतीक है, जिसमें परिस्थितियों के कारण पशुत्व उभर आया है। संजय तटस्थ मानव का प्रतीक है, जो दो पाटों के बीच पिसकर पीड़ा झेल रहा है । युयुत्सु सत्य की त्रासदी का जीवन्त उदाहरण है । युधिष्ठिर और धृतराष्ट्र अन्धी शक्ति उपासना एवं एकाधिपत्य की संकीर्ण स्वार्थ भावना के प्रतीक हैं । गान्धारी अन्ध मनोवृत्तियों का प्रतिनिधि प्रतीक है । कृष्ण ब्रह्म नहीं, आधुनिक संशयग्रस्त मानव के प्रतीक हैं, जो परिस्थितियों के अनुसार आचरण करता है । प्रहरी आम आदमी के प्रतीक हैं, जिनकी ओर पीठ फेरकर व्यवस्थाएँ सत्ता के नशे में चूर रहती हैं।

5.2.7. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. इनमें से कौन 'अन्धा युग' के स्वकल्पित पात्र हैं ?

(क) अश्वत्थामा
(ख) विदुर
(ग) प्रहरी युग्म
(घ) कृतवर्मा

2. 'अन्धा युग' में कुल कितने पुरुष पात्रों की भूमिकाएँ हैं ?

(क) दो
(ख) तीन
(ग) पन्द्रह
(घ) दस

3. 'अन्धा युग' का सबसे सशक्त पात्र कौन है ?

(क) संजय
(ख) व्यास
(ग) अश्वत्थामा
(घ) युयुत्सु

4. पाण्डवों के शिविर द्वार पर अश्वत्थामा को कौन दिखा ?

(क) माँ दुर्गा

(ख) भगवान् शंकर

(ग) हनुमान

(घ) भैरव

5. 'गूँगों के सिवा और कौन बोलेगा मेरी जय' किसका कथन है ?

(क) विदुर

(ख) गान्धारी

(ग) धृतराष्ट्र

(घ) संजय

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. मिथकीय आख्यान के पुनर्सृजन का आशय स्पष्ट कीजिए।
2. पुनर्सृजन की उपलब्धि एवं अभाव पर प्रकाश डालिए।
3. प्रहरी द्वय के प्रतीकत्व को स्पष्ट कीजिए।
4. 'अन्धा युग' के गौण पात्रों की विवेचना कीजिए।
5. 'अन्धा युग' के कृष्ण के चरित्र का वैशिष्ट्य बताइए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. 'अन्धा युग' के प्रमुख पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं का विवेचन कीजिए।
2. अश्वत्थामा किन मानवीय प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्वि करता है ? 'अन्धा युग' के आधार पर स्पष्ट कीजिए।
3. 'अन्धा युग' के चरित्रों की प्रतीकात्मकता पर प्रकाश डालिए।
4. " 'महाभारत' पर आधारित 'अन्धा युग' वर्तमान जीवन की त्रासदी का नाटक है।" विवेचना कीजिए।
5. 'यह कथा ज्योति की है, अन्धों के माध्यम से।' 'अन्धा युग' के सन्दर्भ में इसकी मीमांसा कीजिए।

5.1.8. कठिन शब्दावली

स्पष्टवादिता	:	साफ-साफ कहने की आदत
विभूषित करना	:	अलंकृत करना
विद्यमान	:	मौजूद, उपस्थित
अमर्यादित	:	असीमित

5.2.9. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. कुमार, विमल (1956). अत्याधुनिक हिन्दी साहित्य. पराग प्रकाशन : इलाहाबाद.
2. सिंह, कृष्ण (1964). हिन्दी गीतिनाट्य. भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन : दिल्ली.
3. चतुर्वेदी, रामस्वरूप (1960). हिन्दी नवलेखन. भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन : दिल्ली.
4. भारती, धर्मवीर (1969). पश्यन्ति. भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन : दिल्ली.
5. तनेजा, जयदेव (1971). समसामयिक हिन्दी नाटकों में चरित्र सृष्टि.
6. मिश्र, रामदरश (1969). हिन्दी कविता तीन दशक. ज्ञानभारती प्रकाशन : दिल्ली.
7. खेतान, ज्वालाप्रसाद (1961). सृजन के आयाम. विश्वविद्यालय प्रकाशन : गोरखपुर.
8. भारती, धर्मवीर (1960). मानव मूल्य और साहित्य. भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन : दिल्ली.
9. डॉ० सिंह, बच्चन, (1958). हिन्दी नाटक, साहित्य भवन : इलाहाबाद.
10. रस्तोगी, गिरीश, बीसवीं शताब्दी का हिन्दी, नाटक और रंगमंच, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन : नयी दिल्ली.
11. रस्तोगी, गिरीश, हिन्दी नाटक का आत्मसंघर्ष, लोकभारती प्रकाशन : इलाहाबाद.

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 5 : अन्धा युग

इकाई – 3 : नाट्य-शिल्प, प्रयोगधर्मिता और नाट्यभाषा की दृष्टि से नाटक का वैशिष्ट्य

इकाई की रूपरेखा

5.3.0. उद्देश्य कथन
5.3.1. प्रस्तावना
5.3.2. 'अन्धा युग' : काव्य-नाटक या गीति-नाट्य
5.3.3. 'अन्धा युग' नाटक में प्रयोगधर्मिता
5.3.4. नाट्य-भाषा की दृष्टि से 'अन्धा युग' का वैशिष्ट्य
5.3.5. 'अन्धा युग' नाटक : प्रस्तुतीकरण की सम्भावनाएँ
5.3.6. पाठ-सार
5.3.7. बोध प्रश्न
5.3.8. कठिन शब्दावली
5.3.9. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

5.3.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. अन्धा युग के रचनात्मक वैशिष्ट्य को जान सकेंगे।
ii. अन्धा युग की रंग दृष्टि , रंग शिल्प एवं रंग विधान पर बात कर सकेंगे।
iii. अन्धा युग की भाषिक विशेषताओं और संवाद योजना पर बात कर सकेंगे।

5.3.1. प्रस्तावना

पिछली इकाई में हम 'अन्धा युग' की चरित्र-सृष्टि एवं पात्रों की प्रतीकात्मता पर विचार कर चुके हैं। अब हमें देखना है कि यह किस प्रकार का नाटक है। यह काव्य नाटक है या गीतिनाट्य ? दोनों ही दोनों ही स्थितियों में इसके संवाद पद्यात्मक होंगे। भारती नयी कविता के कवि हैं, अतएव उसका प्रभाव इस कृति पर होना स्वाभाविक है। हमें यह भी देखना है कि इसमें प्रयुक्त काव्य-भाषा इसकी अभिनेयता या मंचन में साधक है या बाधक। इन सभी कोणों से हम प्रस्तुत नाटक का अध्ययन करेंगे।

नाटक अपने नाट्य-शिल्प के कारण जाना जाता है। नाटक की रचना उसे मंच पर खेलने के लिए होती है। नाटक और फिल्म में बहुत अन्तर है। फिल्म में सब कुछ दिखाया जा सकता है जबकि नाटक में दृश्य के साथ-साथ सूच्य अंश भी होते हैं । मंच की सीमाओं को ध्यान में रखकर नाटककार को विभिन्न युक्तियों से अपनी बात कहनी होती है। नेपथ्य ध्वनि, प्रकाश व्यवस्था एवं मंच सज्जा आदि का निर्देश कर नाटककार रंगकर्मियों के

समक्ष एक नक्शा रखता है, जिसके अनुरूप वे नाटक को साकार और जीवन्त बनाते हैं। इमारत निर्माण हेतु आर्किटेक्ट इसी प्रकार का ब्ल्यू प्रिंट तैयार करता है, जिसके अनुसार अभियंता ठेकेदारों एवं श्रमिकों से निर्माण कार्य करवाता है। कई तत्त्व मिलकर नाटक के मंचन को सफल बनाते हैं। हम इस इकाई में नाट्य-शिल्प पर विचार करते हुए नाट्य-भाषा और नाटककार की प्रयोगधर्मिता से भी साक्षात्कार करेंगे।

5.3.2. 'अन्धा युग' : काव्य-नाटक या गीति-नाट्य

'अन्धा युग' के नाट्य-शिल्प पर विचार करने के पूर्व हमें इसके संरचनात्मक स्वरूप को निर्धारित कर लेना होगा। काव्य नाटक के अलावा इसके लिए नाट्यकाव्य, गीतिनाट्य, पद्य नाटक आदि अभिधान भी प्रयुक्त किए जाते हैं। लेकिन सर्वथा उपयुक्त अभिधान क्या होगा? सर्वप्रथम हम देखें कि इस कृति के रचयिता के पास इसका क्या उत्तर है। कृति के प्रारम्भ में 'निर्देश' शीर्षक लघु भूमिका में पाँच अभिधान प्रयुक्त हुए हैं –

(i) निर्देश के प्रथम अनुच्छेद में 'दृश्यकाव्य' शब्द का प्रयोग है – "इस दृश्य-काव्य में जिन समस्याओं को उठाया ..."

(ii) चतुर्थ अनुच्छेद में इसे छन्द बदलने वाला 'लम्बा नाटक' कहा है – "लम्बे नाटक में छन्द बदलते रहना आवश्यक प्रतीत हुआ, अन्यथा एकरसता आ जाती।" यहाँ दृश्यकाव्य के बदले 'नाटक' शब्द का प्रयोग है।

(iii) पाँचवे अनुच्छेद में इसे 'गीति-नाट्य' कहा गया है – "वह न केवल इन गीतिनाट्यों वरन् समस्त नयी कविता के प्रभावोत्पादक पाठ की ..."

(iv) छठे अनुच्छेद में इसे 'काव्य' कहा गया है – "मूलतः यह काव्य रंगमंच को दृष्टि में रखकर लिखा गया था।"

(v) इसी अनुच्छेद में इसे 'लोकनाट्य' कहा गया है – "मंच विधान को थोड़ा बदल कर यह खुले मंच वाले लोकनाट्य में भी परिवर्तित किया जा सकता है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वयं रचयिता अपनी कृति के लिए विभिन्न अभिधानों का प्रयोग कर रहा है, जिससे उसके संरचनात्मक स्वरूप को लेकर भ्रम की स्थिति पैदा होती है।

संस्कृत में नाटक को 'दृश्यकाव्य' ही कहा जाता रहा है। आचार्यों ने नये नाट्यरूपों को 'अन्य रूपकानि' या 'गेय रूपकानि' के वर्ग में रखा। इससे ज्ञात होता है कि संस्कृत में गेय रूपक या गीतिनाट्य लिखने की परम्परा रही है। काव्य नाटक का अर्थ 'दृश्य-काव्य' ही होता है। इसमें जुड़ा 'नाटक' शब्द भी इसी ओर इंगित कर रहा है।

प्राचीनकाल में सभी देशों में नाटक पद्यबद्ध होते थे। उनमें गीत-संगीत, नृत्य एवं काव्यत्व का समावेश होता था। प्राचीन ग्रीक नाटक छन्दबद्ध और काव्यत्व प्रधान थे। यूरोप में मध्ययुग तक ऐसे ही नाटक लिखे और खेले जाते रहे। आधुनिककाल में हेनरिक इबसन और जार्ज बर्नार्ड शॉ जैसे नाटककारों ने यथार्थ जीवन का मुद्दा

उठाकर नाटक में पद्य के प्रयोग को अस्वाभाविक बताया। यदि नाटक जीवन की अनुकृति है तो उसमें सब कुछ जीवन जैसा ही होना चाहिए। नाटक में यथार्थवाद ने आकर पद्य को खदेड़ दिया। हिन्दी में जयशंकर प्रसाद के नाटकों में तत्समप्रधान काव्यात्मक भाषा और गीतों की भरमार है। उसकी प्रतिक्रियास्वरूप इबसन और बर्नार्ड शॉ के अनुकरण पर लक्ष्मीनारायण मिश्र ने समस्याप्रधान नाटक लिखे।

पश्चिम में नाटक को लेकर सोच बदली। यह कहा गया कि नाटक को पत्रकारिता और फोटोग्राफी के समकक्ष नहीं रखा जा सकता। उसे यथार्थवाद के कटघरे में बन्द करना ठीक नहीं। काव्य-नाटक को फिर से प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। टी.एस. इलियट जैसे श्रेष्ठ कवियों ने काव्य-नाटक लिखे। उनके 'मर्डर इन कैथेड्रल' ने इंग्लैंड में प्रशंसा प्राप्त की। अन्य विधाओं के समान नाटक में नयी परम्परा अपनाई गई। काव्य-नाटक या गीति-नाट्य के क्षेत्र में नये-नये प्रयोग किए जाने लगे।

काव्य-नाटक और गीति-नाट्य में कोई अन्तर नहीं है। काव्यत्व और दृष्यत्व का संगम काव्य-नाटक कहलाता है। वस्तुतः 'अन्धा युग' ने प्रथम बार काव्य और नाटक के गहन आन्तरिक सम्बन्धों को उद्घाटित करने के साथ-साथ काव्य-नाटक के विकास के क्षेत्र में एक स्वस्थ और नवीन मोड़ उपस्थित किया। रंगमंच की समस्त विशेषताओं, काव्यत्व, नाटकत्व, जीवन से सम्बद्धता, प्रतीकात्मकता, कथा-संगठन, पात्रों के व्यक्तित्व के मार्मिक अंकन गीत-संगीत, छन्द की नवीनता और लय, कथोपकथन की उचित संयोजना, कला की सोद्देश्यता आदि सभी मानदण्डों पर यह एक सशक्त कृति है। गीति-नाट्य का अर्थ गीतों की भरमार नहीं है। इसमें कथागायन छन्दबद्ध है और पात्रों के संवाद नयी कविता के समान मुक्त छन्द में हैं, उदाहरणार्थ –

कथा-गायन –

यह महायुद्ध के अन्तिम दिन की संध्या
है छायी चारों ओर उदासी गहरी
कौरव के महलों का सूना गलियारा
हैं घूम रहे केवल दो बूढ़े प्रहरी

संवाद –

गान्धारी : **जीत गया।**
मेरा पुत्र दुर्योधन
मैंने कहा था
वह जीतेगा निश्चय आज।

काव्य-लेखन में जिसकी गति नहीं ऐसा नाटककार काव्य-नाटक नहीं लिख सकता। 'अन्धा युग' में काव्य ही नहीं, क्रिया व्यापार और घटनाएँ भी हैं। विभिन्न मनोभावों को व्यक्त करने वाले संवाद हैं जो अभिनेता को अभिनय-कला के प्रदर्शन का समुचित अवसर प्रदान करते हैं।

5.3.3. 'अन्धा युग' नाटक में प्रयोगधर्मिता

नाटक उपन्यास की तरह नहीं लिखा जाता। लेखक कथ्य और संवेदना को इस तरह से शब्दबद्ध करता है कि उसे रंगमंच पर प्रस्तुत किया जा सके। प्रस्तुत करने की प्रविधि को नाट्य-शिल्प कहते हैं। नाट्य-शिल्प के अन्तर्गत तीन बातें आती है – रंगदृष्टि, रंगनिर्देश और रंगविधान। कोई भी नाटक कागज पर उतरने के पूर्व नाटककार के मानस पटल पर साकार होता है। इस मानसिक रचना में नाटक के सभी घटक – पात्र, घटनाएँ, संवाद प्रवेश-प्रस्थान, नेपथ्य-ध्वनि, प्रकाश आदि वर्तमान रहते हैं। नाटककार उस सूत्रधार की तरह है जो अपनी इच्छानुसार कठपुतलियों को नचाता है। इस मानसिक क्रिया को रंगदृष्टि कहते हैं। अब नाटककार मानस पटल पर उपजे इस नाटक को कागज पर उतारता है। रंगदृष्टि से नाटक जैसा साकार हुआ है, ठीक उसी प्रकार वह रंगमंच पर भी उतरे इसके लिए वह आलेख या रंगसंहिता में मंचन करने वालों के लिए कोष्टक में आवश्यक सूचनाएँ देता है। इन सूचनाओं को रंग-निर्देश कहा जाता है। इन निर्देशों का पालन करना नाटक खेलनेवालों के लिए अनिवार्य है। इनमें निर्देशक, अभिनेता, तकनीशियन एवं अन्य रंगकर्मी आते हैं। रंगनिर्देश को ही रंगविधान कहा जाता है।

नाट्य-प्रस्तुति की शैली नाटककार द्वारा तय होती है। आलेख में उसका स्पष्ट उल्लेख रहता है। निर्देशक उसके अनुसार नाटक को प्रस्तुत करता है। कुछ निर्देशक नाटककार के निर्देशों के अनुसार चलते हैं। कुछ अपनी ओर से जोड़ते-घटाते हैं। कभी-कभी इससे नाटक की प्रस्तुति अधिक प्रभावशाली हो जाती है।

नाटक की सफल मंचीय अवतारणा नाटककार के रंगमंचीय कौशल पर निर्भर करती है। रंगमंचीय कौशल को रंगशिल्प कह सकते हैं। नाटककार की महत्ता इस बात में होती है कि वह परम्परागत नाट्यशिल्प से हटकर उसमें कितने नये प्रयोग करता है। ऐसे नाटककार प्रयोगधर्मी नाटककार कहलाते हैं। वही प्रयोग सफल होता है जो नाटक की विभिन्न अर्थ छटाओं और गूढ़ व्यंजनाओं को उभारे। नाटककार की कल्पना से निस्सृत आन्तरिक नाटक को मंच पर साकार करने में सहयोग देनेवाले सभी अवयवों को रंगशिल्प में समाविष्ट किया जाता है। नाटक के आलेख में बहुत कुछ अमूर्त, अदृश्य, अश्रव्य होता है। कुशल निर्देशक रंगशिल्प के माध्यम से नाटक के प्रदर्शन में उन्हें मूर्त, दृश्य एवं श्रव्य बनाता है।

दृश्यकाव्य होने के कारण नाटक का उद्देश्य 'कहना' नहीं 'दिखाना' होता है। वह नाटक दोषपूर्ण कहा जाएगा जिसमें दिखायी जानेवाली बातें शब्दों में वर्णित की जाएँ। रंगशिल्प के कुछ ऐसे प्रयोग हैं, जिनके माध्यम से नाटककार 'अपनी बात' कहता है। स्वगत, कथागायन, सूत्रधार आदि ऐसे ही प्रयोग हैं। भारती ने कथागायन के माध्यम से कहने योग्य बातें कही हैं। इसी माध्यम से विशृंखल कथावस्तु और घटनाओं को जोड़ा गया है। समय-समय पर अपनी टिप्पणियाँ भी नाटकार इसी माध्यम से करता है। 'पंख, पहिये और पट्टियाँ' शीर्षक अन्तराल में एक ऐसा ही नूतन प्रयोग है। वृद्ध याचक मंच पर प्रवेश कर स्वगत कथन करता है। अपनी प्रेतशक्ति से वह कथा के प्रवाह को रोककर पात्रों को छाया रूप में मंच पर बुलाता है। वे मंत्र-मुग्ध से वृद्ध याचक के पीछे पंक्तिबद्ध होकर खड़े हो जाते हैं। वे एक-एक कर आगे आते हैं, आत्मपरिचय देकर फिर अपने स्थान पर खड़े हो जाते हैं। इस कुशल योजना के द्वारा नाटकार ने वस्तुविधान के अन्तराल को भरा है। बाद में वृद्ध याचक कृष्ण के

रथ को रोकने का असफल प्रयास करता है। इससे कृष्ण के देवत्व एवं उनकी अलौकिक शक्ति का आभास दिया गया है –

नहीं, उनमें सारे समय की मर्यादा बँध जाती है
बाँध नहीं सकता हूँ उनको मैं!

किसी दृश्य के भीतर अन्तरदृश्य रखने का प्रयोग भी 'अन्धा युग' में मिलता है, जिसे बाद में आनेवाले नाटककारों ने भी अपनाया। तीसरे अंक (अश्वत्थामा का अर्धसत्य) के अन्त में कृतवर्मा कृपाचार्य विश्राम कर रहे हैं। अश्वत्थामा धनुष लिए पहरा दे रहा है। मंच पर अन्धकार हो जाता है। सियारों का रोदन और पशुओं के भयानक स्वर सुनाई पड़ते हैं। कौए और उलूक की मुखाकृति वाले दो शिशु नर्तक मंच पर आकर युद्ध करते हैं और आभास दिया गया है कि उलूक ने कौए को मार डाला है। वह कौए के टूटे पंखों को लिए वधोल्लास का नृत्य करता है। इस अन्तरदृश्य से अश्वत्थामा के अन्तस्तल में पाण्डवों से प्रतिशोध लेने की भावना को जगाना है। पक्षियों के युद्ध से उसे पाण्डवों को नष्ट करने की प्रेरणा मिलती है। अश्वत्थामा कृपाचार्य से कहता है –

मातुल!
सत्य मिल गया
बर्बर अश्वत्थामा को

बाद में लक्ष्मीनारायण लाल (एक सत्य हरिश्चन्द्र), शंकर शेष (एक और द्रोणाचार्य) आदि नाटककारों ने इस प्रकार के प्रयोग किये।

पात्र के रूप में दो प्रहरी और उनके संवाद कथा-गायन की तरह ही क्षेपक का काम करते हैं। एक ओर तो ये प्रहरी आम आदमी का प्रतीक हैं जो जीवन की एकरसता से ऊबे हुए हैं, दूसरी ओर वे ऐसी भाषा में ऐसी बातें कहते हैं जो आम आदमी के स्तर की नहीं हैं। युयुत्सु प्रहरी के हाथ से भाला लेकर आत्मघात कर लेता है। इस पर प्रहरी की टिप्पणी है–

अस्त्र रहेंगे तो
उपयोग में आएँगे ही
अब तक वे अस्त्र
दूसरों के लिए उठते थे
अब वे अपने ही विरुद्ध काम आएँगे।

यह आम आदमी का वक्तव्य न होकर किसी चिन्तक और दार्शनिक की निःशस्त्रीकरण के पक्ष में दी गई दलील है। यह चिन्तक लेखक के सिवा और कोई नहीं है। अर्थात् वे नाटककार की भाषा में नाटककार की सोच को व्यक्त करते रहते हैं।

'कौरव नगरी' शीर्षक वाले पहले अंक में 'प्रकाश कम होने' और 'तेज आँधी की ध्वनि' का निर्देश है। 'अन्धा युग' पहले रेडियो से 'ध्वनि-नाट्य' के रूप में प्रसारित हुआ था। वहाँ प्रकाश का कम-ज्यादा होना नहीं दिखाया जा सकता, हाँ, आँधी की ध्वनि ज़रूर सुनाई जा सकती हैं। 'अन्धा युग' मंचीय नाटक है अतएव अभिनेताओं के लिए सर्वथा उपयुक्त रंग-निर्देश हैं –

[चुप होकर वे आर-पार घूमते हैं। सहसा स्टेज पर प्रकाश धीमा हो जाता है। नेपथ्य से आँधी की सी ध्वनि आती है। एक प्रहरी कान लगाकर सुनता है, दूसरा भौंहों पर हाथ रखकर आकाश की ओर देखता है।]

उपर्युक्त रंग-निर्देश ध्वनि और प्रकाश के समायोजन से सम्बन्धित है। 'कान लगाकर सुनना' और 'भौंहों पर हाथ रखकर आकाश की ओर देखना' स्वाभाविक कायिक अभिनय के लिए अभिनेताओं को दी गई सूचना है। धूल भरी आँधी के कारण क्या सूर्य छिप गया है ? जिज्ञासा और आशंका से ग्रस्त प्रहरी जिसे बादल समझ रहे थे, वे गिद्ध थे, लाखों-करोड़ों गिद्ध जिन्होंने कौरव नगरी का सारा आसमान घेर लिया है। 'प्रहरी दो' का संवाद अदृश्य गिद्धों के बिम्ब को साकार करता है –

झुक जाओ
झुक जाओ
ढालों ने नीचे
छिप जाओ
नरभक्षी हैं
वे गिद्ध भूखे हैं।

'प्रकाश तेज होने' और 'आँधी की ध्वनि कम होने' के निर्देश गिद्धों के आगे बढ़ जाने के सूचक हैं। लेकिन यह घटना अपशकुन के रूप में ली जा रही है और प्रहरियों और विदुर को भय और आशंका से भर देती है। विदुर का संवाद अनिश्चित भावी का संकेत देता है –

मिलूँगा उनसे मैं
अपशकुन भयानक है
पता नहीं संजय
क्या समाचार लाये आज ?

नाटककार मंचीय क्रिया-व्यापार को नियन्त्रित रखता है। इस हेतु वह पात्रों की गति, आवागमन, संवाद-योजना, अभिनय-मुद्रा, क्रिया-व्यापार आदि का बारीक से बारीक विवरण देता है। इसका उदाहरण दूसरे अंक से दिया जा सकता है – 'धीरे-धीरे जाने लगता है', 'वृद्ध की ओर बढ़ने लगता है', 'दाँत पीसते हुए दौड़ता है', 'अश्वत्थामा को पकड़ कर स्टेज पर लाते हैं', 'अश्वत्थामा को बिठा कर उसका कमरबंद ढीला करते हैं' इत्यादि।

'अन्धा युग' में अंक परिवर्तन अथवा दृश्यान्तर के लिए कथा-गायन की पद्धति को भारती ने लोकनाट्य से ग्रहीत किया है। प्रहरियों के संवाद और उसकी नियोजना ग्रीक नाट्य मंच और ग्रीक शैली की याद दिलाते हैं। पात्रों की वेशभूषा के बारे में नाटककार ने कोई संकेत नहीं दिया है। निर्देशक इस सम्बन्ध में उचित निर्णय सकते हैं। कृति के प्रारम्भ में नेपथ्य की उद्घोषणा के क्षणों में नर्तक के द्वारा विभिन्न प्रकार की भाव-मुद्राओं का प्रस्तुत करना इस बात का प्रमाण है कि भारती ने नाटकीय औत्सुक्य की योजना का भी पर्याप्त ध्यान रखा है। 'अन्धा युग' में प्रयोगधर्मिता विद्यमान है। प्रयोग परम्परा में नवीन कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं और नूतन परम्परा का श्रीगणेश करते हैं।

5.3.4. नाट्य-भाषा की दृष्टि से 'अन्धा युग' का वैशिष्ट्य

काव्य-नाटक होने के कारण 'अन्धा युग' की भाषा का काव्यात्मक होना स्वाभाविक है। गद्य में भी काव्यात्मक भाषा का प्रयोग हो सकता है। जयशंकर प्रसाद के नाटकों को उदाहरण के रूप में पेश किया जा सकता है। उनके नाटकों के संवाद तत्समप्रधान एवं काव्यात्मक होने से जनसामान्य की समझ के बाहर हैं। नाटक जनसामान्य के मनोरंजन के लिए भी होता है, इसलिए इसमें भाषा को लेकर मध्यम मार्ग अपनाना ज़रूरी है। 'अन्धा युग' इस निकर्ष पर खरा उतरता है।

नाटक की भाषा दृश्यात्मकता के लक्षण को अपने सामने रखती है। जिन बातों को दिखाना नहीं है, उन्हें कम शब्दों में कह दिया जाता है। स्वगत कथन, नेपथ्य कथन एवं सूच्य संवाद के प्रावधान का यही प्रयोजन है। 'अन्धा युग' में कथा-गायन इसी प्रयोजन की पूर्ति हेतु रखा गया है। पात्रों के चरित्र-चित्रण, उनके मनोभावों की अभिव्यक्ति हेतु संवाद की योजना की जाती है। संवाद भाषा में होते हैं। नाटक में ऐसी स्थितियाँ भी आती है, जब भाषा काम नहीं करती तब अभिनय की भाषा से काम लिया जाता है। इसे 'हरकत की भाषा' कहते हैं। इसे समझने के लिए हमें नाटक से कोई प्रसंग चुनना होगा। दूसरे अंक में वृद्ध याचक 'हर क्षण इतिहास बदलने का क्षण होता है' वाला संवाद बोलते हुए धीरे-धीरे जाने लगता है। वध को अपना धर्म मानने वाला अश्वत्थामा वृद्ध की ओर बढ़ते हुए कहता है –

आज नहीं बच पाएगा
वह इन भूखे पंजों से
ठहरो ! ठहरो !
ओ झूठे भविष्य
वंचक वृद्ध!

ऐसा कहते हुए वह 'दाँत पीसते हुए दौड़ता है। विंग के निकट वृद्ध को दबोच कर नेपथ्य में घसीट ले जाता है।' 'नेपथ्य में गला घोंटने की आवाज उभरती है और अश्वत्थामा का अट्टहास सुनाई देता है।' 'कृपाचार्य, कृतवर्मा हाँफते हुए अश्वत्थामा को पकड़ कर स्टेज पर ले जाते हैं।' कृपाचार्य कहते हैं –

यह क्या किया
अश्वत्थामा
यह क्या किया?

उत्तर में अश्वत्थामा कहता है –

पता नहीं मैंने क्या किया,
मातुल मैंने क्या किया!
क्या मैंने कुछ किया ?

उपर्युक्त प्रसंग पर ध्यान से विचार करें तो दो बातें सामने आती हैं। पहली, अश्वत्थामा ने वृद्ध याचक की नहीं, भविष्य की हत्या की है। दूसरी यह कि अवचेतन ने अश्वत्थामा के चेतन पर आधिपत्य जमा कर उससे हत्या करवायी है। आवेश खत्म होने पर वह समझ ही नहीं पाता कि उसने क्या किया है। इस अवचेतन कर्म का स्पष्टीकरण अश्वत्थामा नाटक के अन्त में प्रभु की मृत्यु के बाद देता है–

मेरा था पाप
किया मैंने वध
किन्तु हाथ मेरे नहीं थे वे
हदय मेरा नहीं था वह
अन्धा युग पैठ गया था मेरी नस-नस में
अन्धी प्रतिहिंसा बन

जो शब्दों में नहीं है वह हरकत की भाषा में है जिसे रंग-निर्देश के रूप में कोष्टक में लेखक ने रखा है। पात्रों को बिना बोले जो करना है, उसका निर्देश है। इससे मानसिक तनाव और अनुभूति की तीव्रता अभिव्यक्त होती है।

कविता की भाषा अनुभूतियों की तीव्रता और गहनता को प्रकट करने में समर्थ होती है। इसलिए काव्य-नाटक का रचयिता मार्मिक प्रसंगों को समाविष्ट करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। इससे दर्शकों का हृदय उद्वेलित होता है। पात्र भी ऐसे प्रसंगों में आन्तरिक आलोड़न-विलोड़न को अभिनय एवं हाव-भावों से प्रकट करते हैं। काव्य-नाटक की भाषा में सरलता, सहज बोधगम्यता, काव्यात्मकता और नाटकीयता के गुण होने चाहिए।

मुक्त छन्द काव्य-नाटक के लिए बहुत उपयुक्त है। इसमें नाटककार पात्रों के भावों के उतार-चढ़ाव के अनुरूप पृथक्-पृथक् लयों में संवाद रचना कर सकता है। भावात्मक स्थितियों के अनुरूप संवाद की लय होनी चाहिए। 'अन्धा युग' के चौथे अंक और प्रथम अंक के कथा-गायन की लय में अन्तर है, क्योंकि दोनों की भावात्मक स्थितियों में अन्तर है –

वे शंकर थे
वे रौद्र-वेशधारी विराट
प्रलयंकर थे
जो शिविर-द्वार पर दीखे
अश्वत्थामा को

अनगिनत विष भरे साँप
भुजाओं पर
बाँधे
वे रोम-रोम में अगणित
महाप्रलय
साधे
जो शिविर द्वार पर दीखे
अश्वत्थामा को

(– चौथा अंक)

टुकड़े-टुकड़े हो बिखर चुकी मर्यादा
उसको दोनों ही पक्षों ने तोड़ा है
पाण्डव ने कुछ कम कौरव ने कुछ ज्यादा
यह रक्तपात अब कब समाप्त होना है

(– पहला अंक)

चौथे अंक में गान्धारी, विदुर और संजय द्वारा भिन्न मानसिकताओं में बोले गए संवादों में अलग-अलग लयात्मकता है। 'अन्धा युग' की भाषा में बिम्ब, प्रतीक, अलंकार और लय आदि का मिश्रण है।

श्री नेमिचन्द्र जैन 'अन्धा युग' की उपलब्धियों में सबसे महत्त्वपूर्ण भाषा को मानते हैं जिसमें बिम्ब प्रधानता और भाव-तीव्रता के साथ बोलचाल की सहजता और प्रवाह है, गति और लय की विविधता है। इसके कारण भी 'अन्धा युग' एक महत्त्वपूर्ण अनुभव का सार्थक भावात्मक वक्तव्य बन सका है।

सहज, सरल, बोधगम्य भाषा का उदाहरण कथा-गायन से प्रस्तुत हैं –

जो सेना रंगबिरंगी ध्वजा उड़ाते
रौंदते हुए धरती को, गगन कँपाते
थी गई युद्ध को अट्ठारह दिन पहले
उसका यह रूप हो गया आते-आते।

प्रहरियों के संक्षिप्त संवाद–

प्रहरी एक : हमने नहीं झेला शोक

प्रहरी दो : जाना नहीं कोई दर्द

प्रहरी एक : जैसे हम पहले थे

प्रहरी दो : वैसे ही अब भी हैं।

भाषा में चित्र-शैली का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है जो पर्याप्त सफल है और कथावृत्त को प्रस्तुत करने में नाट्यगुण को सबलता प्रदान करता है। यथा – भीम द्वारा दुःशासन की छाती से उबलते रक्त को अंजुली से पीना, युधिष्ठिर के अर्धसत्य के कारण अश्वत्थामा के भावों की भ्रूण हत्या, रोगी या मुर्दे के मुख के गन्दे और बासी थूक की तरह जीवित अश्वत्थामा आदि प्रसंग चित्रभाषा के उन्मुक्त प्रयोग लिये दुःख हैं। ये चित्र कथानक की मूल प्रकृति के अनुसार ही प्रायः उद्वेगजनक, बीभत्स या उग्रतामूलक है।

आँखों के कोटर से दोनों साबित गोले
कच्चे आमों की गुठली जैसे उछल गए।

इस उक्ति में इतना भयावह शब्द-चित्र खींचा गया है कि उपमा और रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग भी चित्र की भयावता को कम नहीं कर सका।

'अन्धा युग' की भाषा में कहीं-कहीं काव्यदोष भी लक्षित होते हैं। श्रीकृष्ण के लिए उन्होंने 'वह नील मेघ-सा तन साँवल' प्रयोग किया है, उन्हीं के लिए अन्यत्र

पीपल के दो चंचल पातों की छायाएँ
रह-रह कर उनके कंचनमाथे पर हिलती थीं

तथा

दिव्य शान्ति छायी थी
उनके स्वर्ण मस्तक पर

यहाँ 'कंचनमाथा' और 'स्वर्णमस्तक' का प्रयोग अनौचित्य दोष का उदाहरण है, क्योंकि श्यामवर्ण के शरीर में माथे का रंग स्वर्ण या कंचन जैसा नहीं हो सकता। इसी प्रकार –

फिर चूर-चूर कर दिए
ठोकरों से उसने मर्मस्थल

यहाँ अश्वत्थामा द्वारा धृष्टद्युम्न का वध करते समय संजय की उपर्युक्त उक्ति अश्लीलत्व दोष युक्त है।

शर, शक्ति, प्रास, नाराच गदा सारी।
लो क्रोधित हो अश्वत्थामा ने मारी

अश्वत्थामा द्वारा शिव पर शस्त्र-प्रहार करते समय कवि ने जो शस्त्र-सूची दी है, वह प्रायः पारिभाषिक-सी है और आजकल उपर्युक्त शस्त्रों में से कुछ का प्रयोग न होने से और पाठक के लिए बोधगम्य न होने से अप्रतीत्व दोष लिये हुए है।

विभिन्न स्थानों पर लिंग दोष व वचन दोष व वचन दोष के कारण च्युत संस्कृति दोष है। यथा – 'हलकी सी जमी होगी', में पुल्लिंग 'हलक' शब्द का स्त्री लिंगवत् प्रयोग तथा 'जाने किसकी लोथों पर जा उतरेगा यह नरभक्षी गिद्धों का भूखा बादल' में 'किसकी' के स्थान पर 'किनकी' पद अभीष्ट होने से वचन दोष है।

इसी प्रकार 'यह सब है अन्धी प्रवृत्तियों की पोशाकें', 'जो हैं प्रजायें' और 'तलवों में बाण विंधते ही' में भी वचन दोष है, क्योंकि यहाँ क्रमशः 'यह' के स्थान पर 'ये', 'प्रजायें' के स्थान पर 'प्रजा' और 'तलवों' के स्थान पर 'तलवे' का प्रयोग शब्द व अभीष्ट है। उसी प्रकार –

जाकर अन्धों से
सत्य कहने की
मर्मान्तक पीड़ा है जो
उससे तो वध ज्यादा सुखमय है।

संजय की इस उक्ति में धृतराष्ट्र व गान्धारी के लिए 'अन्धों' शब्द का कटु तिरस्कारयुक्त प्रयोग ग्राम्यत्व दोष से युक्त है। लेकिन ये दोष गुणों की तुलना में नगण्य हैं।

5.3.5. 'अन्धा युग' नाटक : प्रस्तुतीकरण की सम्भावनाएँ

हिन्दी में रंगमंच का विधिवत् विकास न होने के कारण अधिकांश नाटककार अपने एकांकी और नाटक रेडियो के लिए लिखते थे। बाद में उसे रंग-निर्देशों के साथ किंचित परिवर्तित रूप में प्रकाशित करवाते थे। हरेकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि नाटककारों के नाम इस सन्दर्भ में लिए जा सकते हैं। लेकिन धर्मवीर भारती का दावा है कि उन्होंने इस काव्य-नाटक को मूलतः रंगमंच को ध्यान में रखकर लिखा था। निबन्ध-संग्रह 'पश्यन्ती' में उन्होंने इसके रेडियो प्रसारण के बारे में लिखा है – " 'अन्धा युग' की मूल पाण्डुलिपि समस्त मंच-संकेतों के साथ दृश्यकाव्य के रूप में लिखी गई थी। आकाशवाणी के उपयुक्त वह हो सकती है इसका दूर-दूर तक ख्याल नहीं था। एक दिन जब श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने प्रस्तावित किया कि इसे वे आकाशवाणी पर प्रस्तुत करना चाहते हैं और स्वयं इसका निर्देशन करेंगे तो मुझे आश्चर्य हुआ। ... जिस दिन रेडियो पर पहली बार 'अन्धा युग' प्रसारित हुआ, तमाम लोग रेडियो खोले बैठे थे और मैं अपनी साइकिल लिये

अन्धेरी सड़कों पर भटक रहा था। मेरी हिम्मत नहीं थी कि मैं उसका प्रसारण सुनूँ। अगर कहीं नितान्त असफल हुआ तो ? जिन पात्रों और प्रसंगों और संवादों को मैंने ... लेकिन साढ़े ग्यारह बजे रात को पता चला कि 'अन्धा युग' अप्रत्याशित रूप से प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ। ... दूसरे दिन गोपालदासजी के कमरे में बैठकर पूरा रेकॉर्डेड टेप सुना और उस ध्वनि-नाट्य का अश्वत्थामा सारी घृणा को एक नया आयाम देता हुआ लगा। अश्वत्थामा की आवाज ... अपने सधे, गम्भीर, संयमित कँपने वाले स्वर के द्वारा गोपालदास ने अश्वत्थामा की घृणा की जो व्याख्या प्रस्तुत की थी उससे लगा कि अगर अनासक्त युद्ध के दार्शनिक कृष्ण हैं तो अनासक्त विक्षोभ का प्रणेता अश्वत्थामा है।"

'अन्धा युग' की कुछ महत्त्वपूर्ण प्रस्तुतियाँ निम्नलिखित हैं –

(i) दिसंबर 1962, निर्देशक : सत्यदेव दुबे, खुले आँगन में
(ii) 1964, निर्देशक : सत्यदेव दुबे, थिएटर युनिट, मुंबई
(iii) 25 दिसंबर 1964, निर्देशक : सत्यदेव दुबे, 'अनामिका', कोलकत्ता
(iv) 1963, निर्देशक : इब्राहिम अल्काजी, फीरोजशाह कोटला के खण्डहर, दिल्ली
(v) 18 मई 1967, तालकटोरा गार्डन
(vi) 28 अप्रैल से 5 मई 1979 (अनेक प्रदर्शन), पुराना किला, दिल्ली

सत्यदेव दुबे द्वारा निर्देशित एक प्रदर्शन के बारे में भारती ने 'पश्यन्ती' में लिखा है – 'अल्काजी के खुली छतवाले मंच पर सत्यदेव दुबे द्वारा 'अन्धा युग' का बिल्कुल नये ढंग से प्रस्तुतीकरण। छत पर अन्धेरा है, दर्शक सीढ़ीनुमा सीटों पर खामोश बैठे हैं और बहुत हलके आलोक में एक पेड़ के सूखे तने के पास एक काँपता हुआ तीखी झकोर वाला प्रबल स्वर – "मैं क्या करूँगा ? हाय मैं क्या करूँगा ? वर्तमान को जिसमें मैं हूँ और मेरी प्रतिहिंसा हैं ?" और अश्वत्थामा का यह मर्मस्पर्शी स्वर दर्शकों को झकझोर जाता है। और एक के बाद एक प्रसंग – टूटे हुए धनुष के पास बैठा हुआ अश्वत्थामा, वृद्ध याचक की हत्या के प्रयास के बाद उसका कृपाचार्य से पूछना, "मैंने क्या किया मातुल ?" नाटक समाप्त होने के बाद भी जैसे अश्वत्थामा के संवाद अँधेरे में प्रेत की तरह चीत्कार करते छूट जाते हैं।"

सन् 1963 में इब्राहिम अल्काजी द्वारा फीरोजशाह कोटला के खण्डहर में किये गए 'अन्धा युग' के प्रदर्शन पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए देवेन्द्र इस्सर ने लिखा था – "सन् 1963 में दिल्ली के फिरोजशाह कोटला के खण्डहर और प्रकृति के मिले-जुले प्रभाव से रचित रंगमंच पर जब 'अन्धा युग' प्रदर्शित किया गया तो यह आशा प्रबल हो उठी कि शायद हिन्दी में आधुनिक नाटक का सूत्रपात हो उठा है।"

सम्पूर्ण नाटक पहले नाटककार के मानस पटल पर उभरता है और फिर कागज पर उतरकर नाट्यालेख बनता है। नाटककार के द्वारा दिये गए रंग-निर्देशों के अनुसार निर्देशक उसका मंचन करवाता है। प्रतिभाशाली और कल्पनाशील निर्देशक नयी युक्तियों और प्रयोगों का सहारा लेकर नाटक को एक नयी अर्थव्यंजना और

अर्थवत्ता देते हैं। मोहन महर्षि ने मॉरीशस में 'अन्धा युग' के साथ ऐसे ही प्रयोग किए थे। युद्ध के हाहाकार को उन्होंने पार्श्वध्वनि से उभारा और ध्वस्त कौरव सेना को उन्होंने धृतराष्ट्र के हाथों द्वारा अभिव्यक्त किया, ताकि दर्शकों को युद्ध की परिणति का एहसास हो सके। उन्होंने पाँच अंकों को तीन अंकों में समेट कर एक ही सेट पर उसकी प्रस्तुति की। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'अन्धा युग' में प्रस्तुतीकरण की अमित सम्भावनाएँ हैं। इसे लोकनाट्य की विभिन्न शैलियों में भी प्रस्तुत किया जा सकता है।

5.3.6. पाठ-सार

'अन्धा युग' पश्चिम का अनुकरण नहीं है। वह लेखक की प्रतिभा, चिन्तन और कवित्व शक्ति का प्रतिफलन है। इस कृति ने काव्य नाटक के विकास के क्षेत्र में एक स्वस्थ एवं नवीन मोड़ उपस्थित किया है। इसमें छन्दबद्धता और मुक्तछन्द दोनों का प्रयोग किया गया है। इसमें प्रयोगधर्मिता के भी दर्शन होते हैं। दृश्य के अन्दर अन्तर्दृश्य रखना इसी प्रकार का प्रयोग है। कौरव और उलूक की मुखाकृति वाले शिशु नर्तकों को मंच पर लाकर उनके युद्ध एवं कौरव के वध को दिखाकर अश्वत्थामा को पाण्डव-विनाश की प्रेरणा दी गई है। वध, केवल वध उसका धर्म बन जाता है। कथागायक और प्रहरी युग्म भी नाट्यशिल्प के महत्त्वपूर्ण घटक हैं। उनके द्वारा लेखक ने अपनी सोच और टिप्पणियाँ दी हैं। कथा-गायन लोकनाट्य से ली गई युक्ति है। 'अन्धा युग' की भाषा में काव्यात्मकता, सहजता, सरलता और बोधगम्यता का संगम है। 'अन्धा युग' की विभिन्न प्रस्तुतियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि इसमें मंचन की अमित सम्भावनाएँ निहित हैं। इसे लोकनाट्य की विभिन्न शैलियों में भी प्रस्तुत किया जा सकता है।

5.3.7. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. 'अन्धा युग' का प्रारम्भ महाभारत-युद्ध के किस दिन की संध्या से होता है?

(क) पन्द्रहवें
(ख) अट्ठारहवें
(ग) तेरहवें
(घ) बीसवें

2. 'अन्धा युग' के दूसरे अंक में अश्वत्थामा किसकी हत्या करता है ?

(क) गान्धारी
(ख) धृतराष्ट्र
(ग) वृद्ध याचक
(घ) द्रोणाचार्य

3. भारती ने लोकनाट्य से क्या ग्रहण किया है ?

(क) विदूषकी

(ख) लोकनृत्य

(ग) कथागायन

(घ) दुर्बोधता

4. 'प्रकाश कम होना' और 'तेज आँधी की ध्वनि' किसके सूचक हैं ?

(क) वर्षा के आगमन का

(ख) तूफान के आगमन का

(ग) गिद्धों के झुण्डों के आगमन का

(घ) युद्ध प्रारम्भ होने का

5. 'अन्धा युग' का प्रथम प्रसारण कहाँ से हुआ था ?

(क) बी.बी.सी. से

(ख) दूरदर्शन से

(ग) आकाशवाणी से

(घ) रेडियो सीलोन से

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. 'अन्धा युग' के कथा-गायन का महत्त्व और उद्देश्य स्पष्ट कीजिए।
2. 'हरकत की भाषा' का अर्थ स्पष्ट करते हुए 'अन्धा युग' से उसके उदाहरण दीजिए।
3. काव्य-नाटक के लिए मुक्त छन्द की उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।
4. दो प्रहरियों के संवादों की समीक्षा कीजिए।
5. 'अन्धा युग' के रंग-निर्देशों की विशेषताएँ बताइए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. काव्य-नाटक के रूप में 'अन्धा युग' की रचनात्मक विशिष्टता को मूल्यांकित कीजिए।
2. " 'अन्धा युग' के नाट्य-शिल्प में परम्परा एवं प्रयोग का संगम है।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।
3. 'अन्धा युग' की भाषिक विशेषताओं एवं संवाद-योजना की सोदाहरण विवेचना कीजिए।
4. " 'अन्धा युग' के शिल्प का लचीलापन प्रस्तुतीकरण में नये-नये प्रयोगों के द्वारा खोलता है।" इस मत की तर्कसंगत समीक्षा कीजिए।

5. रंगदृष्टि, रंगशिल्प और रंगविधान का आशय स्पष्ट करते हुए 'अन्धा युग' के सन्दर्भ में इनकी भूमिका स्पष्ट कीजिए।

5.3.8. कठिन शब्दावली

प्रयोगधर्मिता	:	प्रयोग की क्षमता
समायोजन	:	ठीक-ठीक मिलाप
लक्षित होना	:	दिखाई पड़ना
प्रावधान	:	व्यवस्था

5.3.9. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. जैन, नेमिचन्द्र, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य, सं. : भटनागर, महेंद्र, 1969, दिल्ली, नवभारती प्रकाशन
2. भारती, धर्मवीर, पश्यन्ती, 1969, दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
3. इस्सर देवेन्द्र, आजकल, जनवरी 1971
4. जैन, नेमिचन्द्र, हिन्दी नाटक एवं रंगमंच नयी दिल्ली, मैकमिलन प्रकाशन
5. सिंह, बच्चन, हिन्दी नाटक, नयी दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन
6. अंकुर, देवेन्द्र राज, दूसरे नाट्यशास्त्र की खोज, नयी दिल्ली, वाणी प्रकाशन

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 5 : अन्धा युग

इकाई – 4 : शीर्षक की सार्थकता एवं 'अन्धा युग' का प्रतिपाद्य

इकाई की रूपरेखा

5.4.00. उद्देश्य कथन
5.4.01. प्रस्तावना
5.4.02. शीर्षक के आधार
5.4.02.1. नायक-नायिका का आधार
5.4.02.2. घटना के आधार पर
5.4.02.3. कृति की मूल संवेदना के आधार पर
5.4.02.4. चौंकाने वाले ध्यानाकर्षक शीर्षक
5.4.02.5. विदेशी कृति से प्रेरित
5.4.02.6. प्रतीकात्मकता के आधार पर
5.4.03. 'अन्धा युग' के शीर्षक का आधार
5.4.04. 'अन्धा युग' के शीर्षक की सार्थकता
5.4.05. 'अन्धा युग' में सांस्कृतिक तत्त्व
5.4.06. प्रतिपाद्य का आशय
5.4.07. 'अन्धा युग' का प्रतिपाद्य
5.4.08. पाठ-सार
5.4.09. बोध प्रश्न
5.4.10. कठिन शब्दावली
5.4.11. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

5.4.00. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. 'अन्धा युग' शीर्षक के आधार के बारे में बता सकेंगे।
ii. 'अन्धा युग' के शीर्षक की सार्थकता पर चर्चा कर सकेंगे।
iii. 'अन्धा युग' के प्रतिपाद्य की विवेचना कर सकेंगे।

5.4.01. प्रस्तावना

भारती का काव्यनाटक 'अन्धा युग' महाभारत युद्ध के अट्ठारहवें दिन की संध्या से लेकर कृष्ण के महाप्रस्थान तक के घटनाचक्र पर आधारित है। महाभारत की युद्धोपरान्त की परिस्थितियाँ एवं द्वितीय महायुद्धोत्तर परिस्थितियों में बहुत साम्य है। वहाँ मर्यादा और नैतिकता को ताक पर रखकर विजय प्राप्त करने का लक्ष्य सिद्ध

किया जाता था। आज की परिस्थितियाँ उससे भी बदतर हैं। वर्चस्व एवं स्वार्थपूर्ति की इच्छा से विकसित राष्ट्रों में कभी भी टकराहट पैदा हो सकती है। विज्ञान के बल पर संचित अस्त्र-शस्त्र सम्पूर्ण मानवता को राख की ढेरी में बदल सकते हैं। इस भीषण विनाश पर रोनेवाला एक भी प्राणी जीवति नहीं बचेगा। स्थिति महाभारत की अपेक्षा अधिक चिन्ताजनक है। इसी आधुनिक परिप्रेक्ष्य में हमने मिथकीय आख्यान के पुनर्सृजन पर विचार किया है। दूसरी इकाई में चरित्र-सृष्टि एवं पात्रों की प्रतीकात्मकता को समझा है। काव्य-नाटक में कथावस्तु के ढाँचे में अन्तर्संघर्ष एवं मनोभावों की व्यंजना अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। तृतीय इकाई में नाट्यशिल्प, प्रयोगधर्मिता एवं नाट्य-भाषा का विधिवत् मूल्यांकन कर कृति के महत्त्व की जाँच-पड़ताल की गई है। इस चौथी इकाई में 'अन्धा युग' के शीर्षक पर विचार करेंगे। हमें देखना है कि यह शीर्षक कहाँ तक सार्थक है। इस शीर्षक से केवल गहन अन्धकार ही ध्वनित होता है कि इसमें कहीं रोशनी की किरण भी छिपी हुई है?

शिशु संसार में पदार्पण करने के पूर्व जननी के गर्भ में विकसित होता है। जन्म लेने के बाद उसका नामकरण संस्कार होता है। उसे एक नाम दे दिया जाता है। यह नाम जननी-जनक की इच्छा-आकांक्षा से उद्भूत होता है। इसी नाम से वह शिशु आजीवन जाना जाता है। यही नाम उसे अन्यों से अलग कर उसकी विशिष्टता को रक्षित करता है। साहित्यिक कृतियों के बारे में भी यही प्रक्रिया लागू होती है। कृतिकार के मानस में बीज रूप में अवतरित हो कृति क्रमशः विकसित होती है। कथा या विचार में ढली वह संवेदना जब भाषा के जरिए कागज पर उतरती है तो वह साहित्यिक कृति कहलाती है। कृतिकार उसे एक नाम देता है जो उसका शीर्षक कहलाता है। पुस्तक रूप में मुद्रित होकर वह पाठकों, अध्येताओं एवं समीक्षकों तक पहुँचती है। जब उसका मूल्यांकन होता है तब किसी मान्य निकर्ष के आधार पर उसकी श्रेष्ठता या महत्त्व का निर्धारण होता है।

रचना का शीर्षक उसकी पहचान है। शीर्षक रखने के कुछ आधार होते हैं। सार्थक शीर्षक कैसा होना चाहिए, यह एक विचारणीय और गम्भीर प्रश्न है। इस पाठ में हम इन्हीं आधारों पर दृष्टिपात कर प्रस्तुत कृति के शीर्षक की सार्थकता पर विचार करेंगे। हर कृति का अपना प्रतिपाद्य होता है। उसके माध्यम से कृतिकार किसी सत्य का साक्षात्कार कराना चाहता है। हमारा लक्ष्य शीर्षक के मर्म का स्पर्श कर उसकी सार्थकता को जाँचना-परखना है। हम कुछ सांस्कृतिक तत्त्वों की भी चर्चा करेंगे जो 'अन्धा युग' में निहित हैं और इसे परम्परा से जोड़ते हैं।

5.4.02. शीर्षक के आधार

शीर्षक किसी भी कृति का अनिवार्य अवयव है। कोई भी रचना शीर्षकविहीन नहीं होती है। उसी से उसकी पहचान होती है। उसी के आधार पर रचना और उसकी वस्तु को याद किया जाता है। लेखक पहले से शीर्षक तय करके रचना नहीं करता। हाँ, एक धुँधली-सी झलक उसके दिमाग में हो सकती है। रचना पूर्ण होने पर भी शीर्षक रखा जाता है। शीर्षक तय करना आसान नहीं होता। रचना की मूल संवेदना या मुख्य प्रतिपाद्य से उसका सम्बद्ध होना आवश्यक है। कुछ लोग पाठक को आकर्षित करने के लिए चौंकाने वाले शीर्षक देते हैं, भले ही वे सार्थक न हों। रचना पढ़ने के बाद यदि पाठक को निराश होना पड़े तो उसे 'खोदा पहाड़ निकली चुहिया' की

कहावत चरितार्थ होती दीख पड़ती है। अनुभवी श्रेष्ठ लेखक इस प्रकार की बचकानी हरकत नहीं करते। वे जानते हैं कि प्रबुद्ध पाठक शीर्षक की सार्थकता को परखना चाहेंगे और तभी उसे श्रेष्ठ लेखक, कथाशिल्पी या कवि के रूप में मान्यता प्रदान करेंगे।

हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं की कृतियों के शीर्षकों पर हम विचार करें तो हमें दीख पड़ेगा कि कृति के नामकरण के विविध आधार हैं। इन आधारों पर हम क्रमशः अपना ध्यान केन्द्रित करेंगें। ये आधार निम्नलिखित हैं –

5.4.02.1. नायक-नायिका का आधार

जिन कृतियों में नायक या नायिका को केन्द्रीय चरित्र के रूप में रखा जाता है, उनके शीर्षक उनके नामों पर आधारित होते हैं। हिन्दी साहित्य के आदिकाल का चन्दबरदाई-कृत महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' शहाब-उद-दीन मुहम्मद ग़ोरी से लोहा लेने वाले वीर नायक पृथ्वीराज चौहान के जीवन की घटनाओं पर आधारित है, अतएव वही शीर्षक का आधार है। प्रेम की पीर के गायक सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी का महाकाव्य 'पद्मावत' नायिका केन्द्रित है। सम्पूर्ण सृष्टि को अपने अपूर्व सौन्दर्य से प्रकाशित करनेवाली पद्मावती परम सत्ता का प्रतीक है। उसे प्राप्त करने के लिए घर-गृहस्थी छोड़ कर योगी बनकर सिंहलगढ़ के लिए प्रस्थान करनेवाला राजा रत्नसेन साधक है। यहाँ शीर्षक नायिकाप्रधान है। सगुण उपासना के रामभक्त धारा के मूर्धन्य कवि गोस्वामी तुलसीदास का महाकाव्य 'रामचरितमानस' नायक श्रीरामचन्द्र पर केन्द्रित है। रामचन्द्र नर और नारायण दोनों भूमिकाएँ निभाते हैं। अन्य पात्र किसी-न-किसी रूप में राम-भक्ति की मर्यादा में बँधे हुए हैं। छायावाद के प्रमुख कवि जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' आधुनिक हिन्दी कविता की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। यह शीर्षक भी नायिका कामायनी (श्रद्धा) के नाम पर है। श्रद्धा इस महाकाव्य की प्रेरक शक्ति है। कामाध्यात्म का सन्देश देने वाले 'दिनकर' का काव्य-नाटक 'उर्वशी' भी नायिका-केन्द्रित है। जयशंकर प्रसाद के नाटकों – 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' के शीर्षक नायक पर आधारित हैं। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की दो कृतियों – 'तुलसीदास' एवं 'सरोजस्मृति' के शीर्षक भी नायक एवं केन्द्रीय नारी चरित्र (कवि की स्वर्गीय बेटी) पर आधारित हैं। प्रथम खण्डकाव्य है एवं द्वितीय शोकनीति। धर्मवीर भारती की दीर्घ कविता 'कनुप्रिया' भी नायिकाप्रधान है। कृष्ण को कनु एवं राधा को कनुप्रिया कहा गया है।

5.4.02.2. घटना के आधार पर

इस प्रकार के शीर्षक किसी घटना के आधार पर दिए जाते हैं। निःस्वार्थ प्रेम की अमर कहानी 'उसने कहा था' का शीर्षक इसी प्रकार का है। पण्डित चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' की इस कहानी में प्रेमी लहनासिंह अपने प्राण देकर भी अपनी प्रेमिका सूबेदारनी को दिये गए वचन का पालन करता है। वचन था – "मेरे पति और बेटे की रक्षा करना।" वे सब युद्ध-भूमि में हैं। जयशंकर प्रसाद की कहानी 'पुरस्कार' में नायिका राजा द्वारा पुरस्कार का प्रस्ताव दिये जाने पर अपने प्रेमी के साथ अपने लिए भी मृत्युदण्ड माँगती है। प्रेमी की राज्यद्रोही गतिविधि की

जानकारी उसी ने राजा को दी थी। 'एक कण्ठ विषपायी' काव्य-नाटक (दुष्यन्तकुमार रचित) का शीर्षक शिव द्वारा विषपान की घटना की स्मृति पर आधारित है। वैसे यह शिव का एक नाम भी है। जैनेन्द्रकुमार का उपन्यास 'त्यागपत्र' बुआ मृणाल एवं उनके जैसी गिरी हुई औरतों के उद्धार हेतु कुछ भी न कर पानेवाले जज प्रमोद का अपने पद से त्यागपत्र देने की घटना पर आधारित है। निराला की 'राम की शक्तिपूजा' कविता रावण से युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए देवी की पूजा की घटना पर आधारित है। एक कमल पुष्प गायब हो जाने पर राम अपना एक नेत्र अर्पित करने को तत्पर हो जाते हैं। फणीश्वरनाथ 'रेणु' की कहानी 'तीसरी कसम उर्फ मारे गये गुलफाम' अशिक्षित गाड़ीवान् हीरामन द्वारा अपनी गाड़ी में भविष्य में किसी नाचनेवाली औरत को न बैठाने की कसम खाने की घटना से सम्बन्धित है। इसके पहले की दो कसमें दो विशिष्ट घटनाओं से सम्बन्धित हैं। कहानी में निश्छल प्रेम वर्णित है। डॉ॰ रामकुमार वर्मा का एकांकी 'औरंगज़ेब की आखिरी रात' में बीमार औरंगज़ेब के जीवन की अन्तिम घड़ियाँ वर्णित हैं, जब वह अपने दुष्कर्मों पर पश्चात्ताप करता है। मोहन राकेश का सफल नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' कालिदास की प्रेमिका मल्लिका के उध्वस्त जीवन की गाथा है। आषाढ़ की वर्षा का एक दिन यहाँ महत्त्वपूर्ण है। मल्लिका ही कालिदास को उज्जयिनी भिजवाती है। कालिदास को पद-प्रतिष्ठा मिली और मल्लिका को टूटे सपनों की किरचें।

5.4.02.3. कृति की मूल संवेदना के आधार पर

कभी-कभी कृति की मूल संवेदना भी शीर्षक का आधार बनती है। जयशंकर प्रसाद का 'आँसू' मुक्तक एवं खण्डकाव्य दोनों है। इसमें प्रणय की वियोगजन्य वेदना से उत्पन्न संवेदना है–

जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति बन छायी।
दुर्दिन में आँसू बनकर यह आज बरसने आयी॥

धर्मवीर भारती के उपन्यास 'गुनाहों का देवता' की मूल संवेदना अशरीरी आदर्शवादी प्रेम से सम्बन्धित है। प्रेम की अव्यावहारिक रोमांटिक धारणा नायक चन्दन को बंदी बनाए हुए है। उससे सच्चा प्रेम करनेवाली सुधा किसी अन्य की पत्नी बनकर अपनी ज़िंदगी बरबाद कर लेती है। चन्दर गुनाहों का देवता बनकर पश्चात्ताप करता है। वैसे यह शीर्षक बहुत आकर्षक और रोमांटिक है। 'मैला आँचल' फणीश्वरनाथ रेणु का बहुचर्चित आंचलिक उपन्यास है। पुस्तक के जैकेट के पिछले भाग में कवि सुमित्रानन्दन पन्त की 'ग्राम्या' संग्रह की एक कविता की पंक्तियों उद्धृत है – 'खेतों में फैला है श्यामल, धूल भरा मैला-सा आँचल।' वस्तुतः रेणु ने इस उपन्यास में गाँवों की जीती-जागती तस्वीर पेश की है। गाँवों की गरीबी, बीमारी तथा पिछड़ापन उनके आँचल को मैला किये हुए हैं। शीर्षक इसी मूल संवेदना से सम्बद्ध है। प्रेमचन्द का 'गोदान' उपन्यास स्वातन्त्र्य-पूर्व काल के गाँव की तस्वीर पेश करता है जब ज़मींदारी प्रथा थी और किसान मजदूर बनने के लिए बाध्य था। धनिया अपने पति की मृत्यु के समय मजदूरी से मिले थोड़े से पैसों से गोदान करती है। जान जा रही है, लेकिन परम्परा-पालन की बान नहीं छूट रही है। 'गोदान' शीर्षक के पीछे यही संवेदना है। गजानन माधव मुक्तिबोध की 'अँधेरे में' कविता विषमता के अँधेरे में कवि के आत्मसंघर्ष का बयान करती है। यहाँ अन्धकार में सत्य की खोज की

संवेदना प्रधान है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का उपन्यास 'गिरती दीवारें' मध्यमवर्गीय मूल्यों के ढहने की संवेदना को उभारता है जो दीवारों के गिरने के बिम्ब से ध्वनित होता है। 'धूमिल' की 'पटकथा' स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय जीवन की फिल्म पेश करने वाली कविता है। फिल्म की पटकथा लिखी जाती है। यहाँ सपनों का उल्लास और उनकी टूटन का दुखद अहसास वर्णित है।

5.4.02.4. चौंकाने वाले ध्यानाकर्षक शीर्षक

कुछ लेखक सार्थकता की चिन्ता किए बिना पाठकों को रचना की ओर खींचने के लिए चौंकानेवाले और ध्यानाकर्षक शीर्षक रखते हैं। प्रयोगवादी नजरिया भी उन्हें ऐसा करने के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार के शीर्षकों के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं – 'एक सड़क सत्तावन गलियाँ' (कमलेश्वर), 'चार दिल चार राहें' (ख़्वाजा अहमद अब्बास), 'रात, चोर और चाँद' (बलवन्तसिंह), 'पचपन खम्भे, लाल दीवारें' (उषा प्रियंवदा), 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' (धर्मवीर भारती)।

5.4.02.5. विदेशी कृति से प्रेरित

धर्मवीर भारती की कविता 'ठण्डा लोहा' की पंक्तियाँ हैं –

ठण्डा लोहा ! ठण्डा लोहा ! ठण्डा लोहा !
मेरी दुखती हुई रगों पर ठण्डा लोहा !
मेरी स्वप्न भरी पलकों पर
मेरे गीत-भरे होठों पर
मेरी दर्द-भरी आत्मा पर
...
एक पर्त ठण्डे लोहे की !

इस कविता के आधार पर ही भारती के प्रथम काव्य-संग्रह का शीर्षक 'ठण्डा लोहा' है। सन् 50 के आसपास हमारे यहाँ अस्तित्ववाद का बड़ा बोलबाला था और 'ठण्डा लोहा' की भावभूमि भी यही है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी उपन्यासकार सार्त्र (Jean-Paul Sartre) के 'आत्मा में लोहा' (Iron in the Soul) नामक उपन्यास के शीर्षक एवं भावभूमि का प्रभाव 'ठण्डा लोहा' के शीर्षक पर दिखाई देता है।

5.4.02.6. प्रतीकात्मकता के आधार पर

साहित्य में प्रतीकात्मकता का बहुत अधिक महत्त्व है। पात्र ही नहीं शीर्षक भी प्रतीकात्मक होते हैं। महात्मा गाँधी के प्रतिरूप अन्धे सूरदास की संघर्षगाथा बयान करनेवाले प्रेमचन्द ने इस संसार को 'रंगभूमि' मानकर अपने उपन्यास को यह शीर्षक दिया है। 'लहरों के राजहंस' (मोहन राकेश) नाटक में नन्द की आसक्ति और अनासक्ति के बीच का मानसिक द्वन्द्व राजहंसों के द्वारा प्रतीकित किया गया है। 'मादा कैक्टस' (नाटक,

लक्ष्मीनारायण लाल), 'ताँबे के कीड़े' (नाटक, भुवनेश्वर), 'शुतुरमुर्ग' (नाटक, ज्ञानदेव अग्निहोत्री), 'काला जल' (उपन्यास, शानी) आदि इसी प्रकार के प्रतीकात्मक शीर्षक हैं।

5.4.03. 'अन्धा युग' के शीर्षक का आधार

भारती के इस काव्य-नाटक का शीर्षक 'अन्धा युग' एक ओर तो प्रतीकात्मक है तो दूसरी ओर वह कृति की मूल संवेदना मूल्यहीनता एवं विश्वव्यापी निराशा से भीसम्बद्ध है। द्वितीय विश्वयुद्ध के लोमहर्षक परिणामों ने राजनीति और साहित्य के आकाश को अन्धकार से आच्छादित कर दिया, विशेषतः पश्चिम के साहित्यकार को द्वितीय महायुद्ध ने ग्रस लिया, जिसका प्रतीक वह 'अन्धा युग' बना। 'अणु बम पर तीन कविताएँ' लिखकर ब्रिटिश कवयित्री और आलोचक एडित सिटवेल ने इसी अन्धे युग की ओर निर्देश किया है। उन्होंने द्वितीय विश्वयुद्ध की मर्मान्तक वेदना को इस प्रकार व्यक्त किया –

अपने हृदय पर खीलों से ठुकी हुई
जैसे सलीब पर चोर
मैं लटक रही हूँ बीचोबीच –
जीसस के और खाई के
जहाँ इस संसार का अन्त हो गया है। ...
... जीवित अन्धे और द्रष्टा मुर्दे
एक साथ जुड़े पड़े हुए हैं
जैसे प्रेमी ...
और न अब नफरत रही है
और न प्रेम है।
लुप्त हो गया है मनुष्य का हृदय।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के उपरान्त पश्चिम में जो साहित्य निर्मित हुआ उसमें विषाद निराशा, दुश्चिन्ता एवं बेचैनी की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। ऊपर उद्धृत सिटवेल की कविता उसका एक उदाहरण है। पश्चिम को हर तरफ अन्धकार, निराशा, अनिश्चय और दिग्भ्रम दिखाई दे रहा था। साहित्य के साथ ही साथ राजनीति में भी अन्धेपन की माया व्याप्त थी। काव्य-नाटक के प्रारम्भ में कथागायन के माध्यम से अन्धे युग की प्रतीकात्मकता को व्यक्त किया गया है –

युद्धोपरान्त,
यह अन्धा युग अवतरित हुआ
जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ, आत्माएँ सब विकृत हैं
है एक बहुत पतली डोरी मर्यादा की
पर वह भी उलझी है दोनों ही पक्षों में
सिर्फ कृष्ण में साहस है सुलझाने का

वह है भविष्य का रक्षक, वह है अनासक्त
पर शेष अधिकतर हैं अन्धे
पथभ्रष्ट, आत्महारा, विगलित
अपने अन्तर की अन्ध गुफाओं के वासी
यह कथा उन्हीं अन्धों की है ...

'अन्धा युग' की कथा भी प्रतीकात्मक है। वह प्रत्येक महासमर के उपरान्त किसी भी युद्ध-संस्कृति, अमानवीय विघटित मूल्यों विकलांग, कुण्ठित और जीर्ण शीर्ण, क्षत-विक्षत घायल तन-मन की कथा की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है।

हमारे देश में स्वातन्त्र्य-युद्ध एक महासमर था लेकिन उसका अन्त कितना दारुण हुआ। हिन्दू-मुस्लिम एकता खण्डित हुई, मर्यादा की डोरी को सुलझाने का प्रयास करने वाले महात्मा गाँधी की एक न चली। मोहम्मद अली जिन्नाह की जिद के कारण देश का विभाजन हुआ और असंख्य निर्दोष लोगों को अपने प्राण गँवाने पड़े। जन-कल्याण के सारे सपने धूल धूसरित हो गए और सत्ता लोलुपता ऊपर उभर आई। स्वाधीनता आन्दोलन के महानायक की हत्या कर दी गई। कोई संकीर्ण और विकृत मानसिकता वाला व्यक्ति 'जरा' बन गया। भारतीय राजनीति में क्रमशः मर्यादा और मूल्यों का लोप हो गया है। अन्धत्व एक मानसिकता है जो सत्य, न्याय और मर्यादा के विपरीत आचरण करने को ही आदर्श मानती है। इसी मानसिकता की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति प्रस्तुत काव्य-नाटक के शीर्षक में है।

5.4.04. 'अन्धा युग' के शीर्षक की सार्थकता

'अन्धा युग' युद्धोपरान्त की दिशाहीन, मूल्यहीन, मरणोन्मुख संस्कृति का काव्य-नाटक है। यहाँ प्रकाश की किरण ढूँढ़ना दुराशा मात्र है। अन्धों के माध्यम से जिस ज्योति की कथा कहने का दावा लेखक करता है, उसके कहीं भी दर्शन नहीं होते। 'अन्धा युग' की विषयवस्तु उसके शीर्षक को सार्थकता प्रदान करती है। नाटक के प्रमुख पात्र अश्वत्थामा और गान्धारी विघटन से त्रसित, निराशा से कुण्ठित, अन्तर्संघर्षों की दावाग्नि से ग्रसित एवं मर्यादाहीन जीवन-धाराओं के प्रतिरूप बनकर इस काव्य-नाटक के पृष्ठों पर अंकित हुए हैं। इस गीतिनाट्य में एक भी सशक्त पात्र ऐसा नहीं है जो भावात्मक जीवन-दृष्टि को उन्मुक्त सशक्तता प्रदान कर आलोक-स्तम्भ खड़ा कर सके। विदुर और संजय तो केवल दर्शक की भूमिका अदा करते हैं। युयुत्सु न्याय का पक्ष लेकर भी अन्त में पश्चात्ताप करता दिखाई देता है। अपनों और परायों में भेद न करनेवाला दोनों पक्षों से उपेक्षा और अपमान ही पाता है और अन्ततः दुःख और निराशा में डूबकर आत्मघात कर लेता है। धर्मराज युधिष्ठिर भी असत्य का साथ देते हैं। महाप्रभु कहे जानेवाले कृष्ण भी मर्यादा-अमर्यादा के भँवर में फँसे हुए अपनी प्रभुता का दुरूपयोग करते हैं।

'अन्धा युग' का केन्द्रीय पात्र अश्वत्थामा है। उसके पिता द्रोणाचार्य का छल-कपट से वध किया गया, जिसके लिए वह कृष्ण और धर्मराज कहे जानेवाले युधिष्ठिर को दोषी मानता है। क्रोध और प्रतिशोध की भावना उसे अन्धा बना देती है। हिंसा और वध के भाव उसे पागल कर देते हैं। इसी मनोदशा में वह वृद्ध याचक की गला

दबाकर हत्या कर देता है। होश में आने पर वह अपने पापकर्म की व्याख्या करते हुए जो कहता है, उसमें 'अन्धा युग' एक व्यापक प्रतीकात्मक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है –

किया मैंने वध
किन्तु हाथ मेरे नहीं थे वे
हदय मेरा नहीं था वह
अन्धा युग पैठ गया था मेरी नस-नस में
अन्धी प्रतिहिंसा बन

'अन्धा युग' काव्य-नाटक की मूल संवेदना, उसकी वस्तु, उसकी प्रतीकात्मकता सभी पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो यह सिद्ध हो जाता है कि इस काव्य-नाटक का शीर्षक सर्वथा उपयुक्त एवं सार्थक है। इसमें युग का यथार्थ अभिव्यक्त है, लेकिन इस यथार्थ को शिव और सुन्दर कैसे बनाया जा सकता है, इसका कोई संकेत नहीं है। यदि ऐसा होता तो इसका शीर्षक परिवर्तित करना पड़ता।

5.4.05. 'अन्धा युग' में सांस्कृतिक तत्त्व

आधुनिकता परम्परा का सम्पूर्ण निषेध नहीं है। वह परम्परा में नया मोड़ लाती है, जैसे पेड़ में एक नयी शाखा फूटे। इस प्रकार आधुनिकता एक नयी परम्परा का सूत्रपात करती है। मानव-जीवन एवं मानव-प्रकृति का यही वैशिष्ट्य है। भारती के 'अन्धा युग' में आधुनिकबोध है, आधुनिक संवेदना है। नाट्य-शिल्प में नये प्रयोग हैं लेकिन परम्परा से पूर्ण विच्छेद नहीं है। हम यहाँ इसमें निहित कुछ सांस्कृतिक तत्त्वों की चर्चा करेंगे जो परम्परा से जुड़ाव का बोध कराते हैं।

महाकाव्य और नाटक का प्रारम्भ ईश-वन्दना से होता रहा है। लोकनाट्यों में भी यह परम्परा अपनायी जाती है। लोकनाट्य-शैली में लिखित मराठी नाटक 'घासीराम कोतवाल' (लेखक – विजय तेंदुलकर) में भी गणेश वन्दना है – 'श्री गणेश नर्तन करी ...।' गोस्वामी तुलसीदास ने अपने महाकाव्य 'रामचरितमानस' का प्रारम्भ गणेश, विष्णु, शिव, गुरु आदि की वन्दना से किया है। जयशंकर प्रसाद ने महाकाव्य 'कामायनी' में इस परम्परा को तोड़ा है और सीधे प्रारम्भ कर दिया है –

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर, बैठ शिला की शीतल छाँह;
एक पुरुष, भीगे नयनों से, देख रहा था प्रलय प्रवाह!

प्रसाद 'कामायनी' में शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन का आधार लेते हैं इसलिए कुछ टीकाकारों ने इन प्रारम्भिक पंक्तियों में 'हिमगिरि' के आने से शिव-स्तुति की व्यंजना माना है। आगे की पंक्तियाँ सर्वत्र व्याप्त परमसत्ता का बोध कराती हैं –

नीचे जल था, ऊपर हिम था, एक तरल था, एक सघन;
एक तत्त्व की ही प्रधानता – कहो उसे जड़ या चेतन।

'अन्धा युग' में शंख-ध्वनि के साथ प्रारम्भ में मंगलाचरण सुनाई देता है–

नारायणम नमस्कृत्यं नरम्चैव नरोत्तमम।
देवीं सरस्वतीं व्यासं तवो जयमुदीयरेत्।

इसके बाद विष्णुपुराण से श्लोक उद्धृत कर नाटक में वर्णित युग का परिचय दिया गया। पहले श्लोक है फिर मुक्त छन्द में उसका अर्थ दिया गया है –

'ततश्चानुदिनमल्पाल्प ह्रास
व्यवच्छेददाद्धर्मार्थयोर्जगतस्संक्षयो भविष्यति।'
उस भविष्य में
धर्म-अर्थ ह्रासोन्मुख होंगे
क्षय होगा धीरे-धीरे सारी धरती का।
'ततश्चार्थ एवाभिजन हेतु।'
सत्ता होगी उनकी।
जिनकी पूँजी होगी।
'कपटवेष धारणमेव महत्त्व हेतु।'
जिनके नकली चेहरे होंगे
केवल उन्हें महत्त्व मिलेगा।
'एवम् चाति लुब्धक राजा
सहाश्शैलानामन्तरद्रोणीः प्रजा संश्रियष्यवन्ति।'
राजशक्तियाँ लोलुप होंगी,
जनता उनसे पीड़ित होकर
गहन गुफाओं में छिप-छिप कर दिन काटेगी।

दर्शक इन पंक्तियों को सुनकर विचार करने लगेगा कि अरे यह नाटक तो परम्परा से जुड़ा है – उसके मन में उत्सुकता जाग जाती है और वह साँस रोके देखने को तैयार हो जाता है कि आगे क्या होनेवाला है।

चौथे अंक में अश्वत्थामा को पाण्डव-शिविर के द्वार पर भगवान् शिव दिखाई देते हैं। शिव के चुनौती देने पर अश्वत्थामा ने विभिन्न शस्त्रों से उन पर आक्रमण किया। शिव अविचलित रहे। अन्ततः अश्वत्थामा शिव की वन्दना करने लगा। वह 'शिवताण्डव स्रोत्र' का पाठ करने लगा। स्रोत्र की प्रारम्भिक पंक्तियाँ ही गायी जाती हैं। नाटक में इससे अधिक के लिए अवकाश भी नहीं है –

जटा कटाह सम्भ्रमन्निलिम्प निर्झरी समा
विलोल वीचि वल्लरी विराजमान मूर्धनि

धगद्धगद्धगज्जवललाट पट्ट पावके
किशोर चन्द्र शेखरे रति प्रतिक्षण मम।

प्रसन्न होकर शिवजी ने अश्वत्थामा को विजयी होने का वरदान दिया। 'शिवताण्डव' शैवोपासकों के लिए परम पूज्य स्तोत्र है जिसे एक विशेष ढंग से गाया जाता है। इसका गायन नाटक में सांस्कृतिक चेतना की लहर पैदा करता है।

'प्रभु की मृत्यु' वाले 'समापन अंक' में नाटककार ने प्रभु की एक मार्मिक वन्दना रखी है। 'प्रभु के करुण रहस्य-मरण' का वर्णन करने के पूर्व परम्परित रूप में शब्दशक्ति प्रदान हेतु उनसे प्रार्थना कर रहा है –

तुम जो हो शब्द-ब्रह्म, अर्थों के परम अर्थ
जिसका आश्रय पाकर वाणी होती ना व्यर्थ
है तुम्हें नमन, है उन्हें नमन
करते आये हैं जो निर्मन मन
सदियों से लीला का गायन
हरि के रहस्यमय जीवन की;
है जरा अलग वह छोटी-सी
मेरी आस्था की पगडंडी
दो मुझे शब्द, दो रसानुभव, दो अलंकरण
मैं चित्रित करूँ तुम्हारा करुण रहस्य-मरण

परम्परित काव्य के रचयिता ईश एवं सरस्वती से रचना की निर्विघ्नपूर्णता एवं सफलता हेतु प्रार्थना करते आये हैं। भारती ने उसी परम्परा का पालन किया है।

गीता में वर्णित कृष्ण के व्यापक रूप को भारती ने 'अन्धा युग' में बनाये रखा है। कृष्ण का निम्नलिखित कथन इसका प्रमाण है –

अट्ठारह दिनों के इस भीषण संग्राम में
कोई नहीं केवल मैं ही मरा हूँ करोड़ों बार
जितनी बार जो भी सैनिक भूमिशायी हुआ
कोई नहीं था
वह मैं ही था
गिरता था घायल होकर जो रणभूमि में।

इसी कथन में गीता की 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' वाली बात भी आ गई है –

मैंने अर्जुन से कहा –
सारे तुम्हारे कर्मों का पाप-पुण्य, योगक्षेम
मैं वहन करूँगा अपने कन्धों पर

प्रहरी-युग्म के वार्तालाप में भी गीता वाली उक्ति को दुहराया गया है –

प्रहरी एक : **जिनको ये सबके सब**
अपना प्रभु कहते हैं

प्रहरी दो : **जो अपने कन्धों पर**
खेनेवाले थे
इनका सब योगक्षेम

गीता में आत्मा की अमरता वाली बात कही गई है। इसे भी कृष्ण के मुँह से कहलाया गया है –

वृद्ध : **बोले अवसन के क्षणों में प्रभु**
"मरण नहीं है ओ व्याध !
मात्र रूपान्तरण है यह
सबका दायित्व निभा लिया मैंने अपने ऊपर
अपना दायित्व सौंप जाता हूँ मैं सबको
अब तक मानव भविष्य को मैं जिलाता था
लेकिन इस अन्धे युग में मेरा एक अंश
निष्क्रिय रहेगा, आत्मघाती रहेगा
और विगलित रहेगा
संजय, युयुत्सु, अश्वत्थामा की भाँति
क्योंकि इनका दायित्व लिया है मैंने !"

इस प्रकार मंगलाचरण, विष्णुपुराण एवं श्रीमद्‌भगवद्‌गीता 'अन्धा युग' में पृष्ठभूमि में उपस्थित रह सांस्कृतिक तत्त्वों से जुड़े रहने की भारती की तीव्र इच्छा का प्रमाण है।

5.4.06. प्रतिपाद्य का आशय

किसी-किसी साहित्यिक कृति पर कभी-कभी देश या समाज का एक वर्गविशेष अपनी भावनाओं को ठेस पहुँचाने का आरोप लगाकर उसे प्रतिबन्धित करने का आन्दोलन छेड़ देता है और शासन को कानून-व्यवस्था को बनाये रखने के लिए उस कृति को प्रतिबन्धित करना पड़ता है। उसके प्रकाशन, विक्रय और पठन-पाठन पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है। दूसरी ओर कुछ ऐसी कृतियाँ भी होती हैं, जिन्हें सराहा जाता है, साहित्य अकादेमी एवं ज्ञानपीठ पुरस्कार से नवाजा जाता है। पुस्तक में ऐसी कौन सी चीज होती है जो परस्पर विरोधी प्रतिक्रियाओं को जन्म देती है। लेखक या रचनाकार मानवीय भावनाओं में गहरी पैठ रखनेवाला बेहद संवदेनशील प्राणी होता

है। समाज जीवन का सूक्ष्म अवलोकन कर वह कथा, काव्य, नाटक आदि की विधाओं के माध्यम से उसका यथार्थ चित्रण प्रस्तुत कर उसकी समस्याओं का कोई हल सुझाता है, अपनी सोच व्यक्त करता है, अपना दृष्टिकोण व्यक्त करता है। इसे उसका जीवन-दर्शन भी कहा जा सकता है। विश्व में अब तक कई दार्शनिक और विचारक हो चुके हैं। गौतम बुद्ध, ईसा मसीह, गाँधी के अतिरिक्त पश्चिम के कार्ल मार्क्स, सिग्मंड फ्रायड, डार्विन, सार्त्र आदि भी अपनी विचारधारा के कारण प्रख्यात हैं। विभिन्न साहित्यकारों ने इनसे प्रेरणा ली है और उनकी कृतियों में उन चिन्तन-धाराओं का प्रभाव है। प्रगतिवाद मार्क्सवाद से परिचालित था। प्रगतिवादी लेखक पूँजी पर आधारित विषमतावादी समाज व्यवस्था की शवपरीक्षा करते हुए क्रान्ति द्वारा व्यवस्था बदलने का सुझाव देता है। जिन देशों में ऐसी क्रान्तियाँ हुईं, वहाँ की व्यवस्थाओं में समानता स्थापित करने के नाम पर तानाशाही कायम हुई और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को महत्त्व देते हुए साहित्यकार विचारों की जकड़बंदी से मुक्त हो अपनी बात कहने में विश्वास करने लगे। इस परिवर्तित दृष्टिकोण से प्रेरित साहित्य को 'नया' कहा जाने लगा और हर विधा को 'नया' विशेषण जोड़ा जाने लगा। अस्तित्ववाद (विशेषतः सार्त्र प्रतिपादित) इसी प्रतिक्रिया की उपज है। सन् 50 के आस-पास लिखनेवाले हिन्दी के गैर-प्रगतिवादी साहित्यकारों पर इसका व्यापक प्रभाव पड़ा। शीघ्र ही वे इस प्रभाव से मुक्त होकर अपना निजी चिन्तन व्यक्त करने लगे। संक्षेप में कहना चाहें तो 'प्रतिपाद्य' वह दृष्टिकोण, सोच या चिन्तन है जो किसी महत्त्वपूर्ण समस्या पर लेखक व्यक्त करता है। यह दृष्टिकोण उस तरह से व्यक्त नहीं होता जिस तरह से ज्ञान के साहित्य में व्यक्त होता है।

ललित साहित्य या शक्ति के साहित्य में अभिव्यक्ति की विधि अलग होती है। वह सोच किसी पात्र या पात्रों के माध्यम से व्यक्त होती है अथवा सम्पूर्ण रचना में रची-बसी रहती है। साहित्य के प्रबुद्ध पाठक को उसे समझने में कोई परेशानी नहीं होती। कथावस्तु का स्रोत कुछ भी हो सकता है – महाभारत, रामायण, उपनिषद्, पुराण कहीं से भी कथानक लिया जा सकता है, लेकिन उसे समकालीन जीवन से जोड़ना होगा। वर्तमान मानव सभ्यता विज्ञान से समन्वित होकर भी संकटों की छाया में साँस ले रही है। आधुनिक जीवन के प्रश्नों के उत्तर शंकराचार्य, वल्लभाचार्य, रामानुजाचार्य के दर्शन में नहीं खोजे जा सकते। डार्विन, मार्क्स, फ्रायड और सार्त्र की चिन्तन-धाराएँ भी आज अपर्याप्त सिद्ध हो रही हैं। आधुनिक साहित्यकार के समक्ष बहुत बड़ी चुनौती है। इस चुनौती से जूझे बिना वह महत्त्वपूर्ण साहित्य की रचना नहीं कर सकता।

5.4.07. 'अन्धा युग' का प्रतिपाद्य

मिथकीय आख्यान का पुनर्सृजन करनेवाले भारती ने क्या 'अन्धा युग' में युद्धजनित विनाश-लीला एवं मानव मूल्यों के ध्वंस से विश्व को बचाने का कोई मार्ग सुझाया है? इस कृति को पढ़कर समाप्त करने के बाद यह यक्षप्रश्न हर प्रबुद्ध पाठक के समक्ष उपस्थित होता है। प्रतिपाद्य पर विचार करते समय हमें इस प्रश्न का उत्तर खोजना होगा।

यही प्रश्न युयुत्सु ने उठाया है–

होती होगी वधिकों की मुक्ति
प्रभु के मरण से
किन्तु रक्षा कैसे होगी अन्धे युग में
मानव-भविष्य की
प्रभु के इस कायर मरण के बाद ?

नाटककार ने 'स्थापना' के अन्तर्गत इस बात का दावा किया है कि 'अन्धा युग' में 'यह कथा ज्योति की है, अन्धों के माध्यम से ।' किन्तु कृतिकार का यह दावा सारपूर्ण नहीं लगता । सुप्रसिद्ध नाट्य-समीक्षक नेमिचन्द्र जैन इस कृति की भाववस्तु में अन्तर्विरोध देखते हैं। नाटक समाप्त करने के उपरान्त हम सोचने लगते हैं कि कहाँ है वह ज्योति की कथा जिसका वादा नाटककार ने प्रारम्भ में किया था । पूरे नाटक में गहरी निराशा, विवशता, मर्यादाहीनता और अनैतिकता का गहरा अन्धकार है। अन्त में वृद्ध याचक एवं कथागायक के द्वारा जो आशावाद प्रकट किया गया है, वह आरोपित लगता है –

पर एक तत्त्व है बीज रूप स्थित मन में
साहस में, स्वतन्त्रता में, नूतन सर्जन में
वह है, निरपेक्ष उतरता है पर जीवन में
दायित्व युक्त, मर्यादित, मुक्त आचरण में

यह समाधान बहुत ही वैयक्तिक और फुसफुसा है। युद्ध हरदम धृतराष्ट्र और दुर्योधन शुरु करते हैं, जिनके हाथों में सत्ता होती है। बुद्धिजीवी, साहित्यकार और आदमी बेबस दर्शक होते हैं, ठीक उन प्रहरियों की तरह जो सदैव एक से रहते हैं –

जैसे हम पहले थे
वैसे ही अब भी हैं।

कृष्ण के माध्यम से कृतिकार ज्योति की जिस कथा को प्रकाशित करना चाहता है, वह सम्पूर्ण गीतिकाव्य का अनिवार्य अंग नहीं बन पाई, इसलिए वह मूल्य-मर्यादा के रोमांटिक पूर्वाग्रह के धुँधलके में दबी हुई है। सम्पूर्ण कृति में लेखक का दृष्टिकोण साफ तौर पर व्यंजित नहीं हो पाता कि इन व्यक्तियों में कौन से मूल्यों का तिरोभाव हुआ, जिससे वे पथभ्रष्ट हुए एवं वह कौन सी मर्यादा है, जिस पर आचरण न करने से महाभारत की विनाशक युद्ध-लीला घटित हुई, जिसमें असंख्य वीर मारे गए। रचना में आदि से अन्त तक कई बार 'मर्यादा' शब्द आया है, लेकिन कहीं भी नाटककार ने न उसका आशय स्पष्ट किया है और न उससे जुड़े जीवन-दर्शन को प्रतिपादित करने का कष्ट उठाया । पद्मावत, रामचरितमानस, साकेत, कामायनी आदि में जिस प्रकार प्रतिपाद्य बहुत स्पष्ट रूप में व्यंजित है, वैसा 'अन्धा युग' में नहीं है और यही इसका सबसे बड़ा अभाव है।

5.4.08. पाठ-सार

रचना के शीर्षक कई आधारों पर रखे जाते हैं। आधार जो भी हो उसे कथावस्तु एवं मूल संवेदना से सम्पृक्त होना चाहिए। 'अन्धा युग' का शीर्षक प्रतीकात्मक है। वह युद्धोत्तर विनाश मूल्यहीनता एवं मानसिक विकृतियों की व्यंजना करने में पूर्णतः समर्थ है। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त पश्चिमी जीवन और साहित्य में निराशा और हताशा की जो भावना पैदा हुई उसकी अभिव्यक्ति 'अन्धा युग' में है। इसके अतिरिक्त वह स्वातन्त्र्योत्तर भारत के राजनैतिक परिदृश्य पर भी रोशनी जलता है। देश का विभाजन, भीषण रक्तपात, गाँधी की हत्या आदि घटनाएँ भारतीय जीवन की त्रासदी को उजागर करती है। भारती की कृति इस ओर भी इंगित करती है। जहाँ तक यथार्थ के चित्रण की बात है, नाटककार पूर्णतः सफल रहा है, लेकिन उसका प्रतिपाद्य रचना में से निस्सृत नहीं होता, ऊपर से लादा हुआ है। 'मूल्य' एवं 'मर्यादा' के प्रति लेखक का रोमांटिक पूर्वाग्रह ज्योति की कथा को कुहासे में लपेट देता है और 'अन्धा युग' केवल अन्धों की कथा बन कर रह गया है।

5.4.09. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. 'अन्धा युग पैठ गया था मेरी नस नस में' किसका कथन है?

(क) गान्धारी
(ख) युधिष्ठिर
(ग) अश्वत्थामा
(घ) दुर्योधन

2. नाटक के प्रारम्भ में किस पुराण के श्लोक उद्धृत हैं?

(क) ब्रह्मवैवर्त पुराण
(ख) शिवपुराण
(ग) विष्णुपुराण
(घ) नारदपुराण

3. अश्वत्थामा शिव की वन्दना में कौन से स्तोत्र का पाठ करता है?

(क) शिवमहिम्न
(ख) शिवताण्डव
(ग) शिवचालीसा
(घ) शंकराचार्य रचित स्तोत्र

4. कृष्ण के महाप्रस्थान को 'कायर मरण' कौन कहता है ?

(क) अश्वत्थामा

(ख) व्याध

(ग) गान्धारी

(घ) युयुत्सु

5. 'अन्धा युग' के पाँचवे अंक का शीर्षक क्या है ?

(क) कौरव नगरी

(ख) प्रभु की मृत्यु

(ग) विजय : एक क्रमिक आत्महत्या

(घ) गान्धारी का शाप

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. रचना के शीर्षक किन आधारों पर रखे जाते हैं ? विवेचना कीजिए।
2. 'अन्धा युग' के स्थान पर और कौन सा शीर्षक उपयुक्त होता ? तर्कसंगत उत्तर दीजिए।
3. अन्धों के माध्यम से ज्योति की कथा देने में लेखक कहाँ तक सफल हुआ है ? विवेचना कीजिए।
4. 'अन्धा युग' में निहित सभ्यता-संकट की विवेचना कीजिए।
5. " 'अन्धा युग' का शीर्षक आधुनिक भावबोध का वहन करता है।" अपना अभिमत दीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. 'अन्धा युग' के शीर्षक की सार्थकता को सतर्क प्रमाणित कीजिए।
2. " 'अन्धा युग' परम्परा की ज़मीन पर खड़ा होकर मानव-नियति का भाष्य करता है।" समीक्षा कीजिए।
3. " 'अन्धा युग' में समस्या का तलस्पर्शी बोध है लेकिन समाधान के नाम पर शून्य है।" इसके पक्ष-विपक्ष में अपना विस्तृत मत लिखिए।
4. 'अन्धा युग' में निहित सांस्कृतिक तत्त्वों की विवेचना कीजिए।
5. 'अन्धा युग' पर पाश्चात्य साहित्य और चिन्तन के प्रभाव का मूल्यांकन कीजिए।

5.4.10. कठिन शब्दावली

प्रतिपाद्य	:	कथ्य, दृष्टिकोण
दावाग्नि	:	जंगल में लगने वाली आग
भाववस्तु	:	सम्वेदना

5.4.11. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. भारती, धर्मवीर, मानव मूल्य और साहित्य, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली.
2. सिंहल, कृष्ण (1964). हिन्दी गीतिनाट्य, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली.
3. वर्मा, धीरेन्द्र, (प्रधान सं.) हिन्दी साहित्य कोश (भाग – 1) ज्ञानमण्डल, वाराणसी.

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖